भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद
उत्तरांचल पृथक राज्य आन्दोलन के विशेष संदर्भ में

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल०उपाधि हेतु

शोध-प्रबन्ध

2002-2003
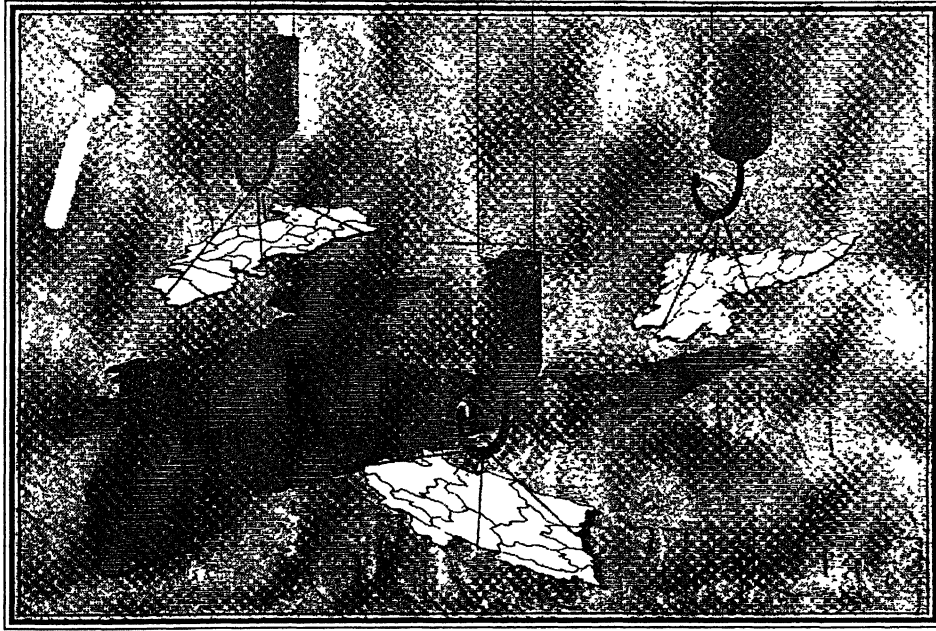
पर्यवेक्षक :
डॉ0 (श्रीमती) कृष्णा गुप्ता
सीनियर रीडर
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता :
बृजेश कुमार गुप्त
अनुसंधान अध्येता
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

या कुन्देन्दु तुषारहार धवला ,या शुभ्र वस्त्रावृता।

या वीणा वर दण्ड मण्डित करा, या श्वेत पद्मासना।।

या ब्रह्माच्युतशंकर प्रभृतिभिः दैवैः सदा वन्दिता ।

सा मा पातु सरस्वती भगवती निः शेष जाड्यापहा ।।

Brajesh Kumar Gupta
J.R.F.
Deptt of Pol. Science

घोषणा–पत्र

मैं घोषणा करता हूँ कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध ''भारतीय राजनीति मे क्षेत्रीयतावाद उत्तरांचल पृथक राज्य अन्दोलन के विशेष संदर्भ में'' डॉ० (श्रीमती) कृष्णा गुप्ता के निर्देशन में किया गया मेरा स्वय का मौलिक कार्य है।

मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि मेरे संज्ञान में इस विश्वविद्यालय या अन्य विश्वविद्यालय में किसी उपाधि हेतु प्रस्तुत किसी कार्य का कोई भाग शोध प्रबन्ध में सम्मिलित नहीं है।

Dt- 28.7.03

शोधकर्ता
B.K. Gupta
(बृजेश कुमार गुप्त)
अनुसंधान अध्येता
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

Dr. Krishna Gupta
Reader

Department of Political Science
Faculty of Social Science
Allahabad University, Allahabad

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **श्री बृजेश कुमार गुप्त** आत्मज **श्री हरिशंकर गुप्त** 27 नवम्बर, 1998 से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में मेरे निर्देशन में शोध छात्र के रूप में पंजीकृत हैं। शोध का विषय है *"भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद : उत्तरांचल पृथक राज्य आन्दोलन के विशेष संदर्भ में।"* शोध कार्य पूर्ण हो चुका है जो मेरे निर्देशन में किया गया एक मौलिक कार्य है। शोध प्रबन्ध का अवलोकन मेरे द्वारा कर लिया गया है। अतः इसे प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान की जाती है।

पर्यवेक्षक :

Krishna Gupta 28.7.03

डॉ0 (श्रीमती) कृष्णा गुप्ता

सीनियर रीडर

राजनीति विज्ञान विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

Political Science Department
University of Allahabad

ईमानदारी, स्वाभिमान तथा धैर्य
के प्रतीक पूजनीय पिताजी
श्री हरि शंकर गुप्त
तथा
निर्मल ममतामयी माताजी
श्रीमति सावित्री देबी गुप्ता
ही मेरे आदर्श तथा मेरे जीवन के प्रेरणास्रोत है।
इन्होनें ही मुझे कठिन–से–कठिन जीवन मे नयी
ऊंचाइयों को छूने एवं निरन्तर सफलता
प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

इस शोध प्रबन्ध के रूप में मेरे लेखन का यह छोटा–सा
प्रयास पिताजी एवं माताजी को
सादर समर्पित है

–बृजेश कुमार गुप्त

आभारोक्ति

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत किये गये शोध कार्य के कुशल निर्देशन का उत्तरदायित्व मेरी श्रद्धेया डॉ० (श्रीमती) कृष्णा गुप्ता, सीनियर रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग ने रूचि लेकर किया। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के इस कार्य में मेरे सामने समय–समय पर विभिन्न समस्याओं को लेकर असमंजस की स्थिति उत्पन्न हुई, किन्तु जो मार्गदर्शन, विवेकदृष्टि, साहस एवं प्रेरणा मुझे अपने शोध प्रबन्ध की निर्देशिका डॉ० (श्रीमती) कृष्णा गुप्ता से मिली, उसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ तथा पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में भी मुझे उनका आर्शीवाद मिलता रहेगा। आपने इस शोध कार्य का न केवल निर्देशन ही किया वरन् समय–समय पर मातृतुल्य स्नेह देकर उत्साहवर्धन भी किया, जिससे मैं इस कार्य को पूर्ण कर सका। आपके सहज एवं गम्भीर प्रश्नों तथा सत्संग ने जीवन में, गहराई में उतरने की प्रेरणा प्रदान की।

मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ० आलोक पन्त का जिनकी ओर से मिलने वाले प्रोत्साहन और सहयोग को मैं उनके अपार स्नेह का प्रतीक समझता हूँ और उस पर मुझे गर्व है।

मैं हृदय से आभारी हूँ सचिव (नियोजन) उत्तरांचल शासन– श्री अमरेन्द्र सिन्हा का जिन्होंने विषयगत सामग्री एवं महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त करने में सहयोग प्रदान किया।

मैं डॉ० के०एन०भट्ट, जी०बी०पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद का भी आभारी हूँ जिन्होंने शोध प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण के संदर्भ में अपना बहुमूल्य मार्गदर्शन प्रदान किया।

मैं अपनी वात्सल्य एवं स्नेहमयी माता श्रीमती सावित्री देवी गुप्ता, पूज्य पिता श्री हरीशंकर गुप्त एवं चाचा श्री कृपा शंकर गुप्त के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ जिनका आर्शीवाद एवं प्रेरणा मेरे सम्पूर्ण अध्ययन मे सहायक सिद्ध हुए। कृतज्ञ हूँ मैं अपने भइया श्री अवधेश कुमार गुप्त एवं श्वसुर श्री शरद कुमार रूसिया के प्रति जिनके स्नेहिल आशीर्वचन एवं उत्साहवर्धन के परिणामस्वरूप मैं अपने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण कर सका। इस कार्य को करने में मेरी जीवन संगिनी श्रीमती रश्मि गुप्ता ने भी मुझे उत्साह एवं सम्बल प्रदान किया, जो मेरे लिये अत्यन्त सुख एवं गर्व का विषय है।

अन्ततः मैं अपने मित्रों श्री प्रमोद कुमार केसरवानी, शोध छात्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, श्री अखिल सिंह (फैजाबाद), श्री घनश्याम (ललितपुर), सर्वश्री दिनेश कुमार धुरिया, के०के० श्रीवास्तव, के०के०सक्सेना एवं बहन कु० रेनू सक्सेना (बाँदा) का भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में समय–समय पर महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

पुनश्चः मैं पी०डी०कम्प्यूटर्स, सिविल लाइन, बाँदा के कम्प्यूटर आपरेटर श्री बिहारी शरण निगम के अथक प्रयास के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने मेरे इस शोध प्रबन्ध को बड़ी ही तल्लीनता के साथ सुव्यवस्थित ढंग से टंकित किया है।

विनयावनत्
B.K. Gupta
(बृजेश कुमार गुप्त)
अनुसंधान अध्येता
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्राक्कथन

भारत में क्षेत्रीयतावाद की समस्या कोई नवीन समस्या नहीं है बल्कि इसकी जड़ें अतीत में काफी गहरी हैं, फिर भी आधुनिक युग में यह समस्या काफी उभरकर हमारे सामने आयी हैं। इसके पीछे अनेक आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक कारण हैं जो क्षेत्रीयतावाद की समस्या को दिन–प्रतिदिन गम्भीर ही बनाते जा रहे हैं। प्रायः क्षेत्रीयता दो प्रकार की होती है– आत्मपरक व वस्तुपरक। आत्मपरक क्षेत्रीयता के तत्व हैं रीति–रिवाज, कला के रूप, भाषा और साहित्य, सामाजिक विरासत, विश्वास, अभिवृत्तियां और मूल्य जो किसी समूह से सम्बन्धित होते हैं। जबकि वस्तुपरक तत्व हैं उस समूह का क्षेत्र तथा क्षेत्रीय व पर्यावरणीय परिवेश। ये दोनो प्रकार क्षेत्रीयतावाद के सूचक हैं।

ब्रिटिश शासन के समय से ही भारत में क्षेत्रीयता उत्पन्न हो गई थी क्योंकि अंग्रेजों ने भारत पर अपना साम्राज्य बनाये रखने हेतु भारतीयों को राष्ट्रीय एकता की अपेक्षा उनमे अपने क्षेत्र की पृथकता की भावना सुदृढ़ की। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् ही नेताओं ने उनमें राष्ट्रीय एकता की चेतना उत्पन्न की। संविधान निर्माताओं ने इसी दृष्टि से संविधान में लोगों को एकल नागरिकता प्रदान की और न्यायपालिका की एकता स्थापित की, अखिल भारतीय लोक सेवा लागू की और केन्द्र की सुदृढ़ता का प्रावधान रखा। किन्तु देश की विशालता व सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण शीघ्र ही क्षेत्रीयता पनपने लगी।

क्षेत्रीयता का प्रथम प्रकटीकरण भाषायी राज्य बनाने की मांग के रूप में उभरा जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण तमिलनाडु में कांग्रेस के ऊपर डी0एम0के0 पार्टी की चुनावों में विजय थी। पंजाब में अकाली आन्दोलन तथा जम्मू कश्मीर में नेशनल कॉफ्रेंस पार्टी का गठन भी क्षेत्रीयता के रूप थे।

पंजाब में प्रारम्भ में पंजाबी सूबे की मांग उठी। कालान्तर में यह खालिस्तान की स्थापना की मांग में विकसित हो गई। जम्मू–कश्मीर में जहाँ कुछ लोग अधिक स्वायत्तता की मांग करते हैं, तो कुछ अलगाववादी तत्वों ने स्वतंत्र राज्य की भी मांग कर डाली। असम में उल्फा (यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम) ने अपने अलगाववादी उद्देश्यों के लिये हिंसा का खूब सहारा लिया है और यह संगठन अभी भी सक्रिय है। गोरखालैण्ड की स्थापना हेतु भी बहुत खून बहाया जा चुका है। मणीपुर में भी अलगाववादी गुट क्षेत्रीयतावाद की चपेट में है। दक्षिण में भी अनेक क्षेत्र अधिक स्वायत्तता की मांग करते हैं। तमिलनाडु में भी अधिक स्वायत्तता के लिये काफी संघर्ष हो चुका है। भाषा के नाम पर तो उनका दृष्टिकोण कुछ अधिक ही संकुचित है। भाषा के आधार पर प्रांतों/राज्यों के पुनर्गठन ने भी क्षेत्रीयतावाद को जन्म दिया।

देश में नित नवीन राज्यों का जन्म होता जा रहा है, आज 16 से 28 राज्य हो गये हैं फिर भी अनेक नवीन राज्यों की स्थापना की मांगें हो रही हैं। इन मांगों के पीछे सक्रिय आन्दोलन भी चल रहे हैं। कुछ लोगों की मांग है कि उत्तर प्रदेश बड़ा राज्य है, अस्तु इसको पाँच भागों में (उत्तरांचल सहित) विभाजित कर दिया जाय। कुछ बुन्देलखण्ड का पृथक क्षेत्र मांग रहे हैं, तो कुछ पश्चिमी

उत्तर प्रदेश के हरित क्षेत्र की मांग कर रहे हैं। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती है बल्कि कुछ जातियों के समुदाय अपने लिये अलग क्षेत्र की मांग कर रहे हैं जैसे– बोड़ो समुदाय बोड़ो राज्य की और नागा समुदाय वृहद नागालैण्ड की मांग कर रहे हैं। उधर तेलंगाना राज्य की मांग चल रही है।

आजाद भारत में राजनीतिक इकाइयों के पुनर्गठन का मसला भारतीय नेताओं को इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही परेशान करता रहा है। स्वतन्त्रता संघर्ष के दिनों में ही कांग्रेस इस समस्या से जूझ रही थी। नौरोजी, तिलक, अरविन्द और गाँधी ने उसी दौरान समय–समय पर क्षेत्रीय संस्कृतियों के महत्व को स्वीकार करने पर बल दिया था। गाँधी जी ने देश को राजनीतिक गतिशीलता प्रदान करने के लिये जो प्रयास किये, उनमें उप–क्षेत्रीय पहचानों को भी पर्याप्त महत्व दिया गया था। वस्तुतः इस सदी के दूसरे दशक से ही कांग्रेस भाषा आधारित प्रान्तों के पक्ष में थी और इसने अपनी इकाइयों का पुनर्गठन भाषाई आधार पर ही किया। अनेक कारणों से कांग्रेस ने सोचा कि इस बहुभाषी देश में प्रशासनिक इकाइयों के पुनर्गठन का सर्वश्रेष्ठ आधार भाषा ही हो सकती है। 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग ने भी इसी विचार का अनुसरण किया। लेकिन भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के पाँच वर्ष के अन्दर ही नेहरू ने बंबई राज्य को मराठी और गुजराती राज्यों में बाँटे जाने का विरोध किया। इससे नेहरू के मस्तिष्क में भाषायी आधार पर राज्यों के गठन की जो परिकल्पना थी, उस पर पुनर्विचार के संकेत मिलते हैं। उन्होंने एक पंजाबी भाषा–भाषी राज्य के तौर पर पंजाबी सूबे के गठन का भी विरोध किया। हालांकि 1966 में जब पंजाब से हरियाणा को अलग किया गया तो वस्तुतः पंजाबी सूबे का गठन हो ही गया। हकीकत यह है कि राज्यों के निर्माण को लेकर आजादी के बाद के वर्षों में छिड़े विवादों के कारण देश में राज्यों के पुनर्गठन के मुख्य उद्देश्य अर्थात् शासन योग्य प्रशासकीय इकाइयों के गठन को ही भुला दिया गया।

अखिल भारतीय चरित्र के दलों के अलावा क्षेत्रवाद पर आधारित अनेक राजनीतिक दल भी बन गये हैं। डी0एम0के0, ए0डी0एम0के0, तेलगूदेशम, केरल कांग्रेस, तमिल मनीला कांग्रेस, अकाली दल आदि अनेक क्षेत्रीय दल भी अस्तित्व में आये। ये सभी दल क्षेत्रीयतावाद के पोषक है। इस परिस्थिति में यहीं प्रश्न उठता है कि क्या भारत की राजनीतिक एकता कायम रह सकेगी, क्या भारत पुनः क्षेत्रों में नहीं बँट जायेगा और क्या ऐसा होकर उसकी शक्ति में ह्रास नहीं होगा? भारत, जो कि एक बहुत लम्बी अवधि के पश्चात् एक समग्र इकाई के रूप में विश्व मानचित्र पर उभरा है और जो एक महाशक्ति बनने की ओर अग्रसर हैं, क्या क्षेत्रीयता की बीमारी से त्रस्त होकर कमजोर तो नहीं हो जायेगा?

इन सबका यही उत्तर है कि सभी सम्भावनायें मौजूद हैं। किन्तु जो चिन्ता की जा रही है उसमें अधिक बल नहीं है। भारत के पास शक्ति है। जो क्षेत्र भारत से अलग होकर स्वतंत्र राज्य की मांग करते है उनको सख्ती से कुचलना ही बेहतर होगा। जो क्षेत्र अधिक स्वायत्तता की मांग करते हैं उन्हें गुण दोष के आधार पर विकेन्द्रीकरण से लाभ पहुँचाना होगा। राष्ट्र को इस प्रकार का नियोजन करना पढ़ेगा कि सभी क्षेत्रों को संतुलित विकास हो। यदि यह रणनीति अपनायी गयी तो भारतीय राजनीति का क्षेत्रीयतावाद वरदान साबित होगा न कि भारत की एकता के लिये खतरा।

प्रयुक्त शब्द संक्षेपाक्षर–

अ.जा.	.	अनुसूचित जाति
अ.ज.जा.	.	अनुसूचित जनजाति
आसू	:	ऑल असम स्टूडेन्ट यूनियन
भा ज.पा.(बी.जे.पी.)	:	भारतीय जनता पार्टी
भा.क पा.(सी.पी.आई)	.	भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी
मा क.पा. (सी.पी.एम.)	:	मार्क्सवादी कम्युनिष्ट पार्टी
ब.स.पा.(बी.एस.पी.)	:	बहुजन समाज पार्टी
द्र.मु.क. (डी.एम.के.)	:	द्रविड़ मुनेत्र कजगम
द्र.क. (डी.के.)	:	द्रविड़ कजगम
कांग्रेस		भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आई)
म.प्र.	:	मध्य प्रदेश
रा ज.ग.	:	राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन
आर.एस.पी.	:	रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी
आई.टी.बी.पी.	:	भारत तिब्बत सीमा पुलिस
स पा.	·	समाजवादी पार्टी
तेदपा	·	तेलगू देशम् पार्टी
यू.जी.सी.	:	यूनीवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन
उ.प्र.	:	उत्तर प्रदेश
उक्रांद	:	उत्तराखण्ड क्रान्ति दल

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय
पृष्ठभूमि,
शोध समस्या का निरूपण
और
शोध प्रबन्ध की प्रासंगिकता

अध्याय–1

पृष्ठभूमि, शोध समस्या का निरूपण और शोध प्रबन्ध की प्रासंगिकता

भारत एक बहुत बडा देश है। भौगोलिक रूप से इसमें अनेक विभिन्नताये हैं। शून्य डिग्री तापमान से लेकर झुलसाने वाली गर्मी यहाँ पड़ती है। पहाड़, नदी, नाले, घाटियाँ, पठार, वन, दलदल, रेगिस्तान आदि सभी प्रकार की भौगोलिक स्थितियां भारत में मिलती हैं। इन विभिन्नताओ ने सांस्कृतिक विभिन्नताओं को जन्म दिया है। अनेक प्रकार के धर्म, रीति–रिवाज, पहनावा, भाषायें, बोलियॉ, नृत्य संगीत, कला एवं साहित्य इस भारत की विशेषतायें हैं। स्वाभाविक है कि इन विभिन्नताओं से जुड़े लोगों की अलग–अलग पहचान हैं और उनकी आशायें और आकांक्षायें भी अलग है। सभी अपनी इस पहचान को बरकरार रखते हुए अपना विकास व उन्नति चाहते हैं। यही क्षेत्रीयतावाद के मूल में है। इस क्षेत्रीयतावाद ने राजनीति को भी बहुत प्रभावित किया है और भारतीय राजनीति में भी इसने अपना स्थान बना लिया है। क्षेत्रवाद एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है परन्तु भारत के संदर्भ में विशिष्ट बात यह है कि यहॉ एक क्षेत्र की राजनीतिक सीमा उस क्षेत्र की सांस्कृतिक और भाषाई सीमा के समानान्तर है। परिणामतः सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक आकांक्षाओं का तथा स्थिति विशेष से असंतुष्ट राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रकटीकृत होती है। ये आकांक्षायें मुख्य रूप से बेहतर आर्थिक प्रास्थिति, राजनीतिक शक्ति, अपेक्षाकृत अधिक सहभागिता के रूप में मुखरित होती रही है। यहाँ तक कि राजनीतिक रूप से अपनी पहचान बनाये रखने के लिये अधिक सहभागिता की ये क्षेत्रीय समूह मांग करते हैं और कभी–कभी तो पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग पर भी उतर आते हैं।

किसी भी लोकतन्त्र में राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्ति की लालसा के आगे सवालिया निशान नहीं खड़ा किया जा सकता। इस चाह के माध्यम से समुदायों के स्वशासन सम्बन्धी अधिकारों के लिये सामाजिक–सांस्कृतिक घटकों द्वारा राजनीतिक आन्दोलन छेड़ा जाना अप्रत्याशित नहीं है। 1956 में राज्यों के पुनर्गठन के समय आशा की गई थी कि यह मसला तय हो गया है, लेकिन उसके बाद भी देश के विभिन्न भागों में जातीय अथवा क्षेत्रीय आधार पर नयें राज्यों के गठन की मांग लगातार उठती रही हैं । सातवें दशक के मध्य से तो और तीव्र हो गई, कभी–कभी तो इन्होंने हिंसक रूप भी धारण कर लिया।

भारत में नौवें दशक से ही स्वायत्तता के बारे में चल रही राजनीतिक बहस में विकास और पहचान पर खास जोर दिया गया। इसकी अभिव्यक्ति झारखण्ड, बोडोलैण्ड और उत्तराखण्ड जैसे आन्दोलनों के माध्यम से होती रही है। स्वायत्तता सम्बन्धी आन्दोलनों के नेताओं ने लोगों को लामबन्द करने के लिये गहरा असर डालने वाले दो मुद्दों का सहारा लिया। एक मुद्दा तो जातीय समूहों की 'पहचान के लोप' से सम्बन्धित था और दूसरा मुद्दा था किसी 'क्षेत्र विशेष का अविकसित' रह जाना अथवा किसी जातीय समूह को कंगाल बना दिया जाना। अल्प विकास और अन्य आर्थिक शिकायतों को ही पजाब और जम्मू–कश्मीर में आतंकवाद और विद्रोह का मुख्य कारण बताया गया। इन दोनो मुद्दों को जितना समर्थन मिला, उससे यह स्पष्ट है कि आर्थिक शिकायतें केवल अनुमान आधारित नहीं, बल्कि वास्तविक थीं।

उत्तरांचल में पिछले दशकों की उथल–पुथल का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि यहाँ की राजनीति अपेक्षाकृत कारणों के अध्ययन की सीमाओं से परे थी जबकि, पिछले कुछ वर्षो में उत्तर प्रदेश राज्य के इन पर्वतीय भागों में राजनैतिक परिस्थितियां काफी तेजी से बदलीं। पृथक राज्य की मांग को जनता द्वारा जोर देकर उठाया गया। महसूस किया गया कि यह आर्थिक अलगाव तथा सदियों से नेतृत्व के जातिगत तथा शोषण की राजनीति का परिणाम था। इस क्षेत्र के संसाधनों का अनवरत दोहन किया जाता रहा। यहाँ विद्रोह का झण्डा प्रथमतः केन्द्रीयता के विरोध में उठाया गया। यह सही था अथवा गलत लेकिन राजनैतिक विकृति का परिणाम था तथा भारी मात्राओं में क्षेत्रीय या उप–क्षेत्रीय शिकायतों का संग्रह था।

इन पर्वतों में उठा यह ताकतवर तथा लोकप्रिय जन आन्दोलन ऐसे अध्ययनों को भी पुकारता है, जो उन प्रश्नों का उत्तर दे जिनके पीछे वे कारण छिपे हैं, जिन्होने 1990 के तीव्र आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया था। मनोवैज्ञानिक राजनैतिक कारण जिन्होंने बड़ी संख्या में लोगों को जिसमें औरतें भी शामिल थीं, सरकारी कर्मचारियों को तथा विद्यार्थियों को जो पर्वतों के दूर–दराज के कोनों में रहते थे, को इस आन्दोलन में शामिल कर लिया। इसकी तीव्रता तथा जन समूह के आगमन का कारण इसके विरोध की प्रकृति अराजनैतिक मुद्दों पर होना थी। राजनैतिक दलों को मूलरूप से विरोध से अलग रखा गया तथा हिंसा को कभी भी स्थापित नहीं किया गया।

केवल इतना ही नहीं, पृथक राज्य की मांग कभी भी केन्द्र विरोधी यहाँ तक की उत्तर प्रदेश विरोधी भावनाओं के रूप में नहीं बदली और न ही कभी किसी कोने से उत्तेजनायें राज्य को कमजोर बनाने के लिये आयीं। उत्तर प्रदेश सरकार का विशेषकर 1994 का दमन जो कि काफी कुख्यात है, ने मैदानों में रहने वाले लोगों की सद्भावनाओं को पर्वतीय उत्तेजनाओं के पक्ष में ला दिया। यह कुछ अस्वाभाविक सा लक्षण था, जिसने आन्दोलन को इतनी तेजी से मानसिक मांग बना दिया। जबकि ज्यादातर ऐसी मांगें जिनमें विदर्भ, तेलगंना तथा गोरखालैण्ड शामिल हैं, इसलिये अनिस्तारित पड़ी हैं क्योंकि संबंधित संरक्षक राज्यों महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल की जनता का समर्थन इन्हें प्राप्त नहीं है। इसके विपरीत उत्तर प्रदेश विधान सभा ने कई अवसरों पर उत्तरांचल पृथक राज्य के लिये प्रस्ताव पारित किया। राज्य की परम्परागत अनिवार्यताओं के अलावा लोगों के लिये यह प्रभावशाली हो जाता है कि इस आन्दोलन की उस अस्वाभाविक प्रगति को देखें जो सामान्य दृष्टि और समझ से परे हैं। जिसने सफलतापूर्वक अपेक्षाकृत एक छोटे समय में सभी तरफ से वांछित समर्थन प्राप्त कर लिया है।

अपनी पहचान सुरक्षित रखने की चाह और शोषण का विरोध–स्वायत्तता प्राप्ति सम्बन्धी हर आन्दोलन के विकास के दो प्रेरक तत्व रहे हैं। इनके माध्यम से इस विश्वास या कम से कम आशा की अभिव्यक्ति होती रही है कि किसी जातीय समूह या क्षेत्रीय समूह को स्वशासन का अधिकार मिल जाने पर विकास हो सकता है। यह विश्वास और आशा न तो पूरी तरह सच है, और न ही पूरी तरह काल्पनिक।

लोकतन्त्र और विकास के बारे में चल रही बहस का कोई निष्कर्ष नहीं निकल सका है। इसलिये इससे भारत में चल रहे उग्र और मुखर स्वायत्तता सम्बन्धी आन्दोलनों का कोई समाधान नहीं मिल सका है। पूरे देश के मात्रात्मक अध्ययन से जहाँ लोकतन्त्र और विकास के बीच सकारात्मक सम्बन्ध स्थापित होते हैं, वहीं इतिहास का गुणात्मक अध्ययन करने पर इन दोनो के बीच एक कमजोर रिश्ता दिखता है। इस प्रश्न का हल ढूंढ़ने में भारतीय अनुभवों से भी कोई मदद नहीं मिलती। विकास के बारे में भारतीय राज्यों के अनुभवों में भिन्नता रही है। उदाहरण के तौर पर महाराष्ट्र, गुजरात तथा बिहार के विकास के स्तरों में प्रत्यक्ष अंतर से विरोधाभाषी संकेत प्राप्त होते हैं। भारत में राज्य तथा उपराज्यीय स्तर पर स्वायत्तता के लिये कोई त्रुटिहीन मानदण्ड प्रस्तुत कर पाना हमेशा ही कठिन रहा है। आजादी के बाद स्थानीय स्वशासन पर भी अयोग्यता और वित्तीय कुप्रबन्ध के आरोप लगते रहे हैं।

संविधान की पांचवी और छठीं सूची के अन्तर्गत स्वायत्त क्षेत्रीय परिषदों का गठन भी विवादों के घेरे में रहा है। पश्चिम बंगाल सरकार और दार्जिलिंग गोरखा परिषद के बीच वित्तीय मामलों और परिषद के क्षेत्र में पंचायत चुनावों को लेकर वाद–विवाद होता रहा है। परिषद के नेताओं का तर्क रहा है कि पचायतों के कारण उनके अधिकार क्षेत्र का ह्रास होता है। लगता है कि बोड़ो स्वायत्त परिषद दम तोड चुकी है। झारखण्ड स्वायत्त क्षेत्र परिषद का भी शायद ऐसा ही हश्र होता, लेकिन भाजपा के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार द्वारा उत्तरांचल, झारखण्ड और छत्तीसगढ नामक नयें राज्यों के गठन से वहॉ का परिदृश्य इस समय बदल चुका है।

उत्तरांचल, छत्तीसगढ और झारखण्ड राज्य बन जाने के बाद कुछ और नये राज्यों की मांग एक बार फिर तेज होने लगी है। बोडोलैण्ड, गोरखालैण्ड, तेलंगना, सौराष्ट्र, विदर्भ, कुर्ग, हरित प्रदेश, बुन्देलखण्ड ... यह सूची बहुत लम्बी है। पूर्व लोकसभाध्यक्ष और राष्ट्रवादी कांग्रेस के वरिष्ठ नेता पी0ए0 संगमा का कहना है कि एक नया राज्य पुनर्गठन आयोग बनना चाहियें जो इस मामलें में नये सिरे से गौर करें। वे कहते हैं कि "सांस्कृतिक और विकास की जरूरतों के हिसाब से और नये राज्य बनानें में हिचकना नहीं चाहिये। नये राज्यों से लोकतन्त्र और मजबूत होगा। यदि नयें राज्यों की मांग को दबायेंगे तो इसका नकारात्मक असर ही होगा। जब अमेरिका में 50 राज्य हो सकते हैं तो भारत जैसे एक अरब आबादी वाले देश में राज्यों की संख्या बढ़ क्यों नहीं सकती हैं।"[1]

उत्तर प्रदेश के और हिस्से करने की मांग भी तेज हो सकती है। बुन्देलखण्ड व पूर्वांचल की मांग पहले से ही उठती रही है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश को हरित प्रदेश के रूप में गठित करने की मांग को लेकर राष्ट्रीय लोकदल के प्रमुख अजीत सिंह अपना आन्दोलन तेज कर चुके हैं। उनका कहना है कि "उत्तरांचल तो एक शुरूआत भर है। केन्द्र ने सहजता से हमारी बात नहीं सुनी तो लोग हरित प्रदेश के लिये झारखण्ड जैसा झंझावती आन्दोलन भी खड़ा कर देंगे।"[2] बोड़ों नेताओं ने घोषणा कर दी है कि अब उन्हें कोई बोडोलैण्ड पाने से रोक नहीं सकता। बोड़ो नेता और लोकसभा सदस्य एस0के0 विस्वमूथियरी का कहना है कि केन्द्र सरकार ने बोतल से जिन्न आजाद कर दिया है और अब

हम बोडोलैण्ड लेकर रहेंगे। सुखद बात यह है कि केन्द्र सरकार ने समय रहते इस समस्या पर ध्यान दिया और इसके समाधान की दिशा में ठोस कदम उठाते हुए 10 फरवरी, 2003 को असम सरकार और बोडों लिबरेशन टाइगर्स (बी.एल.टी.) के साथ एक त्रिपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के तहत बोडोलैण्ड क्षेत्रीय परिषद के गठन का रास्ता साफ हो गया है और पृथक बोड़ोलैण्ड राज्य की मांग को लेकर 15 वर्ष से चल रहे संघर्ष के समाप्त हो जाने की उम्मीद बनी है। गोरखा नेशनल लिबरेशन फ्रण्ट के नेता सुभाषा घीसिग ने अलग गोरखालैण्ड की मांग उठानी शुरू कर दी है। अगस्त, 2000 में दिल्ली में आयोजित एक प्रेस कान्फ्रेंस में बोडो नेताओं ने गोरखालैण्ड, तेलंगना, विदर्भ, बुन्देलखण्ड, कुर्ग व सौराष्ट्र समेत 10 नये राज्यों के गठन की बात कही।

महाराष्ट्र में विदर्भ की मांग बहुत पुरानी है। यह आन्दोलन पिछले कुछ वर्षों में ठण्डा रहा है, लेकिन तीन राज्यों के गठन के बाद विदर्भ में राजनीतिक गतिविधियाँ तेज होने लगी हैं। राष्ट्रवादी कांग्रेस और कांग्रेस के स्थानीय नेताओं ने दबाव बढ़ा दिया है। भाजपा पहले से ही इस मांग की समर्थक रही है। विदर्भ के साथ ही अलग आन्ध्र प्रदेश मे तेलंगना का आन्दोलन फिर करवट लेने लगा है। हालांकि आन्ध्र के मुख्यमंत्री चन्द्र बाबू नायडू इस मांग के एकदम खिलाफ हैं। नायडू नहीं चाहते कि देश में अब और नये राज्य बनें। वे इन तीन नये राज्यों के गठन के खिलाफ भी रहें हैं।

अब थोड़ा इतिहास पर भी नजर डालें कि यह प्रक्रिया शुरू कहां से हुई। जब देश आजाद हुआ तो उस समय देश में 562 रियासतें थी। तत्कालीन गृहमंत्री सरदार पटेल ने इन रियासतों को एक सूत्र में पिरोने का काम किया था। एकीकरण की यह प्रक्रिया तब उल्टी मुडी जब पंजाब को तीन हिस्सों– हरियाणा, हिमाचल प्रदेश व पंजाब मे; बम्बई को दो हिस्सो– गुजरात व महाराष्ट्र में और असम को सात हिस्सों–असम, मेघालय, नागालैण्ड, मिजोरम, अरूणाचल प्रदेश, त्रिपुरा व मणिपुर में बांटा गया। उस समय भी तर्क यही था कि छोटे राज्य होने से वहां के लोगों की आकांक्षाओं को पूरा करने में मदद मिलेगी और सक्षम प्रशासन दिया जा सकेगा। उत्तरांचल, झारखण्ड व छत्तीसगढ़ के गठन के पीछे भी यही तर्क काम कर रहा हैं और यही तर्क अब दूसरे नयें राज्यों के लिये आन्दोलन का आधार भी बनने जा रहा है। वैसे भी यदि किसी क्षेत्र में अपने विकास, उन्नति और प्रगति की अपार उत्कंठा हो तो उसे इसका अवसर मिलना ही चाहिये। देखें तो क्षेत्रीय आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में एक कारण तो सदैव दिखाई देगा– वह है पहचान की लडाई। यह ऐसा प्राथमिक सवाल है जो कभी–कभी और सम्भवतः सदैव भावनाओं को उद्वेलित करता रहा है और तब यह सवाल और भी अहम हो जाता है जब जनता की पहचान की लडाई के साथ आर्थिक स्वावलंबन का सवाल भी हो।

क्षेत्रीय विफलता तथा सांस्कृतिक अस्मिता की संयुक्त चेतना से भारतीय राष्ट्र की अब तक की केन्द्रोन्मुख परिभाषा को सीमांत प्रदेशों, तटीय प्रदेशों तथा मध्य देश के क्षेत्रों में अस्वीकारा जा चुका है। विराटता को विरक्तिभाव से देखा जा रहा है। अतः केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को त्यागते हुये एक विकेन्द्रित राज्य संरचना की तरफ कदम बढाने की जरूरत है। भारतीय राष्ट्रीयता की नयीं जरूरतों के अनुकूल हमारी प्रशासनिक व्यवस्था के पुनर्गठन के प्रति उन्नत नयी राष्ट्रीय सहमति को क्रियान्वित किये बिना हम राष्ट्रनिर्माण की दिशा में उत्पन्न अवरोधों का निराकरण नहीं कर सकते।

आवश्यकता इस बात की है कि एक राज्य पुनर्गठन आयोग की सहायता से आर्थिक विकास, प्रशासकीय सुविधा, स्थानीय संस्कृति और विशेष भौगोलिक परिस्थितियों को लेकर नये व छोटे राज्यों के गठन पर नये सिरे से विचार कर इस अध्याय को आने वाले कुछ समय के लिये बन्द कर दिया जाय। यदि ऐसा नहीं किया गया तो सम्भव है कि आज का पृथक राज्य आन्दोलन कल देश से अलग होने की मांग में तब्दील हो जाये।

पुनर्पठन

भारतीय संघवाद के विद्वानो ने विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीयतावाद का अध्ययन किया है। इनमें ज्यादातर लोगों ने उन तत्वों को पहचानने का कार्य किया जो क्षेत्रीय भावनाओं की प्रवृत्तियों को तेज करती है। इकबाल नारायन[3] ने क्षेत्रीय भावनाओं के विकास के परिप्रेक्ष्य में यह तथ्य स्थापित किया कि ये कुछ विशेष क्षेत्र अथवा हिस्सें में सामाजिक तथा आर्थिक अलगाव का परिणाम है। उनका कहना है कि ऐसे विचार (क्षेत्रीय भावनायें) तब उत्पन्न होते हैं जब केन्द्रीय भू–तत्व अपने आपको संगठित रखने के लिये उन क्षेत्रों का तिरस्कार करते हैं। ए0के0वर्मा[4] ने अपने लेख में यह स्थापित किया है कि किसी भी नवीन राज्य के गठन मात्र से ही उस क्षेत्र की समस्याओं का समाधान नहीं होता यद्यपि उस नवीन राज्य में नूतन चेतना व आशा का संचार अवश्य होता है। एस0एस0भट्ट[5], आर जी नायक[6], हेमलता राय[7] आदि के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्बन्ध भारत में क्षेत्रीय विषमताओ से हैं।

एस0एम0सईद[8], जे0आर0सिवाच[9], डब्ल्यू0एच0मौरिस जोन्स[10], पाऊल ब्राज आर0[11], रजनी कोठारी[12], विपिन चन्द्र, मृदुला मुखर्जी & आदित्य मुखर्जी[13] के ग्रन्थों में अन्य मुद्दों के अलावा क्षेत्रवाद, जातिवाद, साम्प्रदायिक हिंसा, भूमिपुत्र सिद्धान्त, राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या, क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का भारत की राजनीति पर प्रभाव, राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन, भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या इत्यादि पर समुचित विचार मिलते हैं। विपिनचन्द्र एवं अन्य ने स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर बीसवीं सदी की समाप्ति तक भारत में राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में हुये विकास का विश्लेषण अत्यन्त प्रमाणिक ढंग से किया है।

3. नारायन, इकबाल (1976), *"कल्चरल प्लूयरिज्म, नेशनल इन्टीग्रेशन एण्ड डेमोक्रेसी इन इण्डिया"*, एशियन सर्वे, अक्टूबर।
4 वर्मा, ए०के० (1998), *"छोटे राज्यों की बडी संवेदनाये"*, दैनिक जागरण, अगस्त 14।
5. भट्ट, एल०एस० (1982), *रीजनल इनइक्वल्टीज इन इण्डिया : एन इण्टर स्टेट एण्ड इन्टरा स्टेट एनालिसिस*, नई दिल्ली, एस०एस०आर०डी०।
6 नायक, आर०जी० (1981), *रीजनल डिसपॉयरटीज इन इण्डिया*, नई दिल्ली, अगरिका पब्लिकेशन।
7. राय, हेमलता (1984), *रीजनल डिसपॉंयरटीज एण्ड डेवलपमेन्ट इन इण्डिया*, नई दिल्ली, आशीष पब्लिकेशन।
8. सईद, एस०एम० (1998), *भारतीय राजनीतिक व्यवस्था*, लखनऊ, सुलभ प्रकाशन।
9. सिवाच, जे०आर० (1990), *डायनामिक्स ऑफ इण्डियन गर्वनमेंट एण्ड पॉलिटिक्स;* एव (1992), *भारत की राजनीतिक व्यवस्था*, चढ़ीगढ, हरियाणा साहित्य अकादमी।
10. जोन्स, डब्ल्यू०एच०मौरिस (1970), *भारतीय शासन एवं राजनीति*, दिल्ली, सुरजीत पब्लिकेशन।
11 ब्राज, पाऊल आर० (1992), *द पॉंलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिन्स इंडिपेंडेंस*, कैम्ब्रिज यूनिव० प्रेस।
12. कोठारी, रजनी (1990), *भारत मे राजनीति*, नई दिल्ली, ओरियंट लाग्मैन लि०।
13. चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), *आजादी के बाद का भारत*, 1947–2000, दिल्ली विश्वविद्यालय, हिस्ट्री माध्यम कार्यान्वय निदेशालय।

साम्प्रदायिकता पर विपिन चन्द्र की पुस्तक "आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता" जो मूलत. 1947 के पूर्व भारत में साम्प्रदायिकता के विश्लेषण तक सीमित है और इसमें साम्प्रदायिकता का अध्ययन इसके विरूद्ध किये जाने वाले संघर्षों के संदर्भ में किया गया है के अलावा प्रभा दीक्षित[14], रशीद्दुदीन खान[15] और फ्रांसिस राबिन्सन[16] की पुस्तकों से भी साम्प्रदायिकता के विविध पक्षों पर महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं। जबकि जातिवाद पर रजनी कोठारी[17] और रावर्ट एल0हार्डग्रेव[18] के ग्रन्थों से महत्वपूर्ण जानकारी प्रमाणित और विश्लेषणात्मक ढंग से प्राप्त होती है। रजनी कोठारी ने भारत के विभिन्न प्रान्तों में जातीय राजनीति का विश्लेषण करते हुए इसे जेनस लाइक मॉडल कहा है और यह मत स्थापित किया है कि भारतीय राजनीति और जाति व्यवस्था के पारस्परिक संबंधों के विषय में यह आशा करना कि जनतंत्रीय संस्थाओं की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था का लोप हो जाना चाहिए, एक भ्रामक और त्रुटिपूर्ण विचार है। उनका यह दावा है कि कोई भी सामाजिक तंत्र कभी भी पूर्णतया समाप्त नही हो सकता, अतः यह प्रश्न करना कि क्या भारत मे जाति व्यवस्था का लोप हो रहा है, व्यर्थ है। जबकि हार्डग्रेव ने अपने ग्रन्थ में दक्षिण भारत में चलाये गये पृथक द्रविड़स्तान की मांग का विश्लेषण वस्तुपरक ढंग से किया है।

सिक्ख पृथकतावाद पर के0पी0एस0गिल[19], बलदेव राज नायर[20], डी0डी0बसु[21] के ग्रन्थों को काफी महत्वपूर्ण माना जा सकता है। डी0डी0बसु ने सिक्खों के खालिस्तान की स्थापना के प्रयास और आनन्दपुर साहब प्रस्ताव के द्वारा की गयी मांग का परीक्षण संवैधानिक प्राविधानों के परिप्रेक्ष्य मे किया है और इस बात पर प्रकाश डाला कि किन परिस्थितियोंवश अकाली दल ने अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु हिन्दू और सिक्खों के मध्य दरार डालना शुरू किया और आतंकी गतिविधियो को समर्थन दिया। गिल का ग्रन्थ पंजाब में विशेषतया नब्बे के दशक के आतंकवाद पर केन्द्रित है। जबकि बलदेव नायर ने पंजाब के पृथकतावादी आन्दोलन के संदर्भ में धर्म पर आधारित राजनीति का चित्रण किया है।

भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या पर विभिन्न विद्वानों ने काफी अध्ययन किया है, जिसमें उनके द्वारा भारत में राष्ट्र निर्माण के प्रयत्नों में बाधक कारणों का पता लगाने के साथ–साथ उनके निदान के उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है। इनमें सत्येन्द्र किशोर[22], निर्मल कुमार बोस[23],

14. दीक्षित, प्रभा (1974), *कम्यूनलिज्म, अ स्ट्रगल फॉर पावर,* नई दिल्ली।
15 खान, रशीद्दुदीन सपा० (1970), *"सेल्फ व्यू ऑफ मिनॉरिटीज द मुसलिम्स इन इण्डिया"* इण्टरनेशनल सेन्टर, नई दिल्ली द्वारा आयोजित सेमिनार, *"मिनॉरिटीज इन नेशन बिल्डिग"* मे प्रस्तुत मीमियोग्राफ।
16. राबिन्सन, फ्रांसिस (1975), *सेपरेटिज्म अमंग इंडियन मुसलिम्स, द पॉलिटिक्स ऑफ दि यूनाइटेड प्रॉविन्सेज मुस्लिम, 1860–1923,* दिल्ली।
17. कोठारी, रजनी (1970), *कास्ट इन इंडियन पॉलिटिक्स,* नई दिल्ली, ओरियन्ट लाग्मैन लि०।
18. हार्डग्रेव, राबर्ट एल० (1965), *द द्रविडियन मूवमेन्ट,* बम्बई।
19. गिल, के०पी०एस० (1997), *द नाइट ऑफ फाल्सहुड,* नई दिल्ली।
20. नायर, बलदेव राज (1966), *सिख सेपरेटिज्म इन पंजाब, इन साउथ एशियन पॉलिटिक्स एण्ड रिलीजन,* डोनाल्ड इ स्मिथ द्वारा संपा० प्रिस्टन यूनिव० प्रेस।
21. वसु, डी०डी० (1994), *कमेन्ट्री ऑन दि कान्सटीट्यूनल आस्पेक्टस ऑफ सिक्ख सेपरटिज्म,* नई दिल्ली, प्रेन्टिस हाल ऑफ इण्डिया।
22. किशोर, सत्येन्द्र (1987), *नेशनल इंटिग्रेशन इन इण्डिया,* नई दिल्ली, स्टर्लिंग पब्लि०।
23. बोस, निर्मल कुमार (1967), *प्राब्लमा ऑफ नेशनल इन्टीग्रेशन,* शिमला, इण्डियन इस्टीट्यूट ऑफ एडवारन्ड स्टडी।

योगेश अटल[24], वी0के0राय[25], जियाद्दुदीन खान[26], एल0आर0सिंह[27], एच0नागमणि[28] आदि के विचार उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि उत्तरांचल राज्य का मुद्दा उत्तर प्रदेश के पर्वतीय जिलों में 1938 से उस समय से बना हुआ था, जबकि इसे श्रीनगर में पहली बार उठाया गया था। तथापि यह विद्वानों को आकर्षित करने में अधिक सफल नहीं हो पाया और उत्तरांचल आन्दोलन पर ज्यादा कार्य सामने नहीं आया। ज्यादातर पुस्तकें, लेख जो शोध पत्रिकाओं और समाचार पत्रों में लिखे गये इस क्षेत्र की पर्यावरणीय समस्याओं से जुड़े हए थे, विशेषकर चिपको तथा टेहरी बांध विरोधी आन्दोलन। बाकी विरोध के पत्रकारिता के वर्णन थे।

वास्तव में उत्तरांचल का अध्ययन उतना राजनैतिक वैज्ञानिकों ने नहीं किया जितना कि पर्यावरणशास्त्रियों समाजशास्त्रियों तथा जनसख्ंयाशास्त्रियों ने किया। ज्यादातर अध्ययन या तो पलायनवाद की पद्धति तथा नारी के ऊपर कार्यभार या चिपको आन्दोलन, टेहरी बांध विरोधी आन्दोलन तथा मद्य निषेध आन्दोलन से संबंधित है। ऐतिहासिक अध्ययन केवल राजाओं तथा महाराजाओं की वंशावली ठीक करने से संबंधित हैं। लेकिन कुछ प्रगतिशील ऐतिहासिक कार्यों में राजनीति प्रेरित सुधार आन्दोलनों जैसे 'कुली बेगार' एवं 'शिल्पकार आन्दोलन, (कुमाऊँ में) तथा धं**दृ**क्स एवं प्रजामंडल आन्दोलन (पूरे टेहरी राज्य में) के अध्ययन पर ध्यान दिया गया। बहुत से समकालीन उत्तराखण्ड के वर्णन सामाजिक तथा आर्थिक ऑकडों को दर्शानें के लिये प्रयोग किये गये। कुछ अध्ययनों में इस क्षेत्र की सामाजिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों की तुलना 'हिमाचल मॉडल' के रूप में की गई है, जैसा कि अर्मत्य सेन ने 'केरल मॉडल' के बारे मे की थी। जिसमें आर्थिक प्रथक्करण (सुविधा न देने की प्रवृत्ति) के सिद्धान्त को काफी जोर शोर से सामने लाया गया। इसके लिये जान–बूझकर ऐसे तुलनात्मक ऑकडे दुलर्भ रूप से प्रस्तुत किये गये जो उ0प्र0 राज्य के दृष्टिकोण से भौगोलिक विभिन्नता का परिणाम था।

उत्तरांचल के इतिहास पर आधारित बद्रीदत्त पाण्डे[29], हरिकृष्ण रतूडी[30], भजन सिंह[31], सन्तान सिंह नेगी[32], मनीराम बहुगुणा[33], शिवप्रसाद चरन 'डबराल'[34], गोविन्द चातक[35] और एस0ए0एच0जैदी & रेहाना जैदी[36] के ग्रन्थ हैं। लेकिन ज्यादातर ग्रन्थ राजनैतिक शासनकाल

24. अटल, योगेश (1981), *बिल्डिंग ए नेशन , एस्से आन इण्डिया,* नई दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशन।
25. राय, बी०के० (1985), *नेशनल इंटीग्रेशन सम अनसाल्वड इश्यूज,* बाम्बे, भारतीय विद्या भवन।
26. खान, जियाद्दुदीन (1983), *नेशनल इन्टीग्रेशन इन इण्डिया–इश्यूज एण्ड डायमेन्शनस्,* नई दिल्ली, एशोसियेटेड पब्लिशिग हाऊस।
27. सिंह, एल०आर० (1994), *नेशन बिल्डिंग एण्ड डवलपमेन्ट प्रॉसेज,* जयपुर, रावत पब्लिकेशन।
28 नागमणि, एच० (1981), *नेशन बिल्डिंग एण्ड रीजनल डवलपमेन्ट,* जापान, यूनाइटेड नेशन सेन्टर फॉर रीजनल डवलपमेन्ट।
29. पाण्डे, बद्रीदत्त (1990), *कुमाऊँ का इतिहास,* अल्मोडा, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, प्रथम प्रकाशन 1937।
30. रतूडी, हरीकृष्ण (1995), *गढवाल का इतिहास,* टेहरी, भागीरथी प्रकाशन, प्रथम प्रकाशन 1928।
31. सिंह, भजनसिह (1986), *आर्यों का आदि निवास ; मध्य हिमालय,* टेहरी भागीरथी प्रकाशन।
32 नेगी, संतान सिंह (1988), *मध्य हिमालय का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास,* नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन।
33. बहुगुणा, मनीराम (1995), *गृह राज्य शासन की यादें,* टेहरी, कुसुमलता प्रकाशन।
34 डबराल, शिवप्रसाद ''चरन'' (n.d.), *उत्तराखण्ड का राजनैतिक व सांस्कृतिक इतिहास,* खण्ड–1 से 12, डोगड्डा, वीरगाथा प्रकाशन।
35. चातक, गोविन्द (1990), *भारतीय लोक संस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय,* नई दिल्ली, तक्षशिला प्रकाशन।
36 जैदी, एस०ए०एच० & रेहाना जैदी (1985), *गढ़वाल मुगल संबंध (1526–1707),* पौड़ी, हिमालया न्यूज एजेन्सी।

तथा उसकी वंशावली से संबंधित है। बद्रीदत्त पाण्डे ने कुमाँऊ के सभी राजाओं छोटे या बड़े की गणना गम्भीरतापूर्वक की है। इसी प्रकार हरीकृष्ण रतूडी तथा मनीराम बहुगुणा ने गढवाल राज्य की चर्चा की है। डबराल वास्तव मे गढवाली इतिहास के पर्याय माने जाते है, जिनके ग्रन्थ हिन्दी मे कई खण्डों में उपलब्ध हैं और उन्हें सूचनाओं का विश्वस्त स्रोत माना जाता है। जैदी एवं जैदी ने मध्य युग में गढवाल मुगल संबंधों का अध्ययन किया है और उनका ग्रन्थ क्षेत्रीय इतिहास के पक्ष में दुर्लभ सामग्री से युक्त है। भजन सिंह 'सिंह' ने बड़े मनोरंजक ढ़ंग से प्राचीनकाल में गढवाल हिमालय में आर्यों के उद्‌भव का इतिहास लिखा है। जहाँ पर उन्होंने यह तर्क दिया है कि वहीं से आर्य दुनिया के अन्य क्षेत्रों में फैल गयें।

उत्तरांचल की पहाड़ियों के इस पारम्परिक इतिहास के वर्णन के अलावा कुछ समकालीन विद्वानो ने जन आन्दोलन के सबंध में औपनिवेशिक तथा उत्तर औपनिवेशिक काल का वर्णन किया है। शेखर पाठक ने बहुत सारे सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलनों का विस्तार से अध्ययन किया है। वास्तव में एक वार्षिक जर्नल 'पहाड़' जो नियमित नही है का संपादन पाठक स्वय किया करते हैं, जिसमें उन्होंने उत्तरांचल के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा प्रजातीय (कबीलाई) पक्षों पर बहुत ही लाभकारी विश्लेषणात्मक सामग्री दी है। पाठक एवं रामचन्द्र गुहा[37] ने जन इतिहास लिखा जिसमें दमन के विरूद्ध किये गये आन्दोलन जैसे शिल्पकार आन्दोलन, कुली बेगार आन्दोलन तथा बाद में पर्यावरणविदों के पहाड़ी समाज की सुरक्षा के लिये जंगल कटान के विरोध में किये गये आन्दोन का वर्णन है। कुछ ऐसी ही रोशनी अतुल सकलानी[38] के गढ़वाल राज्य के राजकुमारों के अध्ययन में मिलती है। जिसमें गढ़वाली राष्ट्रीयता की जड़े 20वीं शताब्दी के आरम्भ में सुधार आन्दोलनों जैसे– गढवाल यूनियन या गढ़वाल सभा, सरोला सभा आदि के रूप में मिलती है। सकलानी ने धंढ़कों (विशेषरूप से रावैन धंढ़क) के योगदान का वर्णन किया है जिसने राज्य में विरोधी आन्दोलन के विकास को जन्म दिया और प्रजामंडल आन्दोलन के सगठन में अग्रणी भूमिका निभायी है।

उत्तरांचल के पहाड़ी समाजों को समझने के लिये ऐतिहासिक प्रयत्नों के अतरिक्त कुछ अच्छे विवेकपूर्ण अध्ययन सामाजिक प्रजातिशास्त्रियों के द्वारा किये गयें हैं। महेश्वर पी0जोशी, एलन सी0 फैन्जर एवं चार्ल्स डब्ल्यू0 ब्राऊन[39] ने 1990 में एक खंड प्रकाशित किया जिसमें भोटिया समुदाय, जाति प्रावैगिकता तथा जातीय तरलता, राजपूतों में स्वामित्व की भावना तथा कुमाऊँ के शिल्पकार आदि के संबंध में लेख लिखे गये। जैसल्लाग तथा ए0डी0मोदी के ग्रन्थ में जे0एस0भंडारी का लेख कुमाऊॅ के विभिन्न सीमान्त समुदाओं के संबंध में सूचना प्रदान करता है और वो पाठकों को उत्तरकाशी, चमोली तथा पिथौरागढ़ जिले के सीमान्त घाटियों में बसे भोटियाओं के पास ले जाता है।

---

37. पाठक, शेखर & रामचन्द्र गुहा (1996), *"राष्ट्रीय इतिहास में उत्तराखण्ड : स्थानीय इतिहास, जन इतिहास या राष्ट्रीय इतिहास"*, नैनीताल, पहाड़।
38. सकलानी, अतुल (1987), *द हिस्ट्री ऑफ हिमालयन प्रिन्सली स्टेट : चेन्ज कान्फलिक्टस एण्ड अवेकनिंग (एन० इण्टरप्रेटेटिव हिस्ट्री ऑफ प्रिन्सली स्टेट ऑफ टेहरी गढ़वाल, यू०पी०, ए०डी० 1815–1949 ए०डी०)*, देलही, दुर्गा पब्लिकेशन।
39 जोशी, महेश्वर पी०, एलन सी० फैन्जर & चार्ल्स डब्ल्यू० ब्राऊन संपा० (1990), *हिमालय : पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट*, अल्मोडा, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो।

गढ़वाल तथा कुमाऊँ के कुछ समुदाओं के औपनिवेशिक तथा सामाजिक इतिहास के संबंध में राय बहादुर पतिराम[40] के ग्रन्थ का 1992 में तथा अटकिन्शन[41] के गजट को जो कुमाऊँ के कमिश्नर थे का 1974 में पुनः प्रकाशन किया गया, को काफी सूचनापूर्ण माना जा सकता है।

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है कि उत्तरांचल की पहाड़ियों मे विद्वानों का ध्यान भारी मात्रा में लोगों (ज्यादातर पुरूषों) के पलायन, भौगोलिक असन्तुलन, प्राकृतिक संवेदनशीलता तथा पहाड़ों से जुड़ी आर्थिक समस्याओं की ओर आकर्षित किया। परिणामस्वरूप विभिन्न विद्वानों ने अपने अध्ययनों में क्षेत्र की समस्याओं पर आधारित विविध प्रकार के विकास मॉडल जो पहाड के निवासियों[42] की विशेष समस्याओं के लिये उपयुक्त माने गये लागू किये। इनमें अन्य के अलावा एम0पी0जोशी सपादित ग्रन्थ में मल्लिकार्जुन जोशी व पी0सी0पाण्डे के लेख तथा सुरेश नौटियाल[43], एस0सी0खड़गवाल[44], जी0एस0मेहता[45], आर0एस0बोस[46], जितेन्द्र सिंह एवं एम0एस0 धस्माना के एल0पी0 विद्यार्थी एवं मारवन झा[47] संपादित ग्रन्थ शामिल हैं।

पाण्डे, मेहता, बोरा तथा धस्माना ने पलायनवाद तथ श्रम से संबंधित समस्याओं पर अध्ययन किया। जबकि जोशी और खड़गवाल के अध्ययन पहाड़ों के भौगोलिक, भौतिक तथा सांस्कृतिक वातावरण पर केन्द्रित है। सुरेश नौटियाल के ग्रन्थ में उत्तरांचल की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं राजनैतिक समस्याओं और चिन्ताओं का आर्थिक–प्रशासनिक संदर्भ में एक व्यापक अध्ययन, आकलन और साथ ही उसके भावी स्वरूप का आकल्पम किया गया है। इन विस्तृत अध्ययनों के अलावा ए0एस0रावत[48], एस0एस0नेगी[49], केदारसिंह फोनिया[50] तथा अन्य दूसरे लेखकों ने भी बहुत सारे ग्रन्थ लिखे हैं, जो पर्वतीय समाज के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डालते हैं। ये ग्रन्थ सामान्य पाठको की रूचि के लिये पर्याप्त हैं, जिसमें पर्वतीय समाज की प्रावैगिकता के संबंध में अपर्याप्त सूचना मिलती है।

40. पतिराम, राय बहादुर (1992), *गढ़वाल : एन्सिएन्ट एण्ड मार्डन,* देलही, विन्टेज बुक।
41. अटकिन्शन, एडविन टी० (1974), *कुमाऊ हिल्स : इट्स हिस्ट्री, ज्योग्राफी एण्ड एन्थ्रोपालॉजी विद रिफ्रेन्स टू गढ़वाल एण्ड नेपाल* (ऑफ प्रिन्ट फ्राम दि हिमालयन गजेटियर, खण्ड–2), देलही, कास्मो।
42. जोशी, महेश्वर पी० (1990), *उत्तरांचल (कुमाऊँ–गढ़वाल) हिमालय (एन एस्से इन हिस्टोरिकल एन्थ्रोपालॉजी),* अल्मोडा, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो।
43. नौटियाल, सुरेश संपा० (1994), *उत्तराखण्ड एक अध्ययन, आकलन और प्रस्ताव,* नई दिल्ली, अभिकथन पब्लिकेशन्स।
44. खड़गवाल, एस०सी० (1993), *फिजिको–कल्चरल इन्वायरमेन्ट एण्ड डवलपमेन्ट इन यू०पी० हिमालय,* कोटद्वारा नूतन पब्लिशर्स।
45. मेहता, जी०एस० (1996), *उत्तराखण्ड : प्रास्पेक्ट्स ऑफ डवलपमेन्ट,* नई दिल्ली, इंड्स पब्लिशिग कम्पनी।
46. बोरा, आर०एस० (1996), *हिमालयन माइग्रेशन : ए स्टडी ऑफ दि हिल रीजन ऑफ उत्तर प्रदेश,* देलही, सेज पब्लिकेशन।
47. विद्यार्थी, एल०पी० & माखन झा संपा० (1986), *इकोलॉजी, इकोनॉमी एण्ड रिलीजन ऑफ हिमालयाज,* देलही, ओरियन्ट।
48. रावत, अजय एस० (1983), *गढवाल हिमालय : ए हिस्टोरिकल सर्वे (1815–1947),* देलही, इस्टर्न बुक लिंकर्स।
49. नेगी, एस०एस० (1993), *कुमाऊँ : द लैण्ड एण्ड पीपुल,* और (1994), *गढ़वाल : द लैण्ड एण्ड पीपुल,* देलही, इड्स पब्लिशिंग कम्पनी।
50. फोनिया, केदार सिंह (1996), *"उत्तराखण्ड : प्राब्लम्स एण्ड रिसोर्सेज",* नौटियाल एण्ड नौटियाल मे संपा०।

उत्तराखण्ड आन्दोलन, उसकी प्रकृति, मानवीय तत्व तथा राजनीति और उसमें शामिल चुनौतियों और मुद्दों पर भी काफी पुस्तकें लिखी गई है। पर ज्यादातर साहितय का प्रकाशन विगत दस वर्षो मे प्रकाशित हुआ, जिसका लक्ष्य पृथक राज्य की मांग का विश्लेषण करना था। जिसमें कुछ सीमा तक छोटे राज्य की मांग को लेकर समर्थन दिया गया जिसने क्षेत्र के लोगों के सपनों को पूरा किया। पी0सी0जोशी[51], बी0आर0त्रिवेदी[52], जे0सी0अग्रवाल तथा एस0पी0अग्रवाल[53], हरीश चन्दोला[54], बी0डी0पाण्डे[55], अविजित पाठक[56], मृणाल पाण्डे[57], अमरेश मिश्रा[58], भरत डोगरा[59], अजीत राय[60], सी0पी0भाम्भरी[61], शंकर लाल शाह[62], प्रदीप कुमार[63], नवीन चन्द्र ढौढ़ियाल, विजय ढौढियाल एवं सजीव कुमार शर्मा[64], आलोक ए डीमरी[65], भगत सिंह कोश्यिारी[66], पूरन बिष्ट[67] एवं पीयूष बका, संजय सिह एवं कुमार हर्ष[68] आदि के महत्वपूर्ण ग्रन्थ तथा लेख इस आन्दोलन के संबंध में शामिल हैं।

इनमें से मृणाल पाण्डेय तथा अमरेश मिश्रा के लेख आन्दोलन के पत्रकारिता संबंधी वर्णन हैं, जो पर्वतीय क्षेत्र में अन्य पिछड़े वर्ग के 27: आरक्षण के संदर्भ में थे, जबकि ये लोग उत्तरांचल में 2 या 3. जनसंख्या में पायें जाते हैं। भरत डोगरा तथा अजीत राय ने इस आन्दोलन को राजनैतिक

---

51. जोशी, पी०सी० (1995), *उत्तराखण्ड : इश्यूज एण्ड चैलेन्जस,* नई दिल्ली, हर आनन्द पब्लिकेशन।
52. त्रिवेदी, वी०आर० (1995), *ऑटोनमी ऑफ उत्तराखण्ड,* नई दिल्ली, मोहित पब्लिकेशन।
53. अग्रवाल, जे०सी० & एस०पी०अग्रवाल (1995), *उत्तराखण्ड · पास्ट, प्रेजेन्ट एण्ड फ्यूचर,* नई दिल्ली, कान्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी।
54 चन्दोला, हरीश (1994), *"उत्तराखण्ड विद वायलेन्स",* मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 8 , *"व्हाई उत्तराखण्ड",* मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 15 , *"ए लैण्ड ऑफ फोर्टीफिक्सन",* मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 22 और , (1995), *"व्हाट काइन्ड ऑफ उत्तराखण्ड",* मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 14 ।
55. पाण्डे, बी०डी० (1995), *"व्हाई उत्तराखण्ड",* मेनस्ट्रीम, फरवरी 18 ।
56. पाठक, अविजित (1994), *"मीनिंग ऑफ उत्तराखण्ड : नीड टू गो बेयान्ड द पालिटिक्स ऑफ मॉडर्निटी",* मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 22 ।
57. पाण्डे, मृणाल (1994), *"बिहाईन्ड ट्रैपिंग्स ऑफ सोशल जस्टिस",* मेनस्ट्रीम, सितम्बर 24 ; *"स्टार्म इन द माउन्टेन्स",* मेनस्ट्रीम, सितम्बर 17 ।
58. मिश्रा, अमरेश (1994), *"न्यू फोर्स इन उत्तराखण्ड",* इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, जुलाई 17–24 ।
59. डोगरा, भरत (1994), *"उत्तराखण्ड : पवन्स इन एचेस गेम",* इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, दिसम्बर 10।
60. राय, अजीत (1994), *"उत्तराखण्ड एण्ड द लेफ्ट इर्रेलेवान्स",* इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, अक्टूबर 1।
61 भाम्भरी, सी०पी० (1997), *"इंडियाज इण्टरनल हारमोनी",* द हिन्दुस्तान टाइम्स, सितम्बर 14।
62. शाह, शंकर लाल (1995), *पृथक उत्तराखण्ड राज्य का औचित्य ...* , अल्मोडा, श्री अल्मोडा बुक डिपो।
63 कुमार, प्रदीप (1995), *"डिमाण्ड फॉर उत्तराखण्ड : बाइडर डायमेन्सन",* मेनस्ट्रीम, अगस्त 19 , *"जेनेसेज ऑफ उत्तराखण्ड क्राइसिस",* मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 14 ; (1996), *"डिमाण्ड फॉर ए हिल स्टेट इन यू०पी० : न्यू रियल्टीज",* मेनस्ट्रीम, जून 29 ; *"इंडियन फेडरलिज्म : इश्यूज एण्ड चैलेन्ज इन दि कान्टेक्सट ऑफ डिमाण्ड फॉर न्यू स्टेटस",* आजम कौशर संपा० में और ; (2000), *द उत्तराखण्ड मूवमेन्ट : कान्सट्रेक्शन ऑफ ए रीजनल आइडेन्टी,* नई दिल्ली, कनिष्क पब्लि० ।
64. ढौंढियाल, नवीनचन्द्र, विजय ढौंढ़ियाल एवं संजीव कुमार शर्मा संपा० (1993), *पृथक पर्वतीय राज्य,* खण्ड–1, अल्मोडा, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो।
65. डीमरी, आलोक ए० (1997), *उत्तराखण्ड मूवमेन्ट एण्ड इश्यूज ऑफ मोबलाइजेशन,* एम०फिल० लघु शोध–प्रबन्ध, अप्रकाशित, नई दिल्ली, जे०एन०यू०।
66. कोश्यिारी, भगत सिंह (1988), *उत्तरांचल प्रदेश क्यों,* अल्मोड़ा, उत्तरांचल उत्थान परिषद ; (1993), *फिजिको–कल्चरल इन्वायरमेन्ट एण्ड डेवलपमेन्ट इन यू०पी० हिमालया,* कोटद्वारा नूतन पब्लिशर्स।
67. बिष्ट, पूरन (1998), *"तब प्रयोगशाला नहीं होगा उत्तराखण्ड",* नैनीताल समाचार, सितम्बर 1 ।
68. बंका, पीयूष, संजय सिंह और कुमार हर्ष (1998), *"ठोस अनिवार्यताओं और तार्किक मांगों से भरा एक भावुक आन्दोलन",* राष्ट्रीय सहारा, सितम्बर 26 ।

दलों से प्रेरित बताया। अजीत राय ने इस आन्दोलन के संबंध में बिल्कुल अलग तरह से प्रतिक्रिया जाहिर की है। उनके दृष्टिकोण में यह उत्तर आधुनिकता का लक्षण है। उनके लिये विशाल आध ुनिकता के मॉडल के सामने अस्तित्व को बनाये रखने वाला यह एक स्थानीय आन्दोलन था। हरीश चन्दोला के लेख वर्षों से इस क्षेत्र में होने वाले आर्थिक शोषण का वर्णन करते हैं और बहुत ही व्यवस्थित ढंग से तर्क देते हैं कि देश के शेष हिस्सों से इस क्षेत्र के आर्थिक संबंधों से होने वाले शोषण को रोकने की आवश्यकता है। पर्वतों में मूलभूत सुविधाओं का आभाव तथा पर्वतवासियों की दयनीय स्थिति को बहुत ही मार्मिक ढंग से इस लेख में लिखा गया है। बी0डी0 पाण्डेय के लेख का संबंध हिमाचल प्रदेश की अपेक्षा पर्वतीय क्षेत्र की समस्याओं के राजनैतिक पक्ष को रखता है। प्रदीप कुमार ने अपने लेखों में उत्तरांचल आन्दोलन के विविध पक्षों को सामने रखा है। वहीं अपने ग्रन्थ में यह भी विश्लेषित करने का प्रयास किया है कि भारत में राज्यों के निर्माण की राजनीति में ऐसी क्या बात थी जिसने वर्षों के बाद राजनैतिक पहचान को बढ़ावा दिया और बाद में यही तथ्य शक्तिशाली बनकर नये राज्य की मांग के बौद्धिकता के रूप में सामने आया।

के0एन0भट्ट[69] की पुस्तक से उत्तरांचल की अर्थव्यवस्था समाज और पर्यावरण के संबंध में ठोस और महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। पी0सी0जोशी जो कि एक सक्षम अर्थशास्त्री हैं, ने इस क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं पर श्रंखलाबद्ध तरीके से (कई कड़ियों में) लेख लिखे हैं, जो पिछले दो दशको में प्रकाशित हुए है। इनमें से एक लेख ''उत्तराखण्ड तथा इण्डियन रिनेसेन्स'' में जोशी ने यह स्थापित किया कि जिस प्रकार पुनर्जागरण का नेतृत्व भारत में विदेशी शासन (अग्रेजों) के विरोध में था उसी प्रकार वर्तमान उत्तराखण्ड का पृथक राज्य आन्दोलन राष्ट्रीय शासन से स्वायत्तता के लिये मांग करता है ; जो इस क्षेत्र में उपनिवेशवाद का परिणाम हैं, जो सापेक्ष रूप से इस क्षेत्र में अधिक आर्थिक विकास कर सकती थी।

पी0सी0जोशी की किताब ने इस विषय पर श्रृंखलाबद्ध तरीके से इस क्षेत्र के आर्थिक पिछड़ेपन को लेकर बहुत सारे प्रश्न उत्पन्न किये हैं। अन्य मुद्दों के अलावा अपने ग्रन्थ में गुन्नार मिर्डल तथा अन्य की पंक्तियों पर वह तर्क करते हुए यह स्थापित करते हैं कि यहाँ की आर्थिक व्यवस्था जो कोई प्रभाव नहीं छोड़ती है या जिसमें पिछड़ेपन का कुछ असर है में राजनीति का पक्षपातपूर्ण अपनाया गया रवैय्या है। इस पुस्तक में इस बात को बताने का प्रयास भी किया गया है कि उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों तथा हिमाचल प्रदेश के पर्वतीय लोगों के मध्य दीनता में क्या अन्तर है। जोशी ने इस बात की शिनाख्त की हैं कि वर्षों से यहाँ के राजनैतिक वातावरण ने पृथक उत्तराखण्ड राज्य की मांग के लिये बहुत से तुलनात्मक तत्वों को जन्म दिया है।

जबकि, बहुत सारे विस्तृत अध्ययनों का प्रकाशन उत्तरांचल के आन्दोलन के संबंध में प्रकाशित नहीं हुआ है, एक सक्षम प्रयत्न इस बात का किया गया है कि इस क्षेत्र में विद्वानों ने इस विषय वस्तु पर जो अध्ययन किया है उसे एक जगह संकलित किया गया है। यह संकलन अधिकतर हिन्दी में है लेकिन कुछ पर्वतीय भाषाओं में भी है। सबसे विस्तृत तथा व्यापक संग्रह सुरेश नौटियाल[70] एवं आंचलिक भाषा में

69. भट्ट, के०एन० (1997), *उत्तराखण्ड : इकोलॉजी, इकोनॉमी एण्ड सोसाइटी,* इलाहाबाद, होरिजन पब्लिशर्स।
70. नौटियाल, सुरेश संपा० (1994), *उत्तराखण्ड एक अध्ययन, आकलन और प्रस्ताव,* नई दिल्ली, अभिकथन पब्लिकेशन्स।

के0एस0वाल्दिया[71] का है। शीला रावत[72], पद्मेश बुरकोटी[73], आर0आर0नौटियाल तथा अन्नपूर्णा नौटियाल[74], शिवनन्दा चमोली[75], त्रिलोक चन्द्र भट्ट[76] तथा धीरज सिंह नेगी[77] आदि के ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण हैं।

इन लेखों के सग्रह में काफी विस्तार के साथ पृथक राज्य के आन्दोलन के उन सभी पक्षों को शामिल किया गया था जिनका संबंध उस क्षेत्र के सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से था। इन सभी लेखों का अभिन्न लक्ष्य उस बौद्धिक तत्व को प्रदर्शित करना था जिसमें पृथक राज्य के भौगोलिक लक्षण, मानवीय संसाधन, सांस्कृतिक प्रारूप, प्रजातीय कार्यभार तथा स्थूल आन्दोलन एवं उसके समर्थन का विस्तार आदि शामिल है। इसके अलावा इनमें तिथिक्रम के अनुसार उन सभी विकासों तथा घटनाओं का ब्यौरा है जिनका लक्ष्य पिछले कुछ दशकों में पृथक राज्य की मांग था। ज्यादातर प्रकाशित किये गये ग्रन्थों का संबंध मौजूदा आन्दोलन को उन जन आन्दोलनों से जोड़ना था जो विगत वर्षों से चलाये जा रहे थे– विशेषकर, पर्यावरणशास्त्रियों का चिपको आन्दोलन तथा मद्य विरोधी आन्दोलन जो कि ज्यादातर इस क्षेत्र में स्त्रियों के नेतृत्व तथा समर्थन में हुए और बिना किसी राजनैतिक दलों के नेतृत्व में किये गये थे।

इन लेखों के अतिरिक्त जो बहुत सारे लेख खण्डों में प्रकाशित हुए, उनके प्रकाशन में स्थानीय प्रेस ने काफी ज्यादा योगदान दिया क्योंकि स्थानीय समाचार पत्रों ने हर छोटी से छोटी घटना को विस्तार के साथ इस उद्देश्य को लेकर प्रकाशित किया। विशेषकर हिन्दी दैनिक पत्र अमर उजाला तथा दैनिक जागरण जिनका व्यापक विस्तार इस क्षेत्र में है, ने इस क्षेत्र के महत्वपूर्ण लोगों का साक्षात्कार लेकर इसी शीर्षक पर श्रृंखलाबद्ध तरीके से लेख प्रकाशित किये। दूसरे समाचार पत्र जिन्होंने नियमित रूप से इस शीर्षक पर लिखा, में नैनीताल समाचार (नैनीताल), हिमालय दर्पण (देहरादून) के अलावा बहुत सारे छोटे–छोटे अखबारों को क्षेत्र के विभिन्न कस्बों से प्रकाशित किया गया। जिन पत्रिकाओं के योगदान को मूल्यवान समझा जा सकता है, उसमे हिमालय टाइम्स (देहरादून), पर्वतवाणी (उत्तरकाशी) तथा पहाड़ (नैनीताल) शामिल है।

अन्य पृथक राज्य आन्दोलनों के संबंध में हमें नरेन्द्र भारद्वाज[78], प्रभात दत्त[79], अनिल कुमार द्विवेदी[80], सुभाष कश्यप[81], सोमनाथ यादव[82], राजकिशोर[83] आदि के ग्रन्थों एवं लेखों से महत्वपूर्ण

71. वाल्दिया, के०एस० सपा० (1996), *उत्तराखण्ड टूडे : उत्तराखण्ड आज,* अल्मोडा, श्री अल्मोडा बुक डिपो।
72. रावत, शीला संपा० (n.d.), *उत्तराखण्ड, दृष्टि, दशा और दिशा,* श्रीनगर, गढ़वाल, अलकनन्दा किनारे पब्लिकेशन।
73. बुरकोटी, पदमेश संपा० (1995), *उत्तराखण्ड आन्दोलन का दस्तावेज (1994–95),* हिमालय धरोहर आन्दोलन केन्द्र।
74. नौटियाल, आर०आर० & अन्नपूर्णा नौटियाल संपा० (1996), *उत्तराखण्ड इन टुरमाइल,* नई दिल्ली, एम०डी०पब्लिकेशन।
75. चमौली, शिवानन्द (1995), *उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन : संघर्षपूर्ण चार महीने का दस्तावेज,* देहरादून।
76. भट्ट, त्रिलोकचन्द (2000), *उत्तराखण्ड आन्दोलन : पृथक राज्य आन्दोलन का ऐतिहासिक दस्तावेज,* नई दिल्ली, तक्षशिला प्रकाशन।
77. नेगी, धीरज सिंह संपा० (n.d.), *उत्तराखण्ड आन्दोलन,* देहरादून, गढ़वाल सभा।
78. भरद्वाज, नरेन्द्र (1993), *"बोडो समझौता : शान्ति का सूर्योदय",* सिविल सर्विसेज क्रानिकल, जून ; (1996), *"पृथक राज्य आन्दोलन : निरन्तर उपेक्षा से उठता ज्वार",* सिविल सर्विसेज क्रानिकल, फरवरी।
79. दत्ता, प्रभात (1995), *"अनस्टडी स्टेट्स एण्ड स्माल थ्योरीज",* द टेलीग्राफ, दिसम्बर 4 ।
80. द्विवेदी, अनिल कुमार (1996), *"पृथक राज्य आन्दोलन : उत्प्रेरक बना उत्तराखण्ड",* सिविल सर्विसेज क्रानिकल, नवम्बर।
81. कश्यप, सुभाष (1999), *"नये राज्यों के गठन का सवाल",* राष्ट्रीय सहारा।
82. यादव, सोमनाथ संपा० (2000), *छत्तीसगढ़ समग्र,* विलासपुर, विलासा कला मंच प्रेस क्लब।
83. राजकिशोर (2000), *"तीन नयें राज्यों में आखिर नया क्या होगा?",* अमर उजाला, अगस्त 22।

जानकारियां प्राप्त होती है। अनिल कुमार द्विवेदी और नरेन्द्र भारद्वाज के लेखों में बोड़ोलैण्ड, गोरखालैण्ड, झारखण्ड, बुन्देलखण्ड के आन्दोलन के संदर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। सोमनाथ यादव के ग्रन्थ से हमें छत्तीसगढ के विषय में प्रमाणिक जानकारी प्राप्त होती है। जबकि सुभाष कश्यप और प्रभात दत्त के लेखों में नये राज्यों के मांग का विश्लेषण वस्तुपरक ढंग से किया गया है।

शोध समस्या का निरूपण

भारत में क्षेत्रीयतावाद एवं उत्तरांचल आन्दोलन पर आधारित उप–क्षेत्रीयतावाद पर अध्ययनों की उपरोक्त सूची कभी न समाप्त होने वाली है। ये अध्ययन समस्या के विभिन्न पहलुओं पर सामाजिक वैज्ञानिकों के योगदान की तरफ इशारा करते हैं। उत्तरांचल पर ज्यादातर काम प्रकृति के वर्णन में हुआ; केवल थोड़ा सा अध्ययन विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से किया गया। इस क्षेत्र के आन्दोलन से संबंधित अध्ययन सामान्यतया ऐतिहासिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि तक सीमित रखे गये हैं। बहुत कम अध्ययन राजनैतिक वैज्ञानिकों द्वारा किया गया है, और कुछ ही आलोचकों ने इसे राजनैतिक दृष्टिकोण से देखने की कोशिश की और उस मांग को दूसरे छोटे राज्यों की मांग के समक्ष रखा। इसके विपरीत प्रस्तावित अध्ययन का लक्ष्य उन विभिन्न तत्वों का समग्र रूप से विश्लेषण करना है जो उत्तरांचल की क्षेत्रीय भावनाओं को विकसित करने का कारण बने। इसी संबंध में उन संभावित परिणामों का परीक्षण किया जाना चाहिए जो देश के अन्य क्षेत्रो में ऐसे दृश्य उत्पन्न करते हैं, विशेषकर हिन्दी भाषी राज्यों में।

इसी प्रकार क्षेत्रीयतावाद पर महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं किन्तु इस विषय पर जो भी कार्य किये गये हैं क्षेत्रीय असंतुलन की पृष्ठभूमि पर ही आधारित रहे हैं। जबकि आर्थिक तत्व के अतिरिक्त ऐसे अतिरिक्त तत्व भी होते है जो उस विशिष्ट क्षेत्र में लोगों को गतिशील बनाने के लिये नेतृत्व प्रदान कर सके और जो सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक और क्षेत्रीय राजनीति पर आधारित होते हैं। इसलिये यह रूचिपूर्ण होगा कि उन तत्वों का पता लगाया जाय जो एक विशेष क्षेत्र अथवा हिस्से के लोगों को क्षेत्रीयता की दृष्टि से गतिशीलता लाने के लिये आवश्यक हों। इसके साथ ही इस विषय पर जो भी पुस्तकें उपलब्ध हैं उनमें अधिकांश अध्ययन सीमित और एकांगी दृष्टिकोण लिये हुए हैं, अर्थात् उनमें क्षेत्रीयतावाद के नकारात्मक पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया गया है। जबकि प्रत्येक वस्तु के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पहलु होते हैं। इसलिये इस शोध प्रबन्ध में क्षेत्रीयतावाद, उप–क्षेत्रीयतावाद एवं संदर्भित सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलुओं को समग्र रूप में समाहित करते हुए तत्वों का एकीकृत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही शोध प्रबन्ध में क्षेत्रीयतावाद के उदाहरण स्वरूप उत्तराखण्ड आन्दोलन एवं राज्य गठन पर गहराई से प्रकाश डाला गया है, जो अन्य शोध प्रबन्धों में नहीं मिलता है।

उद्देश्य

शोध प्रबन्ध मूलतः पृथक राज्य आन्दोलन की मांग के पीछे छिपे कारणों और उनको दूर करने हेतु किन प्राविधियों का प्रयोग किया जाय को, उत्तरांचल के आन्द्रोलन के संदर्भ में ज्ञात करने का प्रयास है। यह परीक्षण भी मूल्यवान होगा कि वह आवश्यक तथा पर्याप्त दशायें कौन थीं जिनसे

उत्तरांचल की मांग के जन आन्दोलन को बिना किसी राजनैतिक दल के औपचारिक नेतृत्व द्वारा इतना तीव्र तथा सम्भव बना दिया। आर्थिक अलगाव तथा प्रशासनिक लापरवाही किसी बड़े राज्य में अवश्य होती है, लेकिन यह कभी भी पर्याप्त तत्व नही बनती है जो सत्ता पलट देती हो। आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले सामाजिक, आर्थिक, सामरिक–सास्कृतिक तत्वों का सम्मिलित तथा गंभीर विश्लेषण दूसरी जगह होने वाले विद्रोहों से तुलना करने में महत्वपूर्ण होता है। इसलिये यह रूचिपूर्ण होगा कि उन तत्वों का पता लगाया जाय जो (आर्थिक तत्व के अतिरिक्त) एक विशेष क्षेत्र अथवा हिस्से के लोगो को क्षेत्रीयता की दृष्टि से गतिशीलता लाने के लिये आवश्यक है। अन्य शब्दों में यह स्थापित किया जा सकता है कि आर्थिक तत्व एक आवश्यक तत्व हो सकता है लेकिन यह तत्व आकर्षण को सक्रिय बनाने के लिये पर्याप्त नहीं है, जब तक कि वहाँ के वस्तुपरक अथवा लक्ष्यपरक उन तत्वों को न समझा जाय जो क्षेत्रीय मुद्दों पर गतिशीलता लाने के लिये आवश्यक है।

जातीय और क्षेत्रीय समुदायों की अधिक स्वायत्तता प्राप्ति की लालसा समकालीन भारतीय राजनीति का एक तथ्य है। यह संवैधानिक प्रावधानों की सीमा और एक लम्बे समय तक राजनीतिक नेतृत्व द्वारा अपनाए गए अस्पष्ट रवैए और अवसरवादी रूख की देन है। इस मसले को राजनीतिक आवश्यकताओं के तहत किसी राज्य के गठन, काम चलाऊ संशोधनों अथवा विशेष संवैधानिक प्रावधानों जैसे तात्कालिक उपायों का सहारा लेकर हल नहीं किया जा सकता। भारतीय संघ की सत्ता– व्यवस्था के पूरे ताने–बाने पर पुनर्विचार करना होगा। लेकिन यह पुनर्विचार विकेन्द्रीकरण के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि हर स्तर को स्वायत्तता का हकदार बनाने के नजरिये से करना होगा।

इस बौद्धिक उत्सुकता के कारण निम्नलिखित प्रश्न उठाये जा सकते है, बहस की जा सकती है तथा आंशिक रूप से अध्ययन में उत्तर दिये जा सकते हैं।

1. उन तत्वों का पता लगाना जो राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में बाधक हैं और उन उपायों का निरूपण करना जिससे राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करने में सहायता मिले।
2. उन तत्वों का पता लगाना जो सामाजिक, आर्थिक अलगाव के अतिरिक्त हैं तथा संघीय व्यवस्था में विकेन्द्रीकृत ताकतों को बढ़ावा देते हैं। अर्थात् क्षेत्रीयतावाद की अभिवृद्धि के लिये जिम्मेदार सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन के विविध पहुलओं का निरूपण करना।
3. क्षेत्रीयतावाद की राजनीति को संगठित और प्रोत्साहित करने वालें तत्वों का पता लगाना। साथ ही, उन वर्गों का पता लगाना जहाँ से उन्हें सामाजिक अनुमोदन मिलता है और जिनके हितों की यह रक्षा करता है।
4. ऐसे कौन से तत्व थे जिन्होंने एक छोटे समय में उत्तरांचल के जनमानस को पृथक राज्य के लिये आन्दोलित कर दिया।
5. क्षेत्रीय आन्दोलन के संबंध में आम जनता के दृष्टिकोण का परीक्षण करना।
6. उन उपायों का निरूपण करना जिनकी सहायता से उग्र क्षेत्रीयतावाद या नकारात्मक क्षेत्रीयतावाद की भावनाओं को समाप्त किया जा सके।
7. उन तत्वों का विश्लेषण करना जिनसे राष्ट्रीय एकीकरण, विकास के प्रति प्रतिबद्ध स्वायत्तता

तथा सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद के मध्य समन्वय स्थापित कर राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में नवीन राज्यों का गठन उपयोगी सिद्ध हो सके। पृथक राज्य आन्दोलनों की मांग के परीक्षण के लिये द्वितीय राज्य पुनर्गठन आयोग की औचित्यता का परीक्षण करना , साथ ही नवीन राज्यों की स्थापना में होने वाले खर्चों की प्रतिपूर्ति के उपायों को जानना।

शोध प्रणाली

शोध कार्य हेतु प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों तथा आनुभाषिक पद्धति पर आधारित शोध प्रणाली का प्रयोग किया गया है। भारतीय राजनीति एवं राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषणात्मक अध्ययन झारखण्ड, छत्तीसगढ, पूर्वांचल, बुन्देलखण्ड बोडोलैण्ड, गोरखालैण्ड, विदर्भ की पृथक राज्य की मांग से संबंधित आन्दोलनों का सामान्य अध्ययन तथा उत्तरांचल पृथक राज्य आन्दोलन का विशिष्ट अध्ययन केस स्टडी पद्धति से करके इसके सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष के विश्लेषण के आधार पर किया गया है।

पृथक राज्य आन्दोलन एवं नयें राज्यो के निर्माण के संदर्भ में प्राथमिक आँकड़ों पर आधारित एक अध्ययन भी किया गया है, जिसमें पृथक राज्य आन्दोलन के कारणों, नये राज्यों के निर्माण, राज्य पुनर्गठन आयोग के गठन, नये राज्यों की स्थापना में पड़ने वाले प्रशासनिक और वित्तीय बोझ की प्रतिपूर्ति हेतु प्रस्तावित किये जाने वाले दीर्घगामी सुधार कार्यक्रम लागू किये जाने से संबंधित प्रश्नो को शामिल किया गया। प्रश्नावली का उत्तर प्राप्त करने के लिए उत्तरदाता के रूप में उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल स्थित उन 100 आम मतदाताओं का चयन रेण्डम पद्धति के आधार पर किया गया है, जिन्हें पृथक राज्य आन्दोलन के संबंध में सामान्य जानकारी थी। जिसका अध्ययन विश्लेषण अध्याय पाँच में किया गया है।

शोध प्रबन्ध पूर्ण करने हेतु दो बड़े ग्रंथगारों–जी0बी0पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद एवं तीन मूर्ति पुस्तकालय नई दिल्ली का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त बी0पी0मेमोरियल पुस्तकालय एवं केन्द्रीय पुस्तकालय इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद तथा राजकीय पुस्तकालय बाँदा का प्रयोग भी शोध कार्य हेतु किया गया है। इसके साथ ही आर्थिक नियोजन एवं विकास अनुभाग, उत्तरांचल सरकार देहरादून एवं पुस्तकालय आर्थिक एवं नियोजन विभाग, उ0प्र0 सरकार लखनऊ से भी उत्तरांचल पृथक राज्य आन्दोलन : एक विशिष्ट अध्ययन अध्याय हेतु परिचयात्मक एवं डाटा संग्रहण हेतु कुछ सामग्री एकत्रित की गई है।

उत्तरांचल से सम्बन्धित होने के कारण देहरादून और नैनीताल के समाचार पत्रों का उपयोग किया गया है। अखिल भारतीय स्तर पर राजनीति का विश्लेषण करने में राष्ट्रीय स्तर के दैनिक समाचार पत्र स्टेट्स मैन, द टाइम्स ऑफ इण्डिया, इंडियन एक्सप्रेस, द हिन्दुस्तान टाइम्स, राष्ट्रीय सहारा और दैनिक जागरण एवं क्षेत्रीय समाचार पत्र नैनीताल समाचार एवं हिमालय दर्पण तथा पाक्षिक/साप्ताहिक पत्रिकायें माया, इंडिया टूडे, मेनस्ट्रीम और क्षेत्रीय स्तर पर हिमालय टाइम्स, पर्वतवाणी एवं पहाड़ का प्रयोग किया है।

शोध प्रबन्ध की उपादेयता

आशा है कि यह शोध प्रबन्ध राजनीतिज्ञों, नीति–निर्माताओं, पृथक राज्य आन्दोलन के समर्थकों, बुद्धिजीवियों और शिक्षाविदों सभी के लिये समान रूप से उपयोगी साबित होगा। देश के सर्वांगीण विकास हेतु राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया और क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति मे सामंजस्य स्थापित करने में यह चिन्तन सहायक सिद्ध होगा। साथ ही, भविष्य में अन्य शोधार्थियों को शोध कार्य हेतु यह नये मार्ग प्रशस्त करने में सहायक सिद्ध होगा।

उम्मीद है कि क्षेत्रीयतावाद का यह विश्लेषण जातिवाद, भाषावाद और साम्प्रदायिकता जैसी अन्य ऐसी ही विभाजनकारी परिघटनाओं पर भी विस्तृत रूप से लागू और प्रमाणिक सिद्ध होगा। यद्यपि इन प्रवृत्तियों के कतिपय भिन्न और विशिष्ट लक्षण है, फिर भी इनकी अनेक विशेषतायें और संरचनात्मक लक्षण साथ ही इनके सामाजिक मूल और प्रकार्य ऐसे हैं जो क्षेत्रीयतावाद में भी मिलते हैं। इन क्षेत्रों में प्रायः एक सी सामाजिक प्रवृत्तियॉ दिखाई देती हैं। इतना ही नहीं, ये वाद प्रायः एक दूसरे का स्थान उसी प्रकार ग्रहण कर लेते हैं जिस प्रकार कुर्सी बदलने के खेल में कुर्सियाँ बदल जाती है। इसलिये भी इसे अध्ययन का विषय बनाया गया है।

अध्ययन का प्रस्तुतीकरण

शोध प्रबन्ध आठ अध्यायों और छः परिशिष्टों में प्रस्तुत किया गया है, जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा निम्नवत है–

शोध प्रबन्ध की पृष्ठभूमि, किये गये पूर्व अध्ययन, शोध समस्या का निरूपण, उद्देश्य, अपनाई गयी शोध प्रणाली और शोध प्रबन्ध की उपादेयता अध्याय एक "पृष्ठभूमि, शोध समस्या का निरूपण और शोध प्रबन्ध की प्रासंगिकता" में प्रस्तुत की गई है।

"राष्ट्रीय राजनीति और भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या" के अन्तर्गत भारतीय राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में भारतीय राष्ट्रीय राज्य के उदय और राष्ट्र राज्य के गठन के लिये अपनायी गयी कार्यनीतियों पर अध्याय दो में चर्चा की गई है। साथ ही उन शक्तियों पर भी नजर डाली गई है, जिन्होंने राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को चुनौती दी है। इसके पश्चात् राष्ट्रीय एकीकरण से जुड़े प्रश्नों पर चर्चा की गई है और बताया गया है कि राष्ट्रीय एकीकरण अनिवार्य रूप से राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया है और किस प्रकार विभिन्न शक्तियाँ यथा– साम्प्रदायिकता एवं पंथवाद, जातिवाद, भाषावाद, आर्थिक असन्तुलन एवं क्षेत्रीय विषमता, राजनीतिक दलों की विघटनकारी भूमिका आदि भारत के राष्ट्रीय एकीकरण को चुनौती देती हैं।

अध्याय तीन– "भारत मे क्षेत्रीयतावाद" के अन्तर्गत क्षेत्रीय प्रादेशीय राजनीति के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं की विवेचना की गई है। इसका प्रारम्भ विशेषकर भारतीय राजनीति के संदर्भ में क्षेत्र और क्षेत्रीयतावाद की अवधारणाओं की व्याख्या से किया गया है। इसके पश्चात् क्षेत्रीयतावाद के विकास का विवेचन स्वतन्त्रता से लेकर अब तक चार महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं के संदर्भ में किया है। भारत में क्षेत्रीयतावाद के भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तथा प्रशासनिक आधारों का विश्लेषण भी किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि किस प्रकार

भाषा और आर्थिक वंचन क्षेत्रीयतावाद की अभिवृद्धि मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। तत्पश्चात् क्षेत्रीयतावाद की अभिवृद्धि में सहायक कारको यथा– राष्ट्रीय चेतना की विफलता, सामाजिक और बौद्धिक पिछड़ापन, नैतिकता का अभाव और सामाजिक अवरोध, राष्ट्रीय नेतृत्व में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति और राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अभाव का इस दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है कि किस प्रकार से ये कारक क्षेत्रीयतावाद की अभिवृद्धि में अपना योगदान करते हैं।

अध्याय चार– "भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के आयाम" के अन्तर्गत भारत में क्षेत्रीयतावाद के स्वरूपों– प्रदेश स्वायत्तता के लिये मांग, बहु प्रदेश क्षेत्रीयतावाद, अन्तर प्रदेश क्षेत्रीयतावाद और अन्तः प्रदेश क्षेत्रीय राजनीति अथवा उप क्षेत्रीयतावाद पर संक्षिप्त दृष्टि डालते हुए उप–क्षेत्रीयतावाद के तीनों महत्वपूर्ण पहलूओं (आयामों)– भाषायी क्षेत्रीयतावाद, साम्प्रदायिक क्षेत्रीयतावाद और संरक्षणात्मक या सामाजिक–आर्थिक क्षेत्रीयतावाद की विस्तृत विवेचना की गई है। भाषायी क्षेत्रीयतावाद का प्रारम्भ भारतीय राजनीति के संदर्भ में भाषावाद की अवधारणा की व्याख्या से किया गया है। इसके पश्चात् भारत में भाषायी राजनीति के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की विवेचना की गई है। इस बात का भी विवेचन किया गया है कि किस प्रकार इससे जनमानस की भाषायी आकांक्षाओं को तृप्ति मिली साथ ही, इससे किस प्रकार से अपने प्रकार की अनेकों समस्यायें भी पैदा हुयीं।

साम्प्रदायिक क्षेत्रवाद के अन्तर्गत स्वतन्त्र भारत में चलाया गया इस प्रकार का एक मात्र आन्दोलन जो कि पंजाब मे अकाली दल द्वारा आनन्दपुर प्रस्ताव की आड़ में चलाया गया खालिस्तान आन्दोलन था का विवेचन किया गया है और देखा कि किस प्रकार पृथक स्वतन्त्र सिक्ख राज्य की स्थापना के लिये पृथकतावादी तत्व क्रियाशील हुये और किस प्रकार उन्हें इस हेतु विदेशों से सहायता मिली। यहाँ पर इस बात की भी विवेचना की गई है कि किस प्रकार दृढ़ इच्छा शक्ति के बल पर भारतीय राजसत्ता ने राष्ट्र और समाज के समक्ष उपस्थित सबसे शक्तिशाली और वास्तविक खतरे को साफ करने में सफलता पायी।

संरक्षणात्मक क्षेत्रीयतावाद के अन्तर्गत सर्वप्रथम इस बात की विवेचना की गई है कि किस प्रकार क्षेत्रीय विषमता और इसी के चलते भारत के विभिन्न भागों यथा–महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और पूर्वोत्तर भारत में अनेक आन्दोलन चलाये गये और इन आन्दोलनों द्वारा क्षेत्र के मूल निवासियों के साथ विशिष्ट व्यवहार और शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय आदि के क्षेत्र में इन्हें प्राथमिकता देने की मांग की गई। इस बात का भी विश्लेषण किया है कि किस प्रकार आर्थिक धरातल पर स्वतन्त्र पूंजीवादी विकास ने और राजनीतिक स्तर पर राज्य एवं राजनीतिक नेतृत्व द्वारा सत्ता में बने रहने के लिये क्षेत्रीयतावाद की ऐसी आवोहवा को पनपाने में मदद की गई।

अध्याय पाँच– "भारत में क्षेत्रीय आन्दोलन" के अन्तर्गत सर्वप्रथम स्वतन्त्रता पूर्व भारत में क्षेत्रीय आन्दोलनों का विवेचन कर भारत में क्षेत्रीय आन्दोलन के उत्स को खोजने का प्रयास किया है। इसके लिये भारत में जातीय चेतना पर आधारित और धर्म पर आधारित क्षेत्रीय राजनीति का विश्लेषण किया है। तत्पश्चात् स्वाधीन भारत में देशी रियासतों के एकीकरण पर दृष्टिपात करते हुयें भाषा पर आधारित राज्यों के पुनर्गठन की मांग की औचित्यता को परखनें हेतु विभिन्न आयोगों की

संस्तुतियों को दृष्टिगत रखते हुये 1956 में किये गये राज्यो के पुनर्गठन एवं तत्पश्चात् बनाये गये राज्यो की चर्चा की है। इसके बाद समकालीन भारत में पृथक राज्य से सम्बन्धित आन्दोलनों– छत्तीसगढ़, झारखण्ड, पूर्वांचल, बुन्देलखण्ड, बोडोलैण्ड, गोरखालैण्ड एवं विदर्भ का संक्षिप्त एव सारगर्भित अध्ययन उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, भौगोलिक अवस्थिति एवं पृथक राज्य की माग के औचित्य के संदर्भ में किया है और उन कारणों को तलाशने की चेष्टा की जिनकी वजह से सम्बन्धित राज्यों में पृथक राज्य आन्दोलनों की जड़े मजबूत हुयी हैं।

पृथक राज्यों के निर्माण से संबंधित विभिन्न प्रश्नों के संदर्भ में जनता का क्या मत है, यह जानने के लिये उत्तरांचल और उत्तर प्रदेश के आम मतदाताओं जिसमें राजनीतिक और अराजनीतिक कार्यकर्ता जिन्हें पृथक राज्य आन्दोलन के संदर्भ में सामान्य जानकारी थी का साक्षात्कार एक साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से लिया गया। उपरोक्त साक्षात्कार अनुसूची का संक्षिप्त विश्लेषण भी इस अध्याय के अन्त में किया गया है।

उत्तरांचल पृथक राज्य आन्दोलन का विशिष्ट अध्ययन अध्याय छः में किया गया है। जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम यह विश्लेषित किया गया है कि उत्तरांचल नाम उत्तराखण्ड की अपेक्षा अधिक उपयुक्त क्यों है तत्पश्चात् उत्तरांचल की भौगोलिक अवस्थिति एवं पारिस्थितिकी का विश्लेषण किया गया है। फिर उत्तरांचल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन करते हुये उत्तरांचल राज्य बनाने हेतु चले दीर्घकालीन आन्दोलन प्रक्रिया में आये मोड़ो और प्रमुख घटनाओं को लेखबद्ध करने का कार्य किया गया। यह भी देखा कि वहाँ के नागरिकों के द्वारा पृथक पर्वतीय राज्य की मांग क्यों की जा रही है। इसके लिये पृथक पर्वतीय राज्य के औचित्य का अध्ययन निम्न शीर्षकों एवं उप शीर्षकों– भौगोलिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक भिन्नता, आर्थिक पिछड़ापन तथा अपेक्षित विकास का अभाव, रोजगार के विकल्पों का अभाव और युवकों का पलायन, कृषि का पिछड़ापन, शैक्षणिक पिछड़ापन, बुनियादी सुविधाओं का अभाव, सड़क एवं रेल मार्ग का पिछड़ापन, औद्योगिक पिछड़ापन, राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से सामाजिक सुदृढ़ता की आवश्यकता तथा हिमालयी आर्थिकी के अनुकूल नियोजन की आवश्यकता के अन्तर्गत किया गया है। यहाँ पर उत्तरांचल राज्य का अन्य पर्वतीय राज्यों के सापेक्ष तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है जिससे पृथक पर्वतीय राज्य की मांग के औचित्य को सही प्रकार से समझा जा सके। तदुपरान्त नवगठित राज्य उत्तरांचल का सामान्य अध्ययन 23 चरों और उनके उपचरों को दृष्टि में रखकर किया गया है। इसके पश्चात् उत्तरांचल राज्य की आर्थिक सक्षमता का विश्लेषण उसकी प्राकृतिक सम्पदा एवं अर्थव्यवस्था (जिसमें भू/वन संसाधन, जल संसाधन और खनिज सम्पदा सम्मिलित है), कृषि व औद्योगिक सम्पदा के आधार पर किया गया। इस दिशा में भी झाकनें का प्रयास किया गया है कि उत्तरांचल को राज्य बने लगभग डेढ़ वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी उत्तरांचल का विकास उस तरह क्यों नहीं हुआ जिसकी अपेक्षा करकें वहाँ के लोगों ने इस राज्य के निर्माण के लिये कई दशकों तक संघर्ष किया। उत्तरांचल की भूगोल जनित संरचना और उसमें उपलब्ध संसाधनों को दृष्टि में रखते हुए आर्थिक नियोजन की सर्वथा नयी नीति बनाने हेतु उसकी दिशा क्या होना चाहियें, इसका एक प्रारूप भी प्रस्तुत किया ताकि उत्तरांचल के

निर्माण के बाद सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन के आकांक्षित परिणाम प्राप्त किये जा सके।

अध्याय सात– ''प्रथक राज्य आन्दोलन– पहचान का संकट : एक आलोचनात्मक मूल्यांकन'' के अन्तर्गत सर्वप्रथम क्षेत्रीयता या भाषायी देशभक्ति के मुद्‌दे का इस आधार पर परीक्षण किया गया है कि जो भाषायी क्षेत्रवाद राष्ट्रीय आन्दोलन में एक उपकरण के रूप में कार्य कर रहा था वही अचानक 50वें तथा 60वें दशक में पृथक राज्य का आधार क्यो हो गया । यहॉ पर यह भी देखा कि ज्यादातर मामलों में पुनर्गठन का आधार भाषायी उतना नही था जितना आर्थिक । यद्यपि बाद वाले आधार (आर्थिक) को गौड रूप में उठाया गया था । तत्पश्चात् देश में पृथक राज्य की मागो का वस्तुनिष्ठ परीक्षण करने में पाया कि पृथक राज्य आन्दोलन वास्तव मे लोगो की पहचान से जुड़े होते हैं। यद्यपि इसमें आर्थिक एवं अन्य कारक भी सम्मिलित रहते हैं । यहॉ पर यह भी देखा गया कि इस पहचान का निर्माण कैसे होता है और विभिन्न् प्रकार के सामाजिक, भाषायी तथा आर्थिक तत्वों का इस तरह की पहचान बनाने या न बनाने में क्या योगदान रहा है । इस बात का भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण से परीक्षण किया गया कि ऐसी क्या बात थी जिसने पहचान के निर्माण के लिए एक शक्तशाली ब्यवहार को सम्भव बनाया ।

अन्तिम अध्याय– ''निष्कर्ष एवं सुझाव'' में उपरोक्त अध्यायों के अन्तर्गत किये गये विश्लेषणात्मक एवं तथ्य परक अध्ययन के द्वारा जो भी निष्कर्ष परिलक्षित होता है उसको लेखबद्ध करने का प्रयास किया गया है और क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणामों से बचाव के लिये कुछ सुझाव भी दिये गये जिनका अनुपालन कर इसके नकारात्मक प्रभावों को काफी कुछ कम किया जा सकता है। इसके साथ ही यह भी बताया गया है कि सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद संघीयवाद को अधिक सफल बना सकता है। सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद या क्षेत्रीय स्वायत्तता राष्ट्रीय एकीकरण का विरोधी नहीं है और न ही इसका महत्व केवल विघटनकारी शक्ति के रूप में ही है। दोनो सृजनात्मक साझेदारी में रह सकते हैं। दोनो ही विकास के पक्ष में है। विकास के प्रति प्रतिबद्ध स्वायत्तता या सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद क्षेत्र के विकास पर जोर देता है जबकि राष्ट्रीय एकीकरण पूरे राष्ट्र के विकास पर जोर देता है और सभी क्षेत्रों का विकास राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिये सबसे जरूरी समझा जाता है। क्षेत्रीय स्वायत्तता या सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद का आधार यदि क्षेत्र का विकास है, तो वह राष्ट्र के लिये खतरनाक न होकर राष्ट्र भक्ति और राष्ट्र प्रेम के साथ सुसंगत होता है। मातृभूमि से प्रेम लोगों को जाति या धार्मिक समुदायों के प्रति खतरनाक वफादारी से अलग हटाकर एक सकारात्मक भूमिका भी निभा सकता है। किसी भी रूप में ले भारत जैसे विशाल, बहुसांस्कृतिक व विविधतापूर्ण देश मे क्षेत्रीयतावाद और उप क्षेत्रीयतावाद से बचा नहीं जा सकता। बचने की जरूरत केवल इसके नकारात्मक तत्वों से हैं। क्योंकि विकास के लिये प्रतिबद्ध क्षेत्रीय स्वायत्तता या सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद का अस्तित्व न केवल मूल राष्ट्रीय मनोभाव की अभिव्यक्ति के लिये महत्वपूर्ण व्यवस्था है वरन् राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के कारण यह अस्तित्व तर्क पूर्वक पैदा होता है।

द्वितीय अध्याय
राष्ट्रीय राजनीति
और
भारत में राष्ट्रीय एकीकरण
की समस्या

अध्याय–2

राष्ट्रीय राजनीति और भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या

भारत मे ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ से और 1858 में ब्रिटिश राजशाही का सार्वभौम शासन स्थापित होने से पूर्व अनेक छोटी–बड़ी राजनीतिक इकाइयां थीं। इन इकाइयों में अपनी सत्ता बनाये रखने और अन्य इकाइयों से अपनी रक्षा के लिये आपस में संघर्ष होता रहता था। ब्रिटिश काल से पूर्व भी हालांकि मौर्य, गुप्त, चोल और पांड्य जैसे बडे साम्राज्य थे, किन्तु ब्रिटिश शासकों द्वारा अपना प्रभुत्व कायम करने से पहले यहॉ भारतीय राज्य कहलाने योग्य कोई राष्ट्र नहीं था, क्योंकि इससे पूर्व भारत कभी भी राजनीतिक रूप से किसी शासन के नीचे संगठित नहीं हुआ था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारी कोई राष्ट्रीय अस्मिता नहीं थी। राजनीतिक रूप से एक रूप देने वाली क्षेत्रीय सीमायें न होने के बावजूद ऐसे अनेक तत्व थें जो देश में एकता की भावना पैदा करते थे। धार्मिक विश्वास, रीति–रिवाज और धार्मिक संस्थायें लोगों को एक होने की ताकत देते थे।[1] लेकिन यह चेतना राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र में पैदा नहीं हुई और इसीलिये हमारी राष्ट्रीय अस्मिता नहीं थी, जिन अर्थों में आज इसकी बात की जाती है। इसे हम ज्यादा से ज्यादा एक राष्ट्र के रूप में सांस्कृतिक समेकता कह सकते हैं। लेकिन इसे राजनीतिक समेकता नहीं कहा जा सकता।

भारत में राष्ट्रीयता का विकास और स्वतन्त्र भारत में राजनीति का स्वरूप

ब्रिटिश शासकों के विरूद्ध, हिंसक, अहिंसक, संवैधानिक अथवा असंवैधानिक, हर तरह के संघर्षो ने भारत में विभिन्न समूहों को एकजुट किया। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना ने यद्यपि हमें गुलामी दी, लेकिन इसके विरोध की भावना ने लोगों में आजादी की प्रक्रिया भी शुरू की। इसने हमें न केवल एक सांस्कृतिक एकता में, बल्कि राजनीतिक एकता के सूत्र में भी बांधा। इस प्रकार ब्रिटिश शासन की समाप्ति के प्रयासों के दौरान भारत में राष्ट्रीयता का उदय हुआ। भारत में राष्ट्रीयता के इस उदय में दो कारणों ने विशेष योगदान किया–

(1) एक सामान्य शत्रु की उपस्थिति अर्थात ब्रिटिश शासन, और

(2) समान सांस्कृतिक अस्मिता, जो भारत में बहुत समय से थी और जिसने भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित होने में सहायता की।

स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रमुख कार्य केवल ब्रिटिश शासकों से राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही नहीं था बल्कि एक आधुनिक राष्ट्र का विकास करना भी था। वे यह बात अच्छी तरह जानते थे कि राष्ट्रनिर्माण भी उतना ही जरूरी है जितना कि राजनैतिक स्वतन्त्रता। अतः विभिन्नता वाले अधिक से अधिक समूहों को संगठित करना, उनकी प्रमुख राजनैतिक गतिविधि थी। आजादी के बाद की राजनीति में भी यहीं बात दिखाई दी।

स्वतन्त्रता के साथ नई समस्यायें आयी। साम्प्रदायिक दंगों और उपद्रवों के शमन के साथ–साथ पाकिस्तान से उद्‌वासित लाखों आदमियों को बसाने का कठिन कार्य तथा तेलंगना में कम्युनिष्ट प्रेरित किसानों का बलवा, निजाम हैदराबाद के खिलाफ पुलिस कार्यवाही। सरकार को

1. कोठारी, रजनी (1990), *भारत में राजनीति*, नई दिल्ली, ओरियंट लाग्मैन, पृ0 21 ।

अंग्रेजी जमाने के सरकारी नौकरों और सेनाओं का विश्वास और वफादारी प्राप्त करनी थी। इसके अलावा साम्प्रदायिक शक्तियों को भी दबाना था, जो देश के विभाजन के बाद उमड आईं थीं। असन्तुष्ट प्रादेशिक और राजनीतिक समूहों को संतुष्ट करना था। सबसे बडा काम था देशी रियासतों को मिलाने का।[2] इसमें राजनीतिक कुशलता और संगठनपटुता की जरूरत थी। संक्षेप में नेताओं के सामने यह काम था कि देश को विघटित होने से बचायें और उसके विभिन्न भागों और तत्वों को मिलाकर एक राष्ट्र की रचना करें।

नेताओं की समझदारी और दूरदर्शिता की तारीफ है कि उन्होंने इन कठिन समस्याओं को काफी जल्दी सुलझा लिया। भारत के प्रथम गृहमंत्री बल्लभाई पटेल ने देशी रियासतों को भारत में मिलाने का काम बडी खूबसूरती से पूरा किया। इससे भी बड़ी सफलता उन्होंने देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने और प्रशासकीय तथा सैनिक सेवाओं की निष्ठा प्राप्त करने में पाई।

सन् 1950 में स्वीकृत किया गया संविधान, राष्ट्र निर्माण की दिशा में पहला कदम था। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और भौगोलिक विभिन्नता एवं भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखते हुये भारतीय संविधान में संघीय प्रणाली को अपनाया गया ताकि, हाल ही में नवस्वतन्त्र राष्ट्र में देशी रियासतों के विषय के पश्चात् नव संगठित राष्ट्र में जहॉ एक ओर राष्ट्रीय एकता की भावना को पुष्ट किया जा सके वहीं दूसरी ओर क्षेत्रीय विविधताओं को भी अपनी सम्मुन्नति हेतु उचित अवसर प्राप्त हो सके।

देश की एकता और मजबूती के साथ–साथ नेता वर्ग सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में देश की प्रगति के लिये भी उत्सुक था। अतः उन लोगों को, जो राष्ट्रीय राजनीति की मुख्य धारा से अब तक जुड नहीं सके थे, संगठित करने के उद्देश्य से, भारतीय शासन तन्त्र ने समाजवादी व्यवस्था अपनाकर राष्ट्र निर्माण के लिये एक और प्रयास किया। इस व्यवस्था से भी विघटनकारी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने में सहायता मिली। राजनीतिक नेताओं द्वारा उठाया गया दूसरा मुख्य कदम था– देश का आर्थिक पुनरूत्थान। आर्थिक गतिविधियों को नियन्त्रित करने के लिये पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण ऐसा ही एक कदम था। इसके लिये भारत सरकार ने योजना आयोग की स्थापना की ताकि देश के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले सम्भावित असन्तुलन और संसाधनों को देखते हुये योजनाओं को तैयार किया जा सके। बहुत थोडे समय में ही विकास के आयोजन, मूल्यांकन और परामर्श के लिये केन्द्रीय मशीनरी का विकास कर लिया गया।[3] इस तरह सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र की

---

2. भारत का जो भाग अंग्रेजों के शासन में था उसे ब्रिटिश भारत कहा जाता था। इसके अलावा देशी राजाओं के शासन मे करीब 500 छोटी–बडी रियासतें थीं। ये स्वतन्त्र राज्य नहीं, ब्रिटिश अधिपत्य के अन्तर्गत थे। किन्तु अंग्रेजो के हटने से भारत और पाकिस्तान को अपने आप इनके ऊपर आधिपत्य नहीं मिला। इसलिए देशी रियासतों को शेष देश में मिलाने की टेढी समस्या पैदा हुई।
3. सरकार की योजना और तथ्य संकलन की मशीनरी के बारे में देखिये– विलफ्रेड मेंडलबाय, 'हू इज द प्लानिंग' और मेरिल आर0गुडल का लेख : *"आर्गनाइजेशन आफ एडमिनिस्ट्रेटिव लीडरशिप इन द फाइव ईयर प्लैन्स"*, रिचर्ड एल पार्क और ईरेन टिंकर संपा० (1959), *लीडरशिप ऐंड पोलिटिकल इंस्टीट्यूशन्स इन इंडिया,* प्रिंस्टन यूनिय0 प्रेस, पृ0 301–28। राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में योजना के विशद अध्ययन के लिये देखें– ए0एच0 हैन्सन (1966), *द प्रोसेस आफ प्लानिंग,* लंदन ।

तरह आर्थिक क्षेत्र में भी राष्ट्रीय राजनीति ने विभिन्न क्षेत्रों के बीच मेलजोल रखने और टकराव टालने की नीति अपनायी गयी। इस नीति से उन्हें उपर्युक्त समस्याओं को सुलझाने में बड़ी मदद मिली। नेहरू ने सन् 1952 में इस बात को यों कहा था, "इस नाजुक समय में मैं देश की एकता को सर्वोपरि समझता हूँ। जब तक इस एकता की नींव पक्की न हो जाए, हमें ऐसी कारवाई से बचना चाहिये, जो इसमें बाधक हों।"[4]

भारतीय राष्ट्रीय सरकार ने वितरण के लिये वस्तुओं की उपलब्धता पर ध्यान देने के साथ–साथ वितरण के विषय में न्याय पर भी ध्यान दिया। साथ ही, नियन्त्रण की दृढ़ व्यवस्था को समाप्त करने के लिये भी प्रयास शुरू किये गये। इस तरह राष्ट्र निर्माण के हमारे प्रयासों में केवल विकास के लक्ष्य ही शामिल नहीं थे बल्कि समानता और सामाजिक न्याय प्राप्ति के लक्ष्य भी शामिल थे। यद्यपि ये कार्य आर्थिक और सामाजिक विकास के उद्देश्य से किये गये, फिर भी इनसे संघर्ष के कुछ ऐसे कारण दूर हुए, जो उग्र होकर देश की एकता को नुकसान पहुंचा सकते थें। श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिये जो कानून बनाये गये तथा कांग्रेसजनों ने मजदूर संघों के कार्य में जो रूचि ली थी, उससे औद्योगिक संघर्षों को रोकने में मदद मिली। इसी तरह अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों को शिक्षा और सरकारी नौकरियों में जो विशेष संरक्षण दिये गये और उनकी सामाजिक स्थिति को सुधारने की जो कारर्वाइयां की गईं, उससे ऊँची जातियों से उनका संघर्ष टला। जमींदारी और सामंती अधिकारों के उन्मूलन से भी संघर्ष का एक बड़ा कारण दूर हुआ।

स्वतन्त्रता के प्रथम दशक में देश के सूत्रधारों ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया। यह था भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन। अंग्रेजों ने सामाजिक और सांस्कृतिक आधारों की उपेक्षा करके केवल शासन की सुविधा के ख्याल से प्रान्तों का निर्माण किया था।[5] राष्ट्रवादियों को यह बात पसन्द न थी और राष्ट्रीय आन्दोलन के समय कई बार कांग्रेस ने भाषावार प्रान्तों की स्थापना का निश्चय प्रकट किया था।[6]

4. '*स्पीचेज ऑफ जवाहर लाल नेहरू 1949–53* (भारत सरकार, दिल्ली, 1954) सघर्ष बचाने के विषय पर 'सेमिनार' (नई दिल्ली) 63, नवम्बर 1964 में देखियें जितेन्द्र सिह का लेख "*ए न्यू लेजिटिमेसी*'। उद्धत कोठारी, रजनी (1990), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 81 ।
5. इस शताब्दी में अंग्रेजों ने प्रान्तों की रचना भाषा और संस्कृति के आधार पर करने के सिद्धान्त के महत्व को स्वीकार किया और बिहार, उड़ीसा, आसाम और सिंध (अब पाकिस्तान में) के नये प्रान्त इसी प्रकार के थे। 1918 की मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट और 1930 की साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भी भाषावार प्रान्तों की स्थापना की सिफारिश की गयी थी।
6. 1921 में कांग्रेस ने अपनी प्रदेश शाखायें इसी आधार पर स्थापित की थी। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद जो कठिन समस्यायें आयीं उनके कारण कांग्रेस राज्यों के इस प्रकार के पुनर्गठन पर ध्यान न दे सकी और कुछ यह भी ऊहापोह होने लगा कि भाषावार राज्य बनाना उचित है या नहीं। यद्यपि नवम्बर 1947 में नेहरू ने संविधान सभा में भाषावार प्रान्तों के सिद्धान्त को स्वीकार किया था, लेकिन संविधान सभा द्वारा नियुक्त भाषावार प्रान्त कमीशन (धर कमीशन) ने भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन का कड़ा विरोध किया, इसलिये संविधान में ऐसे पुनर्गठन की व्यवस्था नहीं की गई।

नेताओं और भारत से सहानुभूति रखने वाले राजनीतिक पर्यवेक्षको की आशंकाओं के[7] बावजूद पुनर्गठन से भारत का राजनीतिक नक्शा अधिक सुसंगत हो गया और राष्ट्र की एकता को भी खास नुकसान नहीं पहुंचा।[8] बल्कि इससे लाभ यह हुआ कि झगडे का एक कारण दूर हुआ और राज्यों का कामकाज ऐसी भाषा में होना सम्भव हुआ, जिसे जनसाधारण समझ सकें। बल्कि बाद के अनुभव से तो यह कहा जा सकता है कि भाषा जोडनेवाली शक्ति सिद्ध हुई।[9] यदि इसमें कोई आशंका की बात है तो यही कि उपभाषाओं और स्थानीय संस्कृतियों के आधार पर राज्यों के टुकड़े न हो जाएँ।[10]

इस प्रकार पहले दशक में भारतीय राष्ट्र का संवैधानिक प्रादेशिक और विकास का ढॉचा तैयार किया गया। जहाँ संविधान की व्यवस्था में संशोधन की जरूरत पड़ी वहाँ संशोधन किये गये, जैसे राज्यों का पुनर्गठन, योजना आयोग की स्थापना और भूमि सुधार के लिये सम्पत्ति सम्बन्धी अनुच्छेद का संशोधन। अब इन कारकों को देखें, जिन्होंने राष्ट्र निर्माण के हमारे प्रयासों को चुनौती दी।

राष्ट्र निर्माण के प्रयासों को चुनौती देने वाली शक्तियाँ

राष्ट्र निर्माण और समानता एवं सामाजिक न्याय के उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयासों में रूकावट डालने वाले एक–दूसरे से मिले–जुले अनेक कारण हैं, जिनमें से तीन शक्तियां प्रमुख हैं :

(1) भारतीय समाज में समूहों की विभिन्नता;

(2) क्षेत्रीय और सांस्कृतिक भिन्नता; और

(3) जातिवाद ।

---

7. मौरिस जान्स जैसें यर्थाथवादी आलोचकों को भी इस विषय में आशका थी। आन्ध्र में उन्हें जाति और क्षेत्रो के झगड़े दिखाई पड़े। देखें *पार्लमेंट इन इंडिया* (लंदन 1957)। लेकिन आन्ध्र उन राज्यों में है जहां कांग्रेस का प्रभाव है, जो उनके झगड़ों पर अंकुश रखता है। तेलगू के उपयोग के कारण आन्ध्र में किसान वर्ग के नेताओं को उभरने का मौका मिला है। इससे अंग्रेजी पढ़े शासन वर्ग में घबराहट है जो अंग्रेजी को देश की एकता का सूत्र समझता है। इस विचार के प्रतिपादन के लिये देखियें– सेलिंग, हैरिसन (1960), *इंडिया द मोस्ट डेजरेस डिकेड्स,* प्रिस्टन यूनिय0 प्रेस, पृ0 860 ।

8. भारत के संविधान में राज्यों की तीन श्रेणियाँ थीं– 'ए' में भूतपूर्व अंग्रेजी शासन के प्रान्त थे; 'बी' में भूतपूर्व देशी रियासतें तथा 'सी' में केन्द्र शासित प्रदेश। राज्यों के पुनर्गठन के बाद केवल दो वर्ग रह गये : राज्य और संघ शासित क्षेत्र।

9. भाषा के प्रश्न के कुछ और पहलू हैं जो राष्ट्र की एकता के लिये खतरनाक हैं। इनमें सबसे बड़ा महत्व का प्रश्न है राजभाषा और क्षेत्रीय भाषाओं का द्वन्द और अंग्रेजी का स्थान। इस विषय का विवेचन इसी अध्याय में आगें किया गया है।

10. राज्य पुनर्गठन आयोग ने जनभावना का ध्यान रखते हुयें एक भाषा एक राज्य की सिफारिश की थी (हिन्दी भाषी राज्यों को छोड़कर)। वास्तव में इसका कोई कारण नहीं कि हिन्दी राज्यों की तरह अन्य भाषाई क्षेत्रों में भी एक से अधिक राज्य क्यों न हों। बाद के अनुभव से पता चला है कि भाषा के अलावा अन्य बातें भी है जो राजनीतिक एकता, प्रशासनिक कुशलता और आर्थिक विकास को प्रभावित करती है। इस विषय पर देखें– श्री निवास (नवम्बर 16, 1967), *"द फ्यूचर आफ फिशन"*, नई दिल्ली, टाइम्स आफ इण्डिया और कोठारी, रजनी, (फरवरी 10, 1968), *"नेशनल यूनिटी इन डेंजर: केस फार स्मालर यूनिट्स"*, नई दिल्ली, टाइम्स आफ इण्डिया। इस प्रश्न पर आगे इसी अध्याय में विचार किया गया है।

भारत एक बहुजातीय समाज है और यह विभिन्न समूहों को लेकर बना है। भारतीय राष्ट्र को सबसे बडा खतरा इसी विभिन्नता से है। भारतीय समाज धर्म, जाति, भाषा और वर्ण के आधार पर बंटा हुआ था और आज भी बंटा हुआ है। यहाँ तक कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान भी, जब विभिन्न समूह प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन को समाप्त करने के लिये एकजुट हो गये थे, तब भी विभाजक प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से उभरी थीं।

भारत में राष्ट्रीय नेताओं को आज भी इस गम्भीर चुनौती का सामना करना पड़ रहा है कि विभिन्न समूहों के हितों को किस तरह परस्पर जोड़कर रखा जाय। प्रत्येक समूह की अपनी आकांक्षाए, इतिहास और रहन–सहन होता है। परस्पर विरोधी समूहों में टकराव कम करने के प्रयास हमेशा सफल नही होते। जैसा कि पहले भी देखा गया है, विभिन्न विभाजक प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने की नीति के रूप में समाज में समानतावादी आदर्श अपनाना एक महत्वपूर्ण कार्यनीति है। लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि इन विभिन्न समूहों को देश के लिये खतरा न बनने दिया जाय।

राष्ट्र–निर्माण के कार्य के दौरान क्षेत्रीयता की चुनौती भी सामने आयी। हमारे देश की राजनीति में अभी भी क्षेत्रीय अस्मितायें उठ खडी होती हैं। यह भाषा के आधार पर प्रदेशों के गठन से भी स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त विभिन्न अंचलों से की जा रही पृथक राज्य की मांग से भी क्षेत्रीयता की भावना स्पष्ट होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि क्षेत्रीय अस्मिता पर ध्यान ही न दिया जाय। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि क्षेत्रीयता को पूरी तरह पनपने नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह विघटन को बढ़ावा देती है। राष्ट्र ने पहले भी ऐसी समस्याओं का सामना किया है और समाधान की प्रक्रिया ने शासन–तंत्र में क्षेत्रीयता को अपने में समेटे रहने की क्षमता दी है। समाधान की राजनीति ने जहाँ एक ओर अनेक समूहों के विभिन्न हितों को राष्ट्रीय ढाँचे में शामिल कर लिया है वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय राज्य की सफलता के बावजूद विभिन्न संस्कृतियों ने अपनी अलग अस्मिता को बनाये रखा।

वास्तव में, राष्ट्रीय स्तर की राजनीति ने क्षेत्रीय और सांस्कृतिक अस्मिता को मान्यता दी और यहां तक केन्द्र सरकार ने उन्हें कानूनी स्वीकृति भी दी। भारत ने अठारह भाषाओं को राष्ट्रीय भाषा के रूप में मान्यता दी है। इसकी प्रत्येक राज्य सरकार को अपनी क्षेत्रीय भाषा में कामकाज करने का अधिकार दिया है। यह अल्पसंख्यकों की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों में हस्तक्षेप नहीं करती। कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि यह अल्पसंख्यकों को अधिक सुविधायें देती है। ऐसा विचार रखने वालों की संख्या बहुत कम नहीं है। लेकिन कुछ ऐसे भी लोग हैं जो अल्पसख्यकों के अधिकारों की रक्षा को राष्ट्र की एक प्रमुख उपलब्धि मानते हैं। इससे राष्ट्रीय राज्य संगठित रहता है और राजनीतिक एकता बनती है।

जाति भारतीय समाज की एक अन्य महत्वपूर्ण संस्था है। राजनीतिक क्षेत्र में इसकी विशेष भूमिका की उत्पत्ति हाल ही में हुई है। आज राजनीतिक जोड़–तोड़ में जाति प्रमुख आधार बन गयी है। जाति लोगों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यही कारण है कि राजनीति में इसने अपनी जगह बना ली है। जाति की संस्था के राजनीतिकरण होने से भारत की राजनीतिक प्रक्रिया ने एक नया रूप अपना लिया है। भारत में राजनीतिक दलों का गठन जाति के आधार पर

हुआ और जाति के आधार पर ही भारत के निर्वाचक मण्डल को आधार बनाया जा सकता है। समानता पर आधारित समाजवादी सिद्धान्त से मेल न खाने के कारण इसकी भूमिका को राष्ट्रीय राजनीति में एक बुराई और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को चुनौती देने वाला एक प्रमुख कारण समझा जाता है। इसके बावजूद लोगों को एकजुट करने के किसी अन्य विकल्प के अभाव में जाति भारत की राष्ट्रीय राजनीति में निश्चित भूमिका निभाती है।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि राष्ट्र–निर्माण का कार्य कोई आसान कार्य नहीं है और राजनीतिक अस्मिता बनाने के लिये राष्ट्रीय एकीकरण जरूरी है; अर्थात नये राजनैतिक केन्द्र बिन्दु की स्थापना और दृढ़ीकरण, उसका बर्हिमुख प्रस्तर, विभिन्न संस्थाओं का पल्लवन और विविधता को एक सूत्र में संग्रहण कर एक राष्ट्र का निर्माण।[11]

भारत में एकीकरण की समस्या केवल बहुमत और अल्पसंख्यकों के बीच सांमजस्य स्थापित करने तक सीमित नहीं है। समस्या अन्तरधर्मी, अन्तराधर्मी, अन्तरजातीय, अन्तराजातीय, अन्तरराज्यीय और अन्तराराज्यीय दोनो ही प्रकार की है।[12] भारतीय समाज के परम्परागत स्वरूप के कारण लोगों की स्थानीय प्रतिबद्धता अत्यधिक प्रबल है। इस कारण लोगों की राजनीतिक संस्कृति विखण्डित है। विभिन्न सामाजिक घटक एक–दूसरे को विपरीत दिशाओं में खींच रहे हैं और वृहद् पैमानें पर एक–दूसरे के विरूद्ध हिंसारत हैं। इन परस्पर विरोधी हितों के बीच समन्वय स्थापित करना भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की सबसे गम्भीर समस्या है। जैसा कि नेहरू ने कहा था, "मेरे जीवन का मुख्य ध्येय भारत का एकीकरण है।" यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि भारत एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया से गुजर रहा है। मगर मुख्य बात यह है कि एकीकरण के लिये तरीका क्या अपनाया जाय। इस तरीके में दो बातें हैं– एक सरकार और सरकारी या शासन दल की गतिविधियों के द्वारा देश में एकता की स्थापना और उसका दृढ़ीकरण। दूसरे, देश के विभिन्न तत्वों के अधिकारों और हितों का संरक्षण और मान्यता एवं उनकों राष्ट्रीय जीवन और राजनीतिक व्यवस्था में शामिल करना। भारत की राजनीतिक एकता में राष्ट्रीय सरकार की प्रधानता और अन्य हितों व अल्पसंख्यकों के प्रति समझौतें और निभाव की भावना, इन दो प्रवृत्तियों का मुख्य योग है।[13]

राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ

समाज के विभिन्न भागों के समन्वित विकास की प्रक्रिया को राष्ट्रीय एकीकरण कहते हैं। एकीकृत समाज में सामाजिक संस्थाओं और उनसे जुड़े मूल्यों को ऊँचे दर्जे की सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विविधताओं का अन्त करके पूरे देश में एक धर्म या एक भाषा लागू कर दी जाये। एकीकरण से तात्पर्य विलय नहीं है, वरन् विविधताओं को इस तरह बनायें रखना है कि उनसे देश का अस्तित्व खतरे में न पड़ने पाये। इसका अर्थ है कि प्रत्येक वर्ग या समूह स्वतन्त्र और न्यायपूर्ण ढंग से अपने हितों को सुरक्षित और विस्तृत कर सकें, लेकिन इस तरह से कि दूसरे समूहों के हितों का अपहरण भी न हो। साथ ही, यह भी देखना है कि कोई भी व्यक्ति या समूह अपने लाभ या हित के लिये राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा न करने पाये। एकीकरण की

11. कोठारी, रजनी (1990), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 201 ।
12. सईद, एस0एम0 (1998), *भारतीय राजनीतिक व्यवस्था,* लखनऊ, सुलभ प्रकाशन, पृ0 366 ।
13. कोठारी, रजनी (1990), पूर्व उद्धत कृति,, पृ0 201।

अवधारणा इस बात पर आधारित है कि राष्ट्र का हित व्यक्ति, समूह अथवा क्षेत्रीय हितों से ऊपर है। राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ है कि व्यक्तिगत हितों और राष्ट्रीय हितों के बीच सामन्जस्य स्थापित करना और ऐसे वातावरण का सृजन करना जिसमें कोई व्यक्ति या समूह केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा न करने पाये तथा किसी अन्य वर्ग या समूह का शोषण भी न करे।

राष्ट्रीय एकीकरण सम्मेलन द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण को इस प्रकार परिभाषित किया गया है: ''यह एक मनोवैज्ञानिक और शैक्षणिक प्रक्रिया है जिसमें लोगों के भीतर एकता, सामंजस्यता, तारतम्यता की भावना का विकास सामान्य 'नागरिकता और राष्ट्र के प्रति विश्वसनीयता सम्मिलित है।''[14] राष्ट्रीय एकता या एकीकरण वह मकान नहीं है जो चूने व ईटों से बनाया जाता है। यह एक औद्योगिक योजना भी नहीं है जिस पर विशेषज्ञ विचार–विमर्श करें और उसे क्रियान्वित करें। एकीकरण, इसके विपरीत, एक विचार है जो लोगों के मस्तिष्क में विकसित होना चाहिए। यह वह चेतना है जो व्यापक स्तर पर लोगों को जागृत करती है। राष्ट्रीय एकीकरण में निहित है परस्पर लगाव एवं एक साथ रहने की व एकता की भावना। इसका अर्थ है देश में एक ऐसा सामाजिक व धार्मिक वातावरण का निर्माण करना जिसमें सभी नागरिक जो धर्म व सामाजिक प्रतिष्ठा के भेदभाव रहित शान्तिपूर्ण जीवन बिता सकें, जो एक सुदृढ़ व एकीकृत देश बनाने के लिये समान्य उद्देश्य के प्रति समर्पित हो। राष्ट्रीय एकीकरण से विभिन्नता में एकता अभिव्यक्त होती है जिसमें सभी तत्वों को समान महत्व का माना जाता है और वे अन्तःनिर्भर होते हैं। राष्ट्रीय एकीकरण से सम्बन्धित किसी भी विचार–विमर्श में एकता व विभिन्नता दोनो का सम्मान किया जाता है क्योकि यदि केवल एकता होगी तो एकीकरण की आवश्यकता नहीं होगी और यदि केवल विभिन्नता होगी तो एकीकरण सम्भव नहीं होगा। एकीकरण का अर्थ विभिन्नता को समानता में बदलना नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया का अर्थ है विभिन्नताओं को एकता में सहायक होना जिसमें सभी विभिन्नताएं और विचित्रतायें सुरक्षित रहती है।

वस्तुतः राष्ट्रीय एकीकरण में राष्ट्र निर्माण और राज्य निर्माण सम्मिलित है, जिसका आशय एक ओर उन सीमाओं को दूर करने से है, जो समाज को जातीय, जनजातीय, साम्प्रदायिक, प्रजातीय, भाषायी अथवा क्षेत्रीय आधारों पर विभाजित करती है और दूसरी ओर इसका अभिप्राय क्षेत्रीय अखण्डता से है। इसे एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें विभिन्न समूहों व उपसमूहों में देशभक्ति की चेतना और राष्ट्रनिर्माण की भावना हो, जिससे सभी का हित, एकजुटता, पहिचान और सहभागिता उपलब्ध हो सके। राष्ट्रीय एकीकरण का निहितार्थ उन पृथकतावादी गतिविधियों का त्याग करना है जिनसे देश खण्डित हो और समाज में उन प्रवृत्तियों को ग्रहण करना है जो निहित स्वार्थों की अपेक्षा राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता देती हो। उक्त से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय एकीकरण में निम्नांकित तीन बातें निहित होती हैं–

(क) यह सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से विभिन्न समूहों को एक क्षेत्रीय इकाई के रूप में गठित करने और एक राष्ट्रीय पहचान के निर्माण की प्रक्रिया है।

14. उद्धत, लाल, नन्द (जून 1993), *"भारत में राष्ट्रीय एकीकरण : स्वरूप, समस्यायें एवं सम्भावनायें"*, प्रतियोगिता दर्पण, आगरा, उपकार प्रकाशन, पृ0 1421 ।

(ख) इस प्रक्रिया में उन अधीन राजनैतिक इकाइयों व क्षेत्रों पर राष्ट्रीय केन्द्रीय सत्ता स्थापित की जाती है जो अपने निजी सांस्कृतिक व सामाजिक समूहों में बंटकर एकता रखने में समर्थ या असमर्थ हों।

(ग) यह एक सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिये न्यूनतम् मूल्य सहमति निर्माण की प्रक्रिया है, चाहे इसका सम्बन्ध मूल्यों की स्वीकृति से हो अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति से।

राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक तत्व

भारत में स्वतन्त्रता के बाद जिस राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना की गयी उसकी प्रमुख विशेषता राजनीतिक तन्त्र में जनसाधारण का सक्रिय रूप से भागीदार होना है। किन्तु उस प्रतियोगी राजनीति ने व्यक्तिगत स्वार्थ को बढ़ावा दिया और समूह चेतना को विकसित किया। राजनीतिक आधुनिकीकरण के फलस्वरूप एक ओर, धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हुई और दूसरी ओर धार्मिक और जातीय जागरूकता को प्रोत्साहन मिला। परिणाम यह हुआ कि विभिन्न धार्मिक भाषायी, जातीय और क्षेत्रीय समूहों के बीच ही टकराव प्रारम्भ हो गया और इसने एक गम्भीर राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर लिया। भारत में भाषावाद, साम्प्रदायिकता, सामाजिक असमानता, क्षेत्रीय विषमतायें, आदि कुछ ऐसे कारण है, जो राष्ट्रीय एकीकरण के आदर्श के लिये खतरा है और जिनसे समाज के विभिन्न वर्गों के बीच खाईं बढ़ती जा रही है। राष्ट्रीय एकीकरण की इस समस्या को जन्म देने में निम्नलिखित तत्व मुख्यरूप से उत्तरदायी रहे हैं–

(क) भाषावाद– भारतीय समाज के विभाजन का एक महत्वपूर्ण कारण भाषा है। हमारे देश में सैकड़ों भाषायें बोली जाती हैं[15], जो कि राजनीतिक जोड़–तोड़ करने के लिये एक महत्वपूर्ण माध्यम सिद्ध हुई। उदाहरण के लिये दक्षिण भारत विशेषकर तमिलनाडू में इसें सत्ता प्राप्ति के साधन के रूप में अपनाया गया। भाषा समाज में एकीकरण और विखण्डन दोनो की ही भूमिका निभा सकती है। भारत में इसकी विखण्डनकारी भूमिका ही अधिक रही है। कनाड़ा, बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड या सोवियत रूस का उदाहरण यहाँ लागू नहीं होता। 19वीं सदी में यूरोप में भाषा के आधार पर जिस प्रकार जर्मनी इटली आदि राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ, वह भी भारत पर लागू नहीं हो सकती।[16] इस समय भी भाषा सम्बन्धी नीति में जो अनिश्चितता देखने में आ रही है उसका कारण यह है कि सबकी सहमति से भाषा समस्या का समाधान करना आसान नहीं है।[17] भारत में भाषा की समस्या के मुख्यतः दो पहलू हैं–

(क) विद्यालय, महाविद्यालय और लोक सेवा परीक्षा में शिक्षा का माध्यम, और

(ख) हिन्दी भाषी एवं गैर हिन्दी भाषी कट्टरपंथियों की मांगों को पूरा करना।

---

15. 1927 में भारत की भाषाओं की पड़ताल (लिग्विंस्टिक सर्वे) का विवरण प्रकाशित हुआ था इसमें 179 भाषाओ और 544 उपभाषाओं सहित 1652 मातृभाषायें (बोलियां) गिनाई गयी थी।
16. केदूरी, एली (1960), *नेशनलिज्म*, लंदन एवं कोठारी, रजनी, (1990), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 219 ।
17. गडकर, गजेन्द्र (अक्टूबर एवं 14.09.1967), *"ए प्ली टू कंसीडर प्राब्लम रेसनली डिसाइड वाइजली एण्ड हेसेन स्लोली"* (कन्वोकेशन भाषड़, बड़ोदा एवं मीडियम ऑफ एजूकेशन बम्बई यूनि0)।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के लिये राजभाषा के विषय को लेकर प्रमुख मतभेद उत्पन्न हुआ। संविधान में विचार किया गया कि हिन्दी को संघ की राजभाषा बनाया जाए। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि हिन्दी को केन्द्र और प्रदेशों के बीच और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश के बीच सम्प्रेषण के लिये अपनाया जाए। भारतीय संघ के प्रदेश विधान मण्डलो को यह भी अधिकार दिया गया कि प्रदेश की भाषा के रूप में प्रयोग करने के लिये हिन्दी सहित एक अथवा अधिक भाषाओं को अपना सकते हैं। संविधान में यह प्रावधान किया गया कि संविधान की घोषणा से लेकर पन्द्रह वर्ष के अन्दर संघ की राजभाषा हिन्दी देवनागरी लिपि में तथा अन्तर्राष्ट्रीय अंकों सहित होनी चाहिये। परन्तु संसद, कानून द्वारा अंग्रेजी को सम्पर्क भाषा के रूप में प्रयोग करने की अवधि बढा सकती है। राजभाषा से सम्बन्धित निर्देश को लागू करने के प्रयत्न ने एकता के स्थान पर अधिक गहरी भाषाई प्रतिद्वन्दिता उत्पन्न कर दी।

दक्षिण प्रदेशों में हिन्दी का विरोध प्रबल राजनीतिक अभिव्यक्ति के रूप में देखा गया। इन प्रदेशों के अधिकांश लोगों के साथ–साथ पूर्वी भारत के गैर हिन्दी भाषी क्षेत्रों के लोगों ने भी हिन्दी को थोपने का विरोध किया। लोगों को यह डर था कि उनकी भाषा का स्थान हिन्दी के द्वारा ले लिया जाएगा, जिसे वे घटिया भाषा समझते थे। राजभाषा के रूप में हिन्दी को अपनाने और स्कूलों में अनिवार्य विषय के रूप में लागू करने को उन्होंने इस अर्थ में लिया कि हजारों वर्षों से उनकी समृद्ध भाषा के ऊपर एक अपेक्षाकृत कम विकसित भाषा को थोपा जा रहा है।

1950 के दशक में हिन्दी थोपने के विरोध में बहुत से आन्दोलन चले। 1956 में तमिल संस्कृति की संस्था ने मद्रास में संघीय भाषा सम्मेलन बुलाया जिसने अपने प्रस्ताव में कहा कि यह बहुत बडा अन्याय होगा कि कोई भी अन्य भाषा (हिन्दी) अंग्रेजी का स्थान ले जबकि 10 करोड़ की जनसंख्या इस भाषा से पूर्णतया अपरिचित है। यदि महत्व की दृष्टि से देखा जाय तो इस सम्मेलन में विभिन्न राजनीतिक संगठनों के प्रतिनिधि जैसे–सी० राजगोपालचारी (स्वतन्त्र), ई०वी० रामास्वामी नायकर (द्र.क.), पी०टी०राजन (न्याय पार्टी), सी०एन० अन्नादुराई (द्र.मु.क.) आदि शामिल थे। 8 मार्च 1958 को हुये राष्ट्रीय सम्मेलन में सी० राजगोपालचारी ने घोषित किया कि "गैर हिन्दी भाषी लोगों के लिये हिन्दी उतनी ही विदेशी है जितनी हिन्दी समर्थकों के लिये अंग्रेजी।"

दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रति बढ़ते हुये विरोध को देखते हुये 1959 में जवाहर लाल नेहरू ने दक्षिण भारत के लोगों को यह आश्वासन दिया कि (क) उन पर हिन्दी को नहीं थोपा जायेगा और (ख) अंग्रेजी को सहायक क्षेत्रीय भाषा के रूप में सरकारी उद्देश्यों के लिये तब तक प्रयोग में लाया जायेगा जब तक लोग इसे चाहेंगे। इसका निर्णय हिन्दी भाषी लोगों की अपेक्षा गैर हिन्दी भाषी लोगों पर छोड़ दिया जायेगा। 1964 के उत्तरार्द्ध में बहुत सी बातों से "हिन्दी साम्राज्यवाद" का भय दक्षिण भारत के लोगों में फिर से जाग उठा। जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु के बाद हिन्दी थोपे जाने का भय दक्षिण भारत में फिर पैदा हुआ था। पन्द्रह साल की अवधि समाप्त होने के कारण यह भय और अधिक बढ़ गया। क्योंकि अब अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग राजभाषा के रूप में होना था। दक्षिण के गैर हिन्दी भाषी राज्यों का भय, 1963 के राजभाषा अधिनियम से भी खत्म नहीं हुआ;

जबकि इस अधिनियम ने केन्द्र और प्रदेशों दोनों में अंग्रेजी का निरन्तर प्रयोग सम्भव बना दिया था।

26 जनवरी 1956 के गणतन्त्र दिवस पर भारतीय संविधान के अधिनियम 343 क अनुसरण में हिन्दी को भारत की राजभाषा बना दिया गया। दक्षिणी प्रदेशों ने इसका जोरदार प्रतिरोध किया। द्रविड मुनेत्र कजगम ने 26 जनवरी, 1956 का दिन शोक दिवस के रूप में निर्दिष्ट किया। विद्यार्थी समुदाय ने हिन्दी थोपने के विरूद्ध में आन्दोलन शुरू कर दिया। द्रविड़ मुनेत्र कजगम ने इस आन्दोलन का पथ प्रदर्शन करके बहुत सम्मान प्राप्त किया और दो वर्ष पश्चात् हुए चुनाव में शासक दल के रूप में भी स्थान हासिल किया।

द्रविड़ मुनेत्र कजगम ने यह आग्रह किया कि सभी चौदह भाषाये अपने–अपने प्रदेशों में राजभाषा के रूप में अपनायी जाय और अंग्रेजी को प्रदेशों और केन्द्र के बीच सम्पर्क भाषा के रूप में अपनाया जाय। साम्यवादियों के साथ–साथ कामराज ने त्रिभाषा सूत्र (अंग्रेजी, हिन्दी और मातृभाषा) का पक्ष लिया। जून 1965 में यह घोषणा की गयी कि कामराज (कांग्रेस अध्यक्ष) के द्वारा दिये गये प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार भाषा समस्या के पहले पहलू को देखते हुए सरकार ने 'त्रिभाषा फार्मूला' अपनाया और दूसरे पहलू अर्थात् हिन्दी और गैर हिन्दी भाषी कट्टरपंथियों की मांग के संदर्भ में राजभाषा अधिनियम (संशोधन) 1967 पारित किया और गैर हिन्दी भाषी राज्यों को जब तक वे राजभाषा के रूप में हिन्दी नहीं अपनाना चाहते, अंग्रेजी को राजभाषा बनाये रखने की अनुमति प्रदान कर दी।[18] इस प्रकार सरकार को भाषायी टकराव रोकने में सहायता मिली। ऊपर वर्णित घटनायें यह भी दिखाती है कि किस प्रकार भाषा एक महत्वपूर्ण विवाद का विषय बन गयी जिसके आस–पास बहु प्रदेश क्षेत्रीयतावाद विकसित हुआ।

तमिलनाडू के अलावा अन्य राज्य भी भाषायी वैमनस्यता से पूर्ण मुक्त नहीं है। उदाहरण के लिये कर्नाटक में कन्नड़ और तमिल, उत्तर प्रदेश और बिहार में हिन्दी और उर्दू, पंजाब में हिन्दी और पंजाबी, गोवा में मराठी और कोंकणी, असम में असमी और बंगाली, त्रिपुरा में कोक, बोरोक और त्रिपुरी के मध्य द्वन्द है। इन भाषाई विभेदों ने भी सामाजिक तनावों को जन्म दिया है।

(ख) साम्प्रदायिकता एवं पंथवाद– साम्प्रदायिकता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति और उसके साथ जुड़ी हुई हिंसा ने धार्मिक अल्पसंख्यकों और नृजातीय समूहों में असुरक्षा की भावना जागृत कर दी है, जिससे राष्ट्रीय एकीकरण की भावना को धक्का पहुंचा है। 1960 के बाद से कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात, असम और आन्ध्र प्रदेश में हुई घटनायें साम्प्रदायिक विष के विविध रूपों का प्रचुर प्रमाण देती हैं और उसके विनाशकारी परिणाम का अनुभव कराती हैं। आतंकवादियों पर नजर रखने और उन्हें धार्मिक स्थलों में रहने से रोकने के लिये पुलिस की गुरूद्वारों, दरगाहों, मस्जिदों या अन्य पुण्य स्थानों (जैसे, अमृतसर में 1984 में या श्रीनगर (कश्मीर) में नवम्बर 1993 में) के पास उपस्थिति को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप माना जाता है। इसलिये राष्ट्र की शान्ति एवं एकता की क्षति को रोकने के लिये साम्प्रदायिकता का विश्लेषण करना और उस पर विचार करना आवश्यक है और यह मालूम करना भी उतना ही संगत है कि 'साम्प्रदायिक' कौन है।

18 किशोर, सत्येन्द्र (1987), *नेशनल इंटिग्रेशन इन इंडिया,* नई दिल्ली, स्टर्लिंग पब्लि0, पृ0 41।

साम्प्रदायिकता को एक विचारधारा माना जा सकता है जो कि यह बताती है कि समाज धार्मिक समुदायों में बंटा हुआ है, जिनके स्वार्थ एक दूसरे से भिन्न है और कभी–कभी उनमें पारस्परिक विरोध भी होता है। व्यापक अर्थों में साम्प्रदायिकता उस प्रवृत्ति को कहते है जब कोई सामाजिक–धार्मिक समूह दूसरे समूहों की कीमत पर अपनी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक ताकत बढाने का प्रयास करता है। एक समुदाय के सदस्य जो दूसरे समुदाय के सदस्यों और धर्म के विरूद्ध प्रतिरोध करते हैं उन्हें 'साम्प्रदायिक' कहा जा सकता है। यह विरोध किसी विशेष समुदाय पर झूठे आरोप लगाना, क्षति पहुंचाना और जान–बूझकर अपमानित करने का रूप लेता है। इससे भी अधिक यह लूटना, असहाय और निर्बल व्यक्तियों के घरों और दुकानों में आग लगाना, उनकी स्त्रियों को अपमानित करना और आदमी–औरतों को जान से मार देने का वीभत्स रूप धारण कर लेता है।

यह प्रवृत्ति धर्म निरपेक्ष राष्ट्र की धारणा के विपरीत है। भारत ने सर्वधर्मसमभाव के आदर्श को स्वीकार किया है। भारतीय संदर्भ में धर्म निरपेक्षता उसे कहते हैं जिसमें सभी धर्मों के शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व की बात हो। किन्तु लोकतन्त्र और समाजवाद के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये सोच–समझकर कदम उठाने के बावजूद भारतीय राष्ट्र साम्प्रदायिक संघर्षों से मुक्त नहीं है।[19]

साम्प्रदायिक व्यक्ति वे है जो राजनीति को धर्म के माध्यम से चलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को खतरनाक राजनीतिक कचरा कहा जा सकता है। उनके लिये भगवान और धर्म उपकरण मात्र हैं जिनका उपयोग वे समाज के 'शाही पराश्रयी' के रूप में विलासमय जीवन बिताने और अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये करते हैं।[20]

साम्प्रदायिकता का आचरण कई प्रकार से किया जाता है; उदाहरण के लिये, राजनीतिक साम्प्रदायिकता, धार्मिक साम्प्रदायिकता और आर्थिक साम्प्रदायिकता। राजनीतिक साम्प्रदायिकता चिरस्थायी या टिकाऊ राजनीतिक स्वार्थपरायणता की उपज है और इसको इस प्रकार विकसित और सुरक्षित किया जाता है कि जिससे अपने कुकर्म छिप जायें और दूसरे व्यक्तियों का ध्यान इस ओर से हट जाये। इस राजनीतिक खेल योजना के अन्तर्गत कई मनगढ़न्त घटनाओं का पर्दाफास करने का नाटक रचा जाता है जिससे ऐसा लगे कि साम्प्रदायिकता अपराध के लिये प्रतिद्वन्द्वी ही दोषी है। इस राजनीतिक खेल योजना में सदैव नेता वह कहते है जो कहना नहीं चाहते और वह नहीं कहते जो कहना चाहते हैं।

टी0के0ऊमन ने साम्प्रदायिकता के छह आयाम– आत्मसातीकरण, कल्याणकारी, पलायनवादी, प्रतिशोधवादी, अलगाववादी और पार्थक्यवादी बतलाये हैं।[21] आत्मसातीकरण साम्प्रदायिकता वह है जिसमें छोटे धार्मिक समूहों का बड़े धार्मिक समूह में समावेश/एकीकरण कर लिया जाता है। कल्याणकारी साम्प्रदायिकता का लक्ष्य किसी विशेष समुदाय का कल्याण होता है। पलायनवादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक छोटा धार्मिक समुदाय अपने को राजनीति से अलग रखता है। प्रतिशोध पूर्ण साम्प्रदायिकता दूसरे धार्मिक समुदाय के सदस्यों को हानि और चोट पहुंचाने का प्रयत्न

---

19 तदैव ।

20. डे आफ्टर, जून, 1990, पृ0 35–36 ।

21. ऊमन, टी0के0, (1989), *द हिन्दुस्तान टाइम्स*, अगस्त 8 ।

करती हैं। पृथकतावादी या अलगाववादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक धार्मिक समुदाय अपनी संस्कृति की विशेषता बनाये रखना चाहता है और देश में एक अलग राज्य की मांग करता है ; उदाहरणार्थ, उत्तर–पूर्वी भारत में कुछ मिजो और नागाओं की मांग, असम में बोडो की मांग और बिहार में झारखण्ड जनजातियों की मांग। अन्त में, पार्थक्यवादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक धार्मिक समुदाय अपनी अलग राजनीतिक पहचान चाहता है और एक स्वतन्त्र देश की मांग करता है। खालिस्तान की मांग कर रहा सिक्खों का एक बहुत ही छोटा उग्रवादी समूह इस प्रकार की साम्प्रदायिकता को अपना रहा है। इन छः प्रकार की साम्प्रदायिकता में से पिछले तीन रूप समस्यायें खड़ी करते हैं और जिनके कारण आन्दोलन, साम्प्रदायिक झगड़े, आतंकवाद और बगावत उत्पन्न होते हैं।

भारत के अनेकवादी समाज में केवल धार्मिक समुदाय ही नहीं है, जैसे– हिन्दू (82.63:), मुसलमान (11.36:), ईसाई (2.43:), सिक्ख (1.96:), बौद्ध (0.717:), जैन (0.48:) आदि। हिन्दू कई सम्प्रदायों में बंटे हुये है, जैसे आर्य समाजी, शैव, सनातनी और वैष्णव। इसी प्रकार जहाँ एक ओर मुसलमान शिया और सुन्नी में बंटे हुए हैं वहाँ दूसरी ओर उनमें अशरफ (कुलीन), अजलफ (जुलाहे, कसाई, खाती, तेली) और अरजल भी सम्मिलित है। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्ध ा एक अन्तराल से तनावपूर्ण रहे हैं जबकि हिन्दुओं और सिक्खों ने एक–दूसरों को कुछ वर्षों के लिये (विशेषकर 1984 से 1990 के बीच) संदेह की दृष्टि से देखना शुरू किया था। यद्यपि दक्षिण भारत के एक राज्य में हिन्दुओं और ईसाइयों और मुसलमानों और ईसाइयों में और अब गुजरात और दक्षिण में दो राज्यों में हिन्दुओं और ईसाइयों के झगड़ो के बारे में सुना जाता है, परन्तु सब मिलाकर भारत में ईसाई यह नहीं सोचते कि दूसरे समुदाय उनकी वंचना या शोषण करते हैं। यहाँ हम मुख्यतः हिन्दू–मुसलमान सम्बन्धों का विश्लेषण करेंगे। हिन्दू–सिक्ख सम्बन्धों का विश्लेषण अध्याय चार में किया गया है।

हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिकता भारत को ऐतिहासिक विरासत में मिली है।[22] 1920 एवं 1930 के दशकों में साम्प्रदायिकता को प्रतिष्ठा प्रदान करने और कुल मिलाकर राष्ट्रवादियों द्वारा और 1941–46 के दौरान साम्यवादियों द्वारा बुरे को बुरा न कहने की कीमत देश के बंटवारे और 1946–47 में भीषण साम्प्रदायिक दंगों और हत्याओं के रूप में चुकानी पड़ी थी।[23] स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रवादी शक्तियाँ क्रमशः दुर्बल होती गयी और इनके स्थान पर धार्मिक कट्टरता और साम्प्रदायिक धर्मान्धता की प्रवृत्तियां बलवती होती गई हैं। भारत का कोई भी हिस्सा उन्माद से मुक्त नहीं है, फिर भी 1980 के दशक के प्रारम्भ तक साम्प्रदायिक

---

22. साम्प्रदायिक समस्या की शुरूआत मुस्लिम युग से हुई। लेकिन पिछले कई सौ वर्षों में हिन्दू और मुसलमान साथ–साथ रहते आयें थे और उनमें काफी सामाजिक और सांस्कृतिक आदान–प्रदान और एकता पैदा हो गयी थी ... ब्रिटिश शासन से एक नुकसान यह हुआ कि उनसे साम्प्रदायिक द्वेष को उत्तेजना मिली। इसमें ब्रिटिश राज्य कांग्रेस और मुस्लिम राजनीतिक नेता सब का दोष है। यह भी एक विचित्र विडम्बना है कि प्रतिनिधि और धर्म निरपेक्ष शासन के जिस सिद्धान्त ने भारत में आधुनिकता का परिचय किया, उसी ने साम्प्रदायिक समस्या को भी उभाड़ा।– कोठारी, रजनी (1990), पूर्व उद्धत कृति,, पृ0 46–47 ।
23. चन्द्र, विपिन (1996), पूर्व उद्धत कृति,, पृ0 254 ।

राजनीतिक पार्टियों का प्रभाव सीमित था। सन् 1984 तक किसी भी चुनाव में उन्हें 10प्रतिशत से अधिक वोट नहीं मिले थे।[24] लेकिन पिछले कुछ वर्षों में साम्प्रदायिकता खतरनाक सीमाओं तक फैल चुकी है। अब यह एक ऐसी समस्या समझी जाती है जो देश की विकास प्रक्रिया में बाधा और विरोध उत्पन्न करती है। 1980 के दशक में सिक्ख साम्प्रदायिकता ने आतंकवाद और अलगाववाद को आगे बढाया था, अब मुस्लिम सम्प्रदायवाद अधिक जहरीला बन चुका है और इसने इस खतरनाक स्थिति को जन्म दिया है कि सभी मुसलमान एकमत होकर (चुनावों में) वोंट दें।[25] अधिकांश धर्म निरपेक्ष पार्टियों की अवसरवादिता तथा धर्मनिरपेक्षता के प्रति उनकी क्षीण होती हुई आस्था एवं साम्प्रदायिक पार्टियों की वैधानिकता ने अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता का तुष्टीकरण एवं तत्जन्य बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता की अभिवृद्धि में योगदान दिया है।[26]

सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट है कि 16 शहर जो हिन्दू–मुस्लिम दंगों के लिये अति संवेदनशील हैं वे है . उत्तर प्रदेश में मुरादाबाद, मेरठ, आगरा और वाराणसी, महाराष्ट्र में औरंगाबाद; गुजरात में अहमदाबाद; आन्ध्र प्रदेश में हैदराबाद; बिहार में जमशेदपुर और पटना, असम में सिलचर और गौहाटी, पश्चिम बंगाल में कलकत्ता; मध्य प्रदेश में भोपाल; जम्मू और कश्मीर में श्रीनगर; और उड़ीसा में कटक। इन शहरों में ग्यारह भारत के उत्तरी क्षेत्र में आते हैं, तीन पूर्वी क्षेत्र में और दो दक्षिण के क्षेत्र में।

हिन्दू–मुस्लिम विद्वेष अनेक पेचींदा कारकों के घालमेल के कारण हो सकता है। ये कारक हैं (1) मुस्लिम आक्रमण जिनमें आक्रमणकारी धन लूटते थे और हिन्दू मन्दिरों पर/के समीप मस्जिदें बनाते थे। (2) अंग्रेजों का अपने शाही शासन के दौरान अपने स्वार्थों के लिये मुस्लिम अलगाववाद को प्रोत्साहन। (3) विभाजन के पश्चात भारत में कुछ मुसलमानों का व्यवहार जिन्होंने क्रिकेट मैच में पाकिस्तान टीम की जीत के बाद पाकिस्तानी झण्डा फहराया और कुछ मुसलमानों के आह्वान पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दिवस को 'काले दिन' के रूप में मनाया जाना जिसके परिणाम स्वरूप बहुसंख्यक समुदाय में यह भावना उत्पन्न हुई कि मुसलमान देशभक्त नहीं हैं। (4) मुसलमान की एक रूढ़िवादी छवि जो भारतीय मानस में घर किये हऐ है, वह एक धर्मान्ध, अन्तर्मुखी बाह्य समुदाय की है। इसी प्रकार मुसलमान एक हिन्दू को चालाक, शक्तिशाली और अवसरवादी समझता है, जो उसे उत्पीड़ित करता है और अपने को मुख्यधारा से विमुख समझता है। (5) देश में अपना स्थान बनाने के लिये मुस्लिम राजनीतिक दलों में एक नई आक्रमकता। इसकी कई चर्चाएं है कि कुछ मुसलमान उग्रवादी 'विदेशी पैसा' प्राप्त कर रहे हैं, विदेशी एजेन्ट बने हुए हैं, एक सुव्यवस्थित योजना के द्वारा देश के धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को कलंकित करने में लगे हुए हैं, और मुसलमानों को भड़काने की कोशिश कर रहे हैं। (6) मुसलमानों में एकता लाने और उनकी समस्याओं को सुलझाने में मुस्लिम नेता कदाचित इस कारण असफल हुए क्योंकि पश्चिम एशिया और पाकिस्तान में व्याप्त मुस्लिम कट्टरवादिता ने उन्हें प्रभावित किया है और इस कारण उनमें कुंठाएं उत्पन्न हो गई हैं। (7) सरकार

24. तदैव, पृ० IX ।
25. तदैव ।
26. तदैव ।

भी मुसलमानों की उपेक्षा करने की जिम्मेदार है। इनका बहुत बड़ा भाग अपने को अलग–थलग मानता है और इस कारण वे मतलबी नेताओं के सहज शिकार हो जाते हैं। सत्ता प्राप्त अभिजन केवल धार्मिक मैत्री का पाठ पढाते हैं और उन्हें मुसलमानों की समस्याओं की कोई जानकारी नहीं है। हिन्दू नेतृत्व केवल उन मुसलमान नेताओं से सम्पर्क रखता है जो कि उनकी बात मानते हैं। (8) हिन्दू उग्रवादी यह कहते हैं कि इस देश मे मुसलमानों की ओर ध्यान दिया जा रहा है।

हाल के वर्षो में इस स्थिति में एक नया कारक जुड़ गया है। वह हैं हिन्दू सम्प्रदायवादियों द्वारा धर्म तथा राष्ट्रवाद को साम्प्रदायिकता के साथ जोड़कर खुद धर्मनिरपेक्ष होने का दावा करना। उन्होंने राम जन्म भूमि तथा बाबरी मस्जिद के सवाल को धार्मिक उन्माद बढ़ाने और साम्प्रदायिकता की प्रचण्ड लपटे फैलाने के लिये इस्तेमाल किया है।[27] साम्प्रदायिकता को राष्ट्रवाद की चासनी में परोसने की इसी प्रकार की प्रवृत्तियों ने ही 1947 के पहले राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करके उसे कमजारे किया था, जिसके फलस्वरूप भारत का विभाजन हुआ। आजादी के बाद अब यह राष्ट्रीय एकता और राष्ट्र निर्माण के लिये कम खतरनाक नहीं है, जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने 1951 में ही इन शब्दों में चेतावनी दी थी, ''साम्प्रदायिकता की गतिविधियां भारत की राजनैतिक व्यवस्था में खंजर घोपने के समान होगी।''[28] यदि साम्प्रदायिकता को खुली छूट दी गयी तो यह ''भारत के टुकडे करेगा।''[29] इसलिये साम्प्रदायिकता के खिलाफ लड़ने की दीर्घकालीन रणनीति के अंग के रूप में साम्प्रदायिकता के राष्ट्रविरोधी, विभाजनकारी और देश को खण्डित करने वाले बुनियादी चरित्र का खुलासा करना होगा। आमतौर पर धर्म का संकीर्ण राजनीतिक लाभ के लिये दुरूपयोग किये जाने के सवाल का जवाब निहित है– धर्म को राज्य तथा राजनीति से अलग रखने के धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण विकसित करने में। जैसा कि गांधी जी ने भी कहा था, ''धर्म प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है। इसे राजनीतिक या राष्ट्रीय मामलों में नहीं मिलाना चाहिए।''[30]

भारत की स्वतन्त्रता से लेकर अब तक कुल मिलाकर दस हजार से भी अधिक साम्प्रदायिक संघर्ष हो चुके हैं। पिछले 55 वर्षो में देश में हुए बडे साम्प्रदायिक संघर्षो के अध्ययनों ने यह उद्घाटित किया है कि : (1) साम्प्रदायिक दंगे धर्म की तुलना में राजनीति से अधिक प्रेरित होते हैं। मदान कमीशन ने भी, जिसने मई 1970 में महाराष्ट्र में हुए साम्प्रदायिक दंगों की छानबीन की, इस पर बल दिया था कि ''साम्प्रदायिक तनावों के वास्तुकार और निर्माता सम्प्रदायवादी और राजनीतिज्ञों का एक वर्ग होता है– वे अखिल भारतीय और स्थानीय नेता जो अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने, अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने और अपनी सार्वजनिक छवि को समृद्ध बनाने के लिये हर अवसर का लाभ उठाना चाहते हैं और इसके लिये वे हर घटना को साम्प्रदायिक रंग देते हैं और इस प्रकार जनता के आगे वे अपने आपको अपने समुदाय के धर्म और अधिकारों के हिमायती के रूप में प्रस्तुत करते हैं।'' (2) राजनीतिक स्वार्थों के अलावा आर्थिक स्वार्थ भी साम्प्रदायिक झगडों को भडकाने में

---

27 तदैव ।

28. गुप्ता, एन0एल0 (संपादित), (1965), *नेहरू आन कम्यूनलिज्म,* नई दिल्ली, पृ0 219 ।

29. नेहरू, जवाहरलाल (1986), *लेटर्स टू चीफ मिनिस्टर्स, 1947–1964,* भाग–2, नई दिल्ली।

30. गांधी, एम0के0 (1963), *द वे टू कम्यूनल हारमनी,* अहमदाबाद, पृ0–39, 398 ।

प्रबल भूमिका अदा करते है। (3) साम्प्रदायिक दंगे दक्षिण और पूर्वी भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक आम हैं। (4) ऐसे शहरों, जिनमें साम्प्रदायिक दगे एक या दो बार हो चुके हैं, में इनके पुनः होने की सम्भावना ऐसे शहरों की अपेक्षा जहां कभी दंगे नही हुए अधिक प्रबल होती हैं। (5) अधिकांश साम्प्रदायिक दंगे धार्मिक त्योहारों के अवसर पर होते हैं। (6) दंगों में घातक हथियारो का उपयोग बढ़ रहा है। (7) दंगे आमतौर पर शहरो में ही होते हैं तथा गांव इनसे मुक्त रहते हैं।

भारत में साम्प्रदायिक उन्माद 1946–48 के दौरान अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। 1950–1963 के काल को साम्प्रदायिक शान्ति का काल कहा जा सकता है। दंगों के प्रभाव क्षेत्र 1963 के बाद एकाएक बढ गये। देश में 1954–55 और 1988–89 के बीच हुये साम्प्रदायिक दंगों की कुल संख्या को सूचीबद्ध किया गया है : 1954–55 : 125, 1956–57 : 100, 1958–59 : 60, 1960–61 : 100, 1962–63 : 100, 1964–65 : 675, 1966–67 : 310, 1968–69 : 800, 1970–71: 775, 1972–73 : 425, 1974–75 : 400, 1976–77 : 315, 1978–79 : 400, 1980–81 . 710, 1981–82 : 830, 1982–83 : 950, 1983–84 : 1090, 1984–85 : 1200, 1985–86 : 1300, 1986–87 : 764, 1987–88 : 711, 1988–89 : 611 ।[31] 1998 में देश में 626 दंगे हुए थे जिनमें 207 व्यक्ति मारे गये और 2065 जख्मी हुए थे।[32] प्रो० वार्ष्णेय के अनुसार 1950 से 1995 के बीच भारत में बड़े स्तर के 1238 दंगे हुए जिनमें कुल 7,173 लोगों की मृत्यु हुयी। अध्ययन रिपोर्ट के अनुसार जिन शहरों में अधिक दंगे हुए हैं वे हैं : अहमदाबाद, मुम्बई, अलीगढ़, हैदराबाद, मेरठ, बडोदरा, कलकत्ता और दिल्ली।[33] दिसम्बर 6, 1992 में अयोध्या में विवादित स्थान के गिराने के बाद अनेक राज्यों में साम्प्रदायिक दंगों में पॉच दिन में 1060 व्यक्ति मारे गये थे। उत्तर प्रदेश में 236, असम में 76, कर्नाटक में 64, राजस्थान में 30 और बंगाल में 20 व्यक्ति मारे गये थे। बम्बई में अप्रैल 1993 में हुए बम विस्फोटों और उसके बाद कलकत्ता में बम विस्फोटों के उपरान्त जो साम्प्रदायिक दंगे हुए थे, उनमें 200 से अधिक हिन्दुओं और मुसलमानों के मारे जाने के समाचार थे। बम्बई बम विस्फोट के कुछ ही दिनों बाद दिल्ली के एक मशहूर इमाम ने वक्तव्य दिया था कि "अब हमारे जीवित रहने का मूल मुद्दा है। हम जिन्दा रहने के लिये हथियार उठाने की सम्भावना को भी नकार नहीं सकते।" संघ परिवार नेताओं ने यह दावा किया कि "भारत हिन्दू राष्ट्र है ; हिन्दू संस्कृति ही प्रामाणिक भारतीय संस्कृति है; मुसलमान वास्तव में महमदी हिन्दू हैं ; तथा सभी हिन्दुस्तानी परिभाषा से ही हिन्दू हैं।" हिन्दू और मुस्लिम धर्मान्धजनों के इसी आक्रमणकारी दृष्टिकोण के कारण साम्प्रदायिक तनाव पैदा होता है और दंगे भड़कते हैं। जब साम्प्रदायिक तनाव–टकराव राजनेताओं का निहित स्वार्थ बन जाता है तो हालात और बिगड़ते हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से, जबकि 1961 में भारत के 350 जिलों में से 61 जिले संवेदनशील माने गये, 1979 में 216, 1986 में 186, 1987 में 254 और 1989 में 186 जिले संवेदनशील जिलों

31. सरोलिया, शंकर (1987), *इंडियन पुलिस :इश्यूज एण्ड पर्सपेक्टिव*, जयपुर गौरव पब्लिशर्स, पृ0–60 और द हिन्दुस्तान टाइम्स, अप्रैल 2, 1990 ।
32. द हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 11, 1999 ।
33. द हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च, 2000 ।

की परिभाषा में आये। जान की क्षति के अतिरिक्त इनका आर्थिक गतिविधियों पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, 1983 और 1986 के बीच 14 करोड़ रू0 के माल का नुकसान हुआ।[34] 1986 और 1988 के बीच तीन वर्षों में साम्प्रदायिक दंगों की 2,086 घटनाओं में 1,024 व्यक्ति मारे गयें और 12,352 जख्मी हुए।

विभिन्न विद्वानों ने साम्प्रदायिक हिंसा की समस्या का विभिन्न परिप्रेक्ष्य से अध्ययन किया है और उसके होने के विभिन्न कारण बताये हैं और उसे रोकने के लिये विभिन्न उपाय सुझाये हैं। मार्क्सवादी विचारधारा साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध आर्थिक वंचन और बाजार की ताकतों पर एकाधिकार नियन्त्रण को प्राप्त करने के लिये धनवान और निर्धन के बीच वर्ग संघर्ष को बतलाती है। कुछ राजनीतिज्ञ इसे सत्ता का संघर्ष मानते हैं। समाजशास्त्री इसे सामाजिक तनावों और सापेक्षिक वंचनों से उत्पन्न हुई घटना कहते हैं। धार्मिक विशेषज्ञ इसे हिंसक कट्टरवादियों और अनुचरों की शक्ति का प्रतीक कहकर पुकारते हैं।

बहुकारक उपागम में दस प्रमुख कारक साम्प्रदायिकता के कारणों के बताये गये हैं।[35] ये हैं: सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, कानूनी, मनोवैज्ञानिक, प्रशासनिक, ऐतिहासिक, स्थानीय और अन्तर्राष्ट्रीय। सामाजिक कारकों में सामाजिक परम्परायें, जाति एवं वर्ग–अहम, असमानता और धर्म पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण सम्मिलित हैं ; धार्मिक कारकों में धार्मिक नियमाचारों और धर्म निरपेक्ष मूल्यों में गिरावट, संकीर्ण और मतान्ध धार्मिक मूल्य, राजनीतिक लाभों के लिये धर्म का उपयोग और धार्मिक नेताओं की साम्प्रदायिक विचारधारा सम्मिलित हैं ; राजनीतिक कारकों में धर्म पर आधारित राजनीति, धर्म–शासित राजनीतिक संस्थायें, राजनीतिक हस्तक्षेप, साम्प्रदायिक हिंसा का राजनीतिक औचित्य और राजनीतिक नेतृत्व की असफलता सम्मिलित हैं ; आर्थिक कारकों में आर्थिक शोषण और पक्षपात, असन्तुलित आर्थिक विकास, प्रतिस्पर्धा का बाजार, अप्रसरणशील आर्थिक व्यवस्था, श्रमिकों का विस्थापन और असमावेशन और गल्फ से आये हुए पैसे का प्रभाव सम्मिलित है ; कानूनी कारकों में सम्मिलित है समान कानूनी संहिता, संविधान में कुछ समुदायों के लिये प्रावधान और रियायतें, कुछ राज्यों को (जैसे काश्मीर) विशेष दर्जा, आरक्षण नीति और विभिन्न समुदायों के लिये विशेष कानून ; मनोवैज्ञानिक कारकों में सम्मिलित है– सामाजिक पूर्वाग्रह, रूढिवद्ध अभिवृत्तियां, अविश्वास, दूसरे समुदाय के प्रति विद्वेष और भाव शून्यता, अफवाहें, भय का मानस और जन सम्पर्क के साधनों द्वारा गलत जानकारी देना/गलत अर्थ लगाना/अयर्थाथ रूप प्रस्तत करना; प्रशासनिक कारकों में शामिल हैं– पुलिस और दूसरी प्रशासनिक इकाइयों में समन्वय का अभाव, कुसज्जित और कुप्रशिक्षित पुलिस कर्मचारी, गुप्तचर विभागों की अकुशल कार्यप्रणाली, पक्षपाती पुलिस के सिपाही, पुलिस की ज्यादतियां और निष्क्रियता और अकुशल पी0ए0सी0 ; ऐतिहासिक कारकों में शामिल हैं– विदेशी आक्रमण, धार्मिक संस्थाओं को क्षति, धर्म परिवर्तन के लिये प्रयत्न, उपनिवेशीय शासकों की फूट डालों और राज करो की नीति, विभाजन का मानसिक आघात, पिछले साम्प्रदायिक दंगे, जमीन, मन्दिर और मस्जिद के पुराने झगड़े ; स्थानीय कारकों में सम्मिलित हैं– धार्मिक जुलूस, नारेबाजी, अफवाहें, जमीन के झगड़े, स्थानीय असामाजिक तत्व और गुटों में प्रतिद्वन्दिता ; और अन्तर्राष्ट्रीय कारकों में सम्मिलित है– दूसरे देशों द्वारा दिये जा रहे प्रशिक्षण और

34. द टाइम्स आफ इण्डिया, जुलाई 25, 1986 ।
35. सरोलिया, शंकर (1987), पूर्व उद्धत कृति, पृ0–62 ।

वित्तीय सहायता, भारत की एकता को भंग करने और कमजोर बनाने के लिये दूसरे देशों द्वारा षड़यन्त्र रचना और फिर साम्प्रदायिक संगठनों को समर्थन देना।

आरेख–1

साम्प्रदायिक दंगों के भड़काने की प्रक्रिया
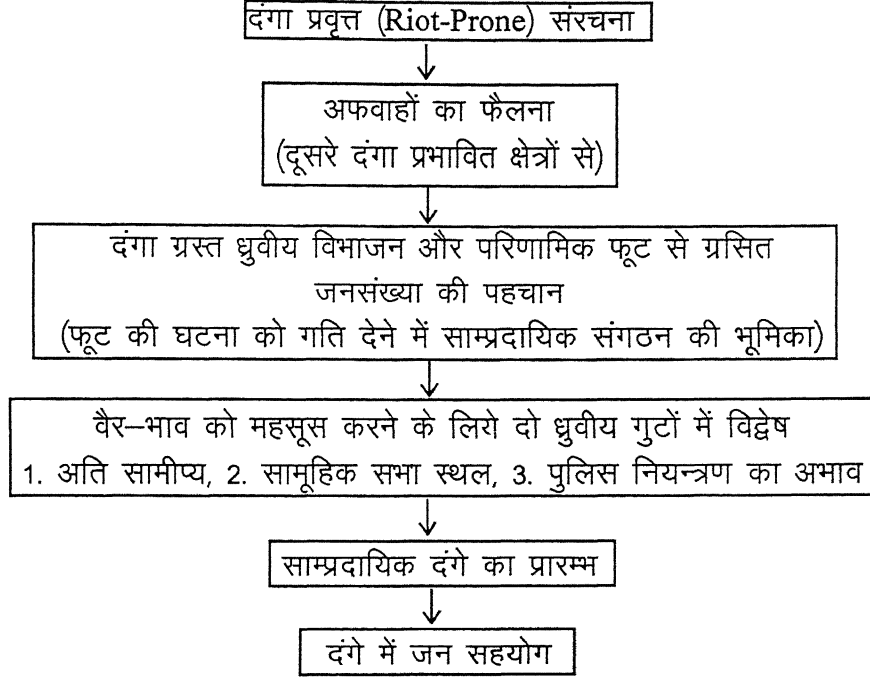
साम्प्रदायिक संघर्षों के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच परस्पर विश्वास के स्थान पर आपसी सन्देह की भावना तेजी से विकसित हुई है। बहुमत सम्प्रदाय के सदस्य मुसलमानों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और उन पर राज्य क्षेत्रातीत निष्ठा का आरोप लगाते हैं। जबकि मुसलमानों के एक वर्ग की ओर से यह आरोप लगाया जाता रहा है कि सरकार जान–बूझकर साम्प्रदायिक संघर्ष कराती है। उनके साथ विभिन्न क्षेत्रों में भेदभाव किया जा रहा है और उनकी भाषा तथा संस्कृति को नष्ट किया जा रहा है।[36] मुसलमान सम्प्रदायवादी बराबर 'हिन्दू प्रभुत्व' और 'अल्पसंख्यकों की अपनी पहचान खो देने'[37] की आशंका व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने भी हिन्दुओं के मन में मुसलमानों द्वारा दमन और प्रभुत्व का भय उत्पन्न करने का प्रयास किया। लेफ्टीनेन्ट कर्नल मु0 एन0 मुखर्जी ने 'अ डाइंग रेस' शीर्षक से प्रकाशित पुस्तक में निष्कर्ष निकाला है कि "उनकी (मुसलमानों की) संख्या बढ़ रही है, शक्ति बढ़ रही है, स्वास्थ्य बढ़ रहा है, एकजुटता बढ़ रही है, और हम बिखर कर टुकडे–टुकड़े हो रहे हैं। वे तो एक संयुक्त मुस्लिम विश्व के निर्माण की ओर अग्रसर हैं और हम अपने समाप्त हो जाने की प्रतिक्षा कर रहे हैं।[38] यदि हिन्दू अभी नहीं जागें तो समाप्त हो जायेंगे।[39]

---

36. सरकार द्वारा "पर्सनल लॉ" मे सशोधन करने का प्रयास तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय के मूल चरित्र में परिवर्तन करने का प्रयत्न, जैसी घटनाओं ने मुसलमानों के इस सन्देह को बल दिया है कि बहुमत समुदाय सरकार की सहायता से मुसलमानों का शोषण कर रही है। – सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 297 ।
37. सुबेरी, जेड0ए0 (1946), *माई लीडर*,तीसरा संस्करण, पृ0 11 ।
38. उद्धत, प्रकाश, इन्द्र (1938), *ए रिव्यू ऑफ दि हिस्ट्री एण्ड वर्क ऑफ दि हिन्दू महासभा एण्ड हिन्दू संगठन मूवमेन्ट,* नई दिल्ली, पृ0 12 ।
39 दीक्षित, प्रभा (1974), *कम्यूनलिज्म– ए स्ट्रगल फॉर पॉवर*,नई दिल्ली पृ0 159 पर (1921 में लाहौर के दैनिक प्रताप के सम्पादक द्वारा दी गयी चेतावनी) उद्धत ।

वस्तुतः साम्प्रदायिकता में शुद्धतः धार्मिक अथवा धर्म मीमांसात्मक तत्व कम ही रहता है।[40] सम्प्रदायवादी शायद ही कभी धर्म मीमांसा का सहारा लेते हैं। के0वी0कृष्णा मुसलमान साहूकारों का दृष्टान्त देते हैं जो अपने धर्म के विरूद्ध ब्याज का धंधा करते हैं और हिन्दू साहूकारों के विरूद्ध लड़ने के लिये धर्म का सहारा लेते हैं।[41] दूसरी ओर हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने हिन्दू धर्म को समझाने के लिये हिन्दूत्व की धारणा का प्रयोग किया है।[42]

सम्प्रदायवादी धर्म का इस्तेमाल इसलिये करते हैं कि धार्मिक विभाजन की पहले से विद्यमान चेतना को उत्पन्न किया जा सके। उन्होंने धर्म को केवल अपने राजनीतिक लक्ष्यों के लिये एक समूह एवं विभाजक सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त किया।[43]

सम्प्रदायवादी ही नहीं गैर सम्प्रदायवादी भी पहले नहीं आज भी, एक साम्प्रदायिकता के उदय का कारण दूसरी साम्प्रदायिकता को मानते हैं। इस दृष्टिकोण का एक दृष्टान्त प्रभा दीक्षित ने दिया है। उनका कहना है कि "मुस्लिम सम्प्रदायवाद तो सत्ता के लिये संघर्ष के रूप में विकसित हुआ है, हिन्दू सम्प्रदायवाद की प्रतिक्रिया के रूप में नहीं। दूसरी ओर, हिन्दू सम्प्रदाय मुस्लिम सम्प्रदायवाद की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ है।[44] निःसंदेह एक बार विकसित हो जाने पर साम्प्रदायिकता की ये दोनो धारणायें एक–दूसरे की मदद से फलती–फूलती रहीं, एक–दूसरे को खारिज करने के स्थान पर एक–दूसरे को ज्यामितीय अनुपात में बढ़ावा देती रहीं।[45] प्रत्येक धारा दूसरे को वह औचित्य और उत्प्रेरण उपलब्ध कराती रही जो उनके लिये आवश्यक था। साम्प्रदायिकता की इस प्रबलता के लिये इतिहास की गलत व्याख्या भी उत्तरदायी है। मध्ययुगीन लोगों का भोगा हुआ इतिहास या उस समय की ऐतिहासिक प्रक्रिया ने नहीं अपितु उनकी साम्प्रदायिक व्याख्या ने ही साम्प्रदायिकता को जन्म दिया है।[46]

40. जैसा कि लुई ड्यूमों का कथन है, "जो धार्मिक तत्व इसके (साम्प्रदायिकता के) निर्माण में सहायक होता है वह धर्म की छाया मात्र होता है। अर्थात, धर्म को जीवन के सभी पक्षों का मार्गदर्शन करने वाले सार के रूप में न देखकर एक मानव समूह कम से कम राजनीतिक विभेद के चिन्ह के रूप में देखा जाता है", (1970), *"रिलिजन पॉलिटिक्स एण्ड हिस्ट्री इन इण्डिया"*, इन हिज कलेक्ट्रेड पेपर्स इन इंडियन सोशियोलॉजी, पेरिस, पृ0 90–91, उद्धत चन्द्र, विपिन (1996), पूर्व उद्धत कृति,, पृ0 126, 306। इसी प्रकार आज जातिवाद या क्षेत्रवाद का शायद ही कोई आचारात्मक पक्ष हों।
41. उद्धत चन्द्र, विपिन (1996), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 125 ।
42. वे हिन्दू धर्म का पालन करने वाले को नही अपितु उसे हिन्दू कहते थे जो भारत को मातृभूमि, पुण्यभूमि मानता हो। ऐसा वे जान–बूझकर करते थे क्योंकि वे यह अच्छी तरह जानते थे कि हिन्दुत्व अथवा राष्ट्रीयता की परिभाषा में धर्म के रूप में हिन्दू धर्म का प्रयोग करने से हिन्दू बंट जायेंगे।
43. चन्द्र, विपिन (1996), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 128 ।
44 दीक्षित, प्रभा (1974), *कम्युनिलिज्म अस्ट्रगल फॉर पावर*, नई दिल्ली, पृ0 9 ।
45. चन्द्र, विपिन (1996)", पूर्व उद्धत कृति, पृ0 153 ।
46 अतीत की दुहाई देकर या उसे वापस लाने और पुरानी विचारधाराओं और संस्थाओं को पुनः स्थापित करने की बात कहकर नई संस्थाओ के पक्ष पोषण और नई विचारधाराओं और संस्थाओ को पुनः स्थापित करने की बात रही है। जैसा कि मार्क्स ने कहा है," "मृत पीढ़ी की परम्परा जीवित पीढ़ी के मन पर दुःस्वप्न के बोझ की भांति छायी रहती है। जब लोग अपने आपको अपने भौतिक परिवेश के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिये तैयार कर रहे होते हैं, एक ऐसी चीज को बनाने में लगे होते हैं जो अब तक नहीं है, ठीक ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन के क्षण वे अपनी सहायता के लिये अतीत की आत्माओं का आवाह्न करने लगते हैं, वे उनके नाम, नारे, छद्मवेश और उधार ली गई भाषा के माध्यम से मंचित कर सकें"– (1973), *द एटीन्थ ब्रूमियें ऑफ लुई बोनापार्ट, इन सर्वेज फ्राम एक्साइल*, में उद्धत नई दिल्ली, पेग्विंन बुक्स, पृ0 146–47 ।

दक्षिण में हरिजनों का इस्लाम धर्म में और उत्तर पूर्व में हिन्दुओं का ईसाई धर्म मे धर्मान्तरण भी चिन्ता का विषय है।[47] उदाहरण के लिये मध्य प्रदेश मे हिन्दुओं की ओर से यह आवाज उठायी गयी कि ईसाई मिशनरी हिन्दुओं को लालच देकर अथवा बल के द्वारा ईसाई बना रहे हैं। यह आन्दोलन इतना गम्भीर था कि 14 अप्रैल 1954 को मध्य प्रदेश सरकार ने इन आरोपों की जॉच के लिये नियोगी कमेटी की नियुक्ति की।[48] पंजाब में हिन्दुओं और सिक्खों के बीच जो टकराव है उसमें साम्प्रदायिकता अपने उग्र रूप में सामने आई है। देश के कुछ भागों में स्थित धार्मिक स्थलो में यथा– पंजाब में स्वर्ण मन्दिर एवं अन्य धर्म स्थलों का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिये किया जा रहा है,[49] जो दुर्भाग्यपूर्ण है।

यह उल्लेखनीय है कि कुछ धर्मों में आन्तरिक रूप से भी विभाजन दिखाई देता है। उदाहरण के लिये मुसलमान दो प्रमुख सम्प्रदाओं– शिया और सुन्नी के बीच विभाजित है और देश के कुछ भागों में उनके बीच काफी तनाव रहता है। इसी प्रकार निरंकारी और अकाली सिक्खों के बीच हिंसात्मक झगडे हुये हैं। लखनऊ में सिया और सुन्नी के मध्य एवं अमृतसर और कानपुर में निरंकारी और अकाली सिक्खों के मध्य हमेशा संघर्ष होते रहे हैं। संक्षेप में, राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या केवल दो धार्मिक समूहों के बीच एकता और सद्भावना उत्पन्न करने तक सीमित नहीं है, समस्या एक धर्म विशेष के अन्दर पाये जाने वाले अनेक उप समूहों को एकता के सूत्र में बांधने की है।

(ग) जातिवाद– भारत में जाति एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व है, जिसने भारतीय समाज को असंख्य समूहों में विभाजित कर दिया है। हर जाति की अपनी अलग दुनिया है और प्रत्येक में असंख्य उपजातियां विद्यमान हैं। संघर्ष केवल ब्राह्मण और शूद्र अर्थात बड़ी जाति और छोटी जाति के बीच ही नहीं है, टकराव प्रत्येक जाति के अन्दर भी पाया जाता है। जाति ने समाज को छोटे–छोटे समूहों में विभाजित कर दिया है और इन सबमें इस बात के लिये संघर्ष है कि वे वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में से कितना लाभ उठा सकते हैं। अपने हितों को सुरक्षित रखने और उन्हें ज्यादा से ज्यादा विकसित करने की आकांक्षा विभिन्न जातियों के बीच प्रतिस्पर्धा और टकराव उत्पन्न करती है। यह सोचनीय स्थिति है कि आजादी के 55 वर्ष बीत जाने के बाद भी भारतीय समाज में ऊच–नीच का भेद विद्यमान है। यह कहना गलत न होगा कि उच्च जातियों ने राजनीतिक आधुनिकीकरण के कुछ मूल्यों को बड़ी हद तक परिस्थितियों से मजबूर होकर ग्रहण किया ओर शायद इसी कारण भारतीय राजनीति में दिखावापन के तत्व ने प्रवेश किया जिसकी व्याख्या मौरिस जोन्स ने "राजनीति की विभिन्न भाषायें" शीर्षक के अन्तर्गत की है।[50] इसका अर्थ यह है कि उच्च जातियों ने समानता के सिद्धान्त को व्यवहारिक कारणों और राजनीतिक व्यवस्था से स्वीकार किया यद्यपि आन्तरिक रूप से

---

47. उत्तर–पूर्व भारत विशेषकर नागालैण्ड व उड़ीसा में ईसाई मिशनरियों द्वारा एक बड़ी संख्या में हिन्दुओ को ईसाई बनाने का अभियान गत दो दशकों में बहुत तेजी से रहा है। ईसाई मिशनरियों की इस प्रकार की गतिविधि का हिन्दुओं की ओर से घोर विरोध किया गया। हाल के वर्षों में उड़ीसा में ग्राहम स्टेन्स व एक अन्य पादरी की हत्या एवं चर्चों पर होने वाले हमले इसी तनाव का परिणाम है।
48. वाधवा, कमलेश (1975), *माइनरिटीज सेफगार्ड्स इन इण्डिया,* नई दिल्ली, थामसन प्रेस इण्डिया, पृ0 161 ।
49. सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 304 ।
50. जौन्स, मौरिस (1967), *गवर्नमेन्ट एण्ड पोलिटिक्स,* लंदन, हचिंसन एण्ड क0, पृ0 52–60 ।

परम्परावादी मूल्यों को वे अपने दिल से पूरी तरह निकाल न सके।[51] इसीलिये मौरिस जौन्स का यह कहना है कि भारतीय राजनीति के सहभागियो की कथनी और करनी में अन्तर है। ऐसा ठीक ही कहा जाता है कि भारत मे प्रत्येक व्यक्ति जाति को छोडकर सब कुछ परिवर्तित कर सकता है। दुर्भाग्यवश भारतीय संविधान निर्माताओं द्वारा अनुसूचित जातियों[52] और जनजातियों[53] तथा समाज के कमजोर वर्ग के हित में सकारात्मक विवेध की व्यवस्था को स्वीकार करके जाति को मान्यता प्रदान की गयी है। जातिवाद की भावना के क्रियाशील होने का व्यवहारिक परिणाम उपलब्धियों के आधार पर पद तथा स्थिति प्राप्ति के सिद्धान्त के स्थान पर जन्म के द्वारा स्थिति के निर्धारण के सिद्धान्त को बढ़ावा मिला है, जो [illegible] के विरूद्ध एक परम्परावादी समाज की विशेषता मानी जाती है।[54] रजनी कोठारी ने इस स्थिति का वर्णन करते हुये भारत को 'जेनस लाइक माडल' कहा है।[55] इसके अतिरिक्त जाति का राजनीतिकरण हो गया है। वास्तव मे जिसे राजनीति में जातिवाद कहा जाता है वह जातियों के राजनीतिकरण से अधिक और कुछ नहीं है।[56] आशा यह थी कि इन सावैधानिक उपबंधों[52–53] से जातिवाद का प्रभाव कम होगा, लेकिन जाति समूहो के संगठित होने से जातिवाद संगठित रूप से राजनीतिक क्षेत्र में दाखिल हुआ। परिणामस्वरूप, समानता के स्थान पर विषमता और सामाजिक अन्याय, धर्म निरपेक्षता के स्थान पर साम्प्रदायिकता, व्यक्तिगत क्षमता के बजाय जाति के आधार पर पदों का वितरण, सर्वसाधारण के हितों के बजाय समूह हितों की प्रधानता आदि का उदय होता है। इस प्रकार, जाति जागरूकता और फलस्वरूप जातीय समुदायों का निर्माण राजनीतिक आधुनिकीकरण मे ही नही राजनीतिक एकीकरण में भी बाधक सिद्ध हुये है। इसी कारण प्रो0 एस0एम0 सईद, रजनी कोठारी के इस दावे को कि "भारतीय राजनीति में कथित जातिवाद वास्तव में जातियो के राजनीतीकरण से अधिक या कम कोई चीज नही है", पूर्णतः सत्य नहीं मानते हैं।[57] हैरीसन का कहना है कि पहले व्यावसायिक आधार पर, ग्रामो के स्तर पर जाति का सामाजिक नियन्त्रण था ; अब जाति ने आर्थिक और राजनैतिक प्रतिद्विन्दिता का जो अधिकांशतः एक ही भाषात्मक, क्षेत्रीय सीमाओं के अन्दर घटित होता है, प्रोत्साहित किया है। इस प्रकार नये तथा विस्तृत जाति–सम्बन्धों का उदय हुआ है। हैरिसन का कहना है कि देश में होने वाले आर्थिक परिवर्तनो के प्रभावस्वरूप जातिवाद का लोप होना तो दूर रहा वह (जातिवाद) पहले से ज्यादा सबल बन गया है।[58] एम0एन0 श्रीवास्तव का कहना है कि परम्परावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राज व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनैतिक संस्थायें अपने मूल रूप में कार्य करने में समर्थ नहीं रही है।[59] डी0आर0 गाडगिल ने भी जातिवाद को राष्ट्रीय एकीकरण के

---

51. तदैव, पृ0 52 ।
52. भारतीय संविधान, अनु0 15, 16(4), 17, 23, 25, 33, 38, 39(अ) (ब) (स), 46, 164, 330, 332, 334, 335 ।
53. भारतीय संविधान, अनु0 16(4), 33, 46, 150, 154, 164, 244, 244(5), 275, 330, 332, 334, 338, 339, 340, 342, 365 ।
54. सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 345 ।
55. कोठारी, रजनी (1970), *कास्ट इन इंडियन पोलिटिक्स*, नई दिल्ली, ओरियट लाग्मैन लि0 पृ0 92 ।
56. कोठारी, रजनी (1990), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 154 ।
57. सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 223, 289 ।
58. हेरीसन, सेलिंग एम0 (1960), *इण्डिया दि मोस्ट डेंजरस डिकेड्स*, प्रिस्टन यूनियन प्रेस, पृ0 101 ।
59. श्रीवास्तव, एम0एन0 (जून 1965), "सेमिनार", दिल्ली पृ0 2, उद्धत सईद, एस0एम0, (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 290।

लिये हानिकारक मानते हुये कहा है कि क्षेत्रीय दबावों से कहीं ज्यादा खतरनाक बात यह है कि वर्तमान काल में जाति व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने में बाधक सिद्ध हुयी है।[60] जातिवादी मानसिकता के विकास में अभिवृद्धि होने से हमारी सामाजिक एकता के समक्ष खतरा पैदा हो गया है। आज स्थिति यह है कि न्यूनाधिक रूप से भारत में निर्वाचक मण्डल जातिगत आधार पर विभाजित है। उदाहरण के लिये तमिलनाडू और महाराष्ट्र में यह विभाजन ब्राह्मण बनाम गैर ब्राह्मण, आन्ध्र प्रदेश में कम्मा बनाम रेड्डी, राजस्थान में जाट बनाम राजपूत, गुजरात में वन्या बनाम पट्टीदार, केरल में एजवा बनाम नायर, कर्नाटक में लिंगायत बनाम बोकालिंगा, बिहार में यादव बनाम ठाकुर, हरियाणा में जाट बनाम ब्राह्मण तथा उत्तर प्रदेश में सवर्ण बनाम पिछड़े वर्ग के रूप में देखने को मिलता है। इस प्रकार जातीयता की भावना ने राजनीतिक प्रतिद्वन्छिता का रूप धारण कर लिया है। जातिगत आधार पर समाज का यह वैमनस्यपूर्ण विभाजन राष्ट्रीय एकता की भावना को दुर्बल करता है।

प्रो0 एस0एम0 सईद के मत में भारत के विभिन्न राज्यों में जाति और राजनीति के मध्य अन्तःक्रिया के चार विभिन्न रूप विकसित हुये हैं।[61] इस अन्तःक्रिया का पहला स्वरूप दक्षिण भारत विशेषकर तमिलनाडू में देखने को मिलता है, जहाँ ब्राह्मणों और अनेक निम्न जातियों के मध्य प्रतिद्वन्दिता का सुदीर्घ इतिहास रहा है।[62] जाति और राजनीति के मध्य क्रिया का दूसरा रूप महाराष्ट्र में देखने को मिलता है। महाराष्ट्र की स्थिति तमिलनाडू से कुछ भिन्न रही, यद्यपि यहां भी ब्राह्मण बनाम मराठा का संघर्ष निरन्तर चलता रहा और अन्ततः मराठों का यह संघर्ष सन् 1960 में अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया जब महाराष्ट्र नामक एक नये राज्य की स्थापना हुयी। ए0जे0दस्तूर के शब्दों में "जिस दिन से महाराष्ट्र का निर्माण हुआ उस दिन से इस राज्य के विशिष्ट वर्ग और राजनीतिक नेतृत्व में अत्यधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये।[63]

गुजरात, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक में इस अन्तःक्रिया का तीसरा रूप देखने को मिलता है। इन तीनों राज्यों में तीन मध्यवर्गीय जातियां राजनीतिक संघर्ष में रत दिखाई पड़ती हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन राज्यों में राजनीतिक क्षेत्र में केवल दो जातियों का प्रभुत्व है, जो अपनी प्रथाओं, सामाजिक स्थिति और आर्थिक साधनों की दृष्टि से एक दूसरे से पर्याप्त साम्य रखती है। दूसरे शब्दों में तमिलनाडू और महाराष्ट्र के विपरीत, जहाँ असमान जातियों के मध्य राजनीतिक प्रतिद्वन्दिता पायी जाती है, इन राज्यों में लगभग दो समान जातियों में प्रतिस्पर्धा पायी जाती है।[64]

इस अन्तःक्रिया का चौथा स्वरूप, बिहार, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में परिलक्षित होता है। इन राज्यों में परम्परागत रूप से ब्राह्मण और क्षत्रिय राजनीतिक शक्ति के धारक रहे है, जबकि इनके राजनीतिक वर्चस्व को दलित और पिछड़ी जातियों द्वारा चुनौती दी जा रही है। उच्च जातियों के प्रतिक्षेप के रूप में हिन्दू कट्टरतावाद के अभ्युदय और भाजपा के पक्ष में अन्य सभी राजनीतिक दलों

---

60 गाडगिल, डी0आर0—उद्धत, हेरीसन सेलिंग एम० (1960), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 188।

61 सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 286—87 ।

62. कोठारी, रजनी (1990),पूर्व उद्धत कृति, पृ0 225, इस विषय पर इस शोध ग्रन्थ के अध्याय चार को भी देखे।

63 दस्तूर, ए0के0 (1967), *"दि पैटेन ऑफ महाराष्ट्र पोलिटिक्स"*, इकबाल नारायण (स0) *स्टेट पोलिटिक्स इन इंडिया,* मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन, पृ0 188 ।

64. सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 287 ।

के उच्च जातियों के समर्थन–आधार के ध्वंश ने सामाजिक रूप से अपेक्षा दीन स्थिति में विद्यमान सभी सामाजिक समूहों को गतिशील बना दिया।[65]

राजनीतिक दृष्टि से, विभिन्न मामलों में राजनीतिज्ञों द्वारा जान–बूझकर जाति को अहम मुद्दा बना दिया जाता है। विशेषरूप से, चुनावों के दौरान तो जाति राजनीतिक शक्ति के खतरनाक खेल का माध्यम बन जाती है। प्रत्येक स्तर पर राजनीतिज्ञों द्वारा अपने विरोधियों को अवरोधित करने के लिये जातिगत संघर्ष का माहौल तैयार किया जाता है। जिसका अन्तिम परिणाम हिंसा की राजनीति के रूप में निकलता है। शायद यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि भारतीय राजनीति में जाति एक 'उपलाभ पदावली' बन गयी है।[66]

जातिवाद की इस राजनीति का प्रस्फुटन विभिन्न जातियों के लिये विभिन्न स्तरों पर आरक्षण की राजनीति के रूप में हुआ। सामाजिक न्याय की स्थापना की आड़ में सत्ता के आकांक्षी राजनीतिक दलों द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों से जातिगत आरक्षण का प्रयोग किया जाता रहा है। हमारा देश पहले से ही विभिन्न गुटों में बंटा हुआ था। आरक्षण, जनसंख्या, को कृतिम रूप से और भी बांट देगा। पहले आरक्षण विशेष परिस्थितियों में केवल पन्द्रह वर्ष के लिये स्वीकृत किये गये थे परन्तु उन्हें हमेशा के लिये जारी रखने से निहित स्वार्थ और अलगाववाद उत्पन्न हो जायेंगे। इससे जाति युद्ध होंगे और देश के टुकडे–टुकड़े हो जायेंगे। स्वतन्त्रता के बाद जब आरक्षण नीति का क्रियान्वयन हुआ तो उस समय प्रशासनिक व्यवस्था मे कुछ ही अनुसूचित जाति और जनजाति के व्यक्ति थे। बाद में जब श्री जगजीवनराम रेल मंत्री थे तब उन्होंने पदोन्नतियों में भी आरक्षण कर दिया जिससे कि वरिष्ठ व्यक्तियों के ऊपर उनके मातहत व्यक्तियों को जो अनुसूचित जाति और जनजाति के थे लगा दिया गया। इससे सरकारी नौकरियों का न केवल राजनीतिकरण हो गया परन्तु, प्रशासन की कार्यकुशलता भी प्रभावित हुयी। जिस प्रकार देश के विभाजन के समय प्रशासनिक सेवाओं में कार्यरत मुस्लिम सदस्य पाकिस्तान के पक्ष में काम कर रहे थे और गैर–मुस्लिम भारत के लिये, इसी प्रकार आरक्षण नीति के कारण अफसर अब जाति और धर्म के आधार पर काम कर सकते हैं। यदि यह 15–20 वर्ष भी और चला तो पूर्ण रूप से समाज का विघटन हो जायेगा।

पिछले 52 वर्षों के अनुभव ने यह बतलाया है कि आरक्षण नीति ने वांछित परिणाम नहीं दिये हैं। नौकरियों और शिक्षा संस्थाओं में आरक्षण से कुछ ही जनजातियों (जैसे मीणा) और कुछ जातियों (जैसे बैरवा) को ही लाभ मिला है। जबकि आरक्षण से झगड़े और तनाव ज्यादा उत्पन्न हुयें हैं। यह एक मूल प्रश्न है कि पिछड़ेपन की जातिगत पहचान कैसे सम्भव है ; विशेष रूप से उस देश में जहाँ सरकारी ऑकडों के अनुसार ही लगभग 40प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे हैं।

राजनीति में जाति जैसी अतार्किक इकाई को इस प्रकार महत्व दिया जाना किसी भी विकासशील लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिये चिन्ता का विषय है। जातिगत आधार पर आम चुनाव में प्रत्याशियों का चयन सरकारी सेवाओं में नियुक्ति एवं पदोन्नति आदि इस तथ्य के संकेतक हैं कि एक जाति विहीन सामाजिक व्यवस्था मात्र एक चमकीला आदर्श है। जबकि, वास्तविकता यह है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था आज पूर्णतया जातिगत आधारों पर आधारित है। जनसंख्या के शोषित और पीड़ित वर्ग के लोगों को आगें बढ़ाना, यद्यपि जरूरी था, लेकिन जाति व्यवस्था पर जरूरत से

65. लाल, नन्द (जून, 1995), *"भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका"*, प्रतियोगिता दर्पण, आगरा, उपकार प्रकाशन, पृ0 1713 ।

66 तदैव।

ज्यादा जोर देने से राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। प्रो0 एन्द्रेबेते का यह मत उचित प्रतीत होता है कि राजनीति ने जाति की चेतना को आम आदमी के मन में पुर्नस्थापित कर दिया है।[67] यह स्थिति का व्यंग्य ही है कि सामाजिक प्रक्रिया में जाति का महत्व स्वाभाविक रूप से घट रहा है, परन्तु राजनीतिक प्रक्रिया के निर्धारक तत्व के रूप में इसका महत्व बढता जा रहा है।[68]

(घ) आर्थिक असन्तुलन और क्षेत्रीय विषमता– देश के विभिन्न भागों के बीच पाया जाने वाला आर्थिक असन्तुलन और आर्थिक शोषण पारस्परिक मतभेदों को बढावा देने में प्रभावशाली कारक रहा है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों के असमान विकास का राष्ट्रीय एकीकरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। देश के कुछ राज्यों की आर्थिक स्थिति ज्यादा अच्छी है जबकि बिहार और उ0प्र0 जैसे राज्य आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक पिछड़े हुये हैं। राजनीतिक कारणों से विभिन्न राज्यों के सांसदों में इस बात कि होड़ लगी रहती है कि ज्यादा से ज्यादा औद्योगिक विकास और अन्य सार्थक योजनायें उनके राज्य में हो, उनके चुनाव क्षेत्र में लायी जाये, भले ही राष्ट्रीय दृष्टि से ऐसा करना अनुपयुक्त ही क्यों न हो। यदि यह कहा जाय कि आजादी के बाद हुये अनेक सामाजिक आन्दोलनों का मुख्य कारण यही असमान विकास था तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। उदाहरण के लिये बिहार, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा के जनजातीय समूहों ने झारखण्ड आन्दोलन में अन्य प्रश्नों के अलावा क्षेत्र के पिछड़ेपन का प्रश्न भी उठाया। पृथक राज्य की मांग करते हुये, इस आन्दोलन से जुडे हुये लोगों का कहना है कि इस क्षेत्र के समृद्ध प्राकृतिक संसाधनों का शोषण कर उन्हें दूसरों के लाभ के लिए भेजा जा रहा है। इन लोगों में सम्भावित या वास्तविक भय, कि वे सुख–सुविधाओं से वंचित है, असंतोष पैदा करता है। बिहार में बिहार बचाव मोर्चा, इस बात की मांग कर रहा है कि बिहार मे जो भी सार्वजनिक या निर्जी उपक्रम खनिज उत्पादन (मिनरल प्रोडक्टस) का व्यापार कर रहे है उनके मुख्य कार्यालय बिहार राज्य के अन्तर्गत होना चाहिए।[69] क्योंकि राज्य के बाहर इनके मुख्यालय होने से बिहार वालों के लिये रोजगार का अवसर खत्म हो जाता है। इसी प्रकार हिमाचल प्रदेश में पहाड़ी नामक संगठन विदेशियों के (अन्य प्रदेश के लोगों को) विरूद्ध आन्दोलन कर रहा है। उनका कहना है कि स्थानीय निवासियों को विदेशियों के हाथों कोई सम्पत्ति नहीं बेचनी चाहिये।[70]

इस प्रकार, एक राज्य विशेष के आर्थिक संसाधनों पर दूसरे राज्य के लोगों के अधिपत्य का घोर विरोध किया जा रहा है। वे सोचने लगे है कि भारत का अंग बने रहने पर उनके क्षेत्र का सामाजिक और आर्थिक विकास नहीं होगा। अतः सामाजिक–आर्थिक विकास के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीय असन्तुलन समय–समय पर संगठित राष्ट्र की धारणा के लिये खतरा बन जाता है।

(ड.) राजनीतिक दलों की विघटनकारी भूमिका– राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया मे राजनीति दलों की भी श्लाघनीय भूमिका होती है। क्योंकि राष्ट्रीय एकीकरण एक ओर तो संघर्ष प्रबन्धन और दूसरी ओर भावनात्मक एकीकरण से जुड़ा हुआ है। चूंकि राजनीतिक दल समाजीकरण और हित सकुलन का महत्वपूर्ण साधन है। अतएव ये "सीमित प्रतिबद्धताओं" को राष्ट्रीय संस्कृति के अनुकूल करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में भारतीय राजनीतिक दलों की भूमिका विघटनकारी और नकारात्मक रही है। हिन्दू महासभा, भारतीय जनता पार्टी, इत्तेहादुल मुसलमीन, मुस्लिम यूनाइटेड फ्रन्ट,

67. बेतें, एन्द्रे (1994), *"मार्क्स ऑफ आइडेन्टिटी पॉलिटिक्स रेनफोर्सिंग कास्ट"*, टाइम्स ऑफ इण्डिया, फरवरी 26।
68. श्री निवास, प्रो0 एम0एन0, (1966) *सोशल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया,* एलायड पब्लिशर्स, दिल्ली।
69. सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 370 ।
70. तदैव ।

मुस्लिम लीग, जमाएत ए इस्लामी, अकाली दल, गोरखा लीग और केरल कांग्रेस जैसे राजनीतिक दल साम्प्रदायिक है जबकि द्रविड मुनेत्र कजगम, आल इण्डिया द्रविड मुनेत्र कजगम, रिपब्लिकन पार्टी, नेशनल पार्टी और बहुजन समाज पार्टी जैसे राजनीतिक दल जातिवादी हैं। इन राजनीतिक दलों ने देश में साम्प्रदायिकता और जातिवाद का विषाणु फैलाकर राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को अवरोधित कर रखा है।[71] यहाँ तक कि चुनावों के दौरान कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय पार्टी की भूमिका भी संदेहास्पद रही है। क्योकि यह केरल, पंजाब और त्रिपुरा मे क्रमश. मुस्लिम लीग एव अकाली दल जैसे साम्प्रदायिक दल[72] और त्रिपुरा उपजाति युवा समिति जैसे पृथकतावादी राजनीतिक दलों से गठबन्धन करता रहा है। जातिवादी दलों और समूहों के साथ उनके समझौतों का रिकार्ड कदाचित और भी बुरा है।[73] इसने साम्प्रदायिकता, जातिवाद और दल बदल को प्रश्रय देकर राष्ट्रीय हितों पर दलीय हितों को प्राथमिकता दी है। वास्तविकता तो यह है, कि भारत में हर स्तर के राजनीतिक नेताओं में धार्मिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद, संकीर्णता आदि तत्व विद्यमान रहे है।[74]

(च) क्षेत्रीयतावाद, जनजातीयवाद और प्रादेशिक विघटन का खतरा– क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीय एकीकरण के समक्ष एक और चुनौती है। समाज के वे वर्ग जिनकी अपनी पृथक सांस्कृतिक पहचान हैं, इसे राजनीतिक धरातल पर भी सुरक्षित रखना चाहते है। उदाहरण के लिये बिहार, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के आदिवासी पृथक झारखण्ड राज्य की मांग कर रहे हैं।[75] पं0 बंगाल में पृथक गोरखा लैण्ड, असम में बोडोलैण्ड और उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के कुछ हिस्सों को मिलाकर पृथक बुन्देलखण्ड राज्य की मांग की जा रही है। देश को पृथक सांस्कृतिक पहचानो की पंक्ति पर विभाजित करने की ये मांगें राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में प्रमुख बाधा है। यही नहीं कुछ सामाजिक घटक भाषायी समानता के आधार पर पड़ोसी राज्यों का हिस्सा बनना चाहते है और इस तथ्य ने बेलगाम के कन्नाड़िगा और महाराष्ट्रियों के मध्य तनाव पैदा किया है। सीमा और अन्तर्राज्यीय जल विवादों ने कुछ राज्यों में हिंसा को जन्म दिया है जैसे कि असम एवं नागालैण्ड व तमिलनाडू एवं कर्नाटक मे। इस प्रकार इसने भी राष्ट्रीय एकीकरण को विपरीत ढंग से प्रभावित किया है।

भूमिपुत्र के सिद्धान्त ने भी क्षेत्रीयतावादी प्रवृत्तियों को अत्यधिक बढावा दिया है। इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि प्रत्येक राज्य या क्षेत्र के लोग दूसरे राज्य के लोगों को जो उस भूमि पर पैदा नहीं हुये हैं, उन्हें विदेशी मानकर, अपने राज्य में उनके प्रवेश को रोकना चाहते हैं और जो लोग इन राज्यो में सरकारी सेवा तथा विभिन्न व्यवसायों में लगे हुये हैं, उन्हें अपने राज्य से बाहर निकाल देना चाहते हैं। बंगाल केवल बंगालियों के लिये, महाराष्ट्र महाराष्ट्रियों के लिये और असम, असम वालों के लिये है, इस प्रकार के नारे स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय एकता के लिये घातक है। भूमिपुत्र सिद्धान्त सामाजिक संकीर्णता को जन्म देता है और देश के विभिन्न भागों में रहने वालों के बीच वैमनस्य तथा द्वेष उत्पन्न करता है। इस प्रकार भूमिपुत्र की अवधारणा राष्ट्रवाद के बिल्कुल प्रतिकूल है।

---

71. लाल, नन्द (जून, 1993), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 1421 ।
72. चन्द्र, विपिन (1996), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 235 ।
73 तदैव।
74 सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति,, पृ0 324 ।
75. बिहार के आदिवासी इलाकों को मिलाकर 9 नवम्बर 2000 को वनांचल राज्य का गठन कर आशिंक रूप में पृथक झारखण्ड की मांग पूरी कर दी गयी है। इसी प्रकार म0प्र0 के आदिवासी बहुल क्षेत्रों को मिलाकर 1 नवम्बर 2000 को छत्तीसगढ़ और 15 नवम्बर 2000 को उत्तरांचल राज्य की स्थापना की गयी है।

असम में विदेशियों के विरूद्ध जो आन्दोलन हुआ उसका आधार यह भय था कि यदि बड़ी संख्या में असम से बाहर के लोगों को असम में रहने की सुविधा उपलब्ध रही तो कुछ ही दिनों के बाद असमवासी अल्पसंख्यक हो जायेंगे। इस स्थिति से उत्तेजित होकर असम में "आल आसामीज स्टूडेन्ट्स यूनियन" और "असम गण संग्राम परिषद" ने कुछ इस प्रकार के नारे दिये– "भारत माता को भूल जाओं, असम माता को प्यार करों", "यदि तुम एक सांप और बंगाली को देखो तो सांप को मारने के बजाय पहले बंगाली को मार दो।"[76]

त्रिपुरा में भी बंगालियों की संख्या बढ़ गयी है, जिससे वहां भी विदेशियों के विरूद्ध घोर असन्तोष पाया जाता है। अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिये लगभग एक दशक पूर्व त्रिपुरा में 'त्रिपुरा उपजाति युवा समिति' का निर्माण किया गया है। इस संगठन ने 1948 के बाद से त्रिपुरा में आये हुये विदेशियों को निकालने का नारा दिया हैं। त्रिपुरा सरकार ने यह आश्वासन दिया है कि 1971 के उपरान्त बांग्लादेश से त्रिपुरा में आये हुये व्यक्तियों को राज्य से निकाल दिया जायेगा। विदेशियों के विरूद्ध इसी प्रकार का घोर विरोध अरूणाचल, मिजोरम तथा मणिपुर में भी पाया जाता है मेघालय में गैर कबायली लोगों के विरूद्ध आन्दोलन चल रहा है और इस बात की मांग की जा रही है कि 1951 के बाद से जो नेपाली और बंगालवासी मेघालय में आकर बस गये है, उनको निकाल दिया जायें।

क्षेत्रीयतावाद का उग्ररूप पृथकतावादी आन्दोलन है। तमिलनाडू में द्रविडस्तान, तमिलस्तान और पंजाब में खालिस्तान की मांग ने न केवल समाज के विभिन्न वर्गों के बीच तनाव पैदा कर दिया है, बल्कि यह मांग देश की अखण्डता के लिये भी बहुत घातक है। बीसवीं सदी के छठे दशक के प्रारम्भ में कबायली नेता फिजों ने भारत से अलग एक पृथक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य नागालैण्ड बनाने की मांग की थी। आज वृहत्तर नागालैण्ड की मांग की जा रही है। आठवें दशक में लाल डेगां ने इसी प्रकार की मांग मिजों के लिये की। तमिलनाडू में डी0एम0के0 ने भारतीय संघ से अलग द्रविणस्तान नाम से एक पृथक राज्य बनाने की मांग की[77] जो बाद में राज्यों की अधिकतम् स्वायत्तता में बदल गयी।[78] दो दशक पहले पंजाब में खालिस्तान बनाने की मांग की गयी एवं इस आन्दोलन के नेताओं ने अपना अलग झण्डा और कुछ नोट मुद्रा भी खालिस्तान देश के नाम से जारी किये।[79]

इससे देश के सामने एक खतरा राज्यों के संघ से अलग हो जाने का पैदा हो गया था। कुछ लोगों ने आशंका प्रकट की थी कि प्रान्तीयता की भावना या प्रदेश के लिये अधिक अधिकार या स्वायत्तता की मांग बढती गयी तो देश छोटे–छोटे अनेक स्वतन्त्र राज्यों में बट जायेगा या यहॉ तानाशाही कायम हो जायेगी।[80] किन्तु पहले भी देश में ऐसे आन्दोलन हुये हैं और वर्तमान में भी हो

76. सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 369 ।
77 हार्डग्रेव, राबर्ट एल0 (1965), *द द्रविड़ियन मूवमेन्ट*, बम्बई, पृ० 48 ।
78. देश के दूसरे भागों के जनमत ने भी द्रमुक के रूख पर प्रभाव डाला। पृथकता की प्रवृत्ति को रोकने के लिये राष्ट्रीय एकता परिषद की उपसमिति की सिफारिश पर संविधान में संशोधन किया गया। इसका उद्देश्य प्रान्तीयता और भाषा की कट्टरता से देश की एकता, अखण्डता और प्रभुता की रक्षा करना था। इस संशोधन ने भी द्रमुक को अपनी नीति बदलने को बाध्य किया, जिससे वह संविधान के दायरें में रहकर काम कर सके।
79. सईद, एस0एम0 (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 369, इसी शोध ग्रन्थ का अध्याय तीन "भारतीय राजनीति मे क्षेत्रीयतावाद के आयाम" भी देखें ।
80. हेरीसन, सेलिंग एम0 (1960), पूर्व उद्धत कृति, पृ० 178 ।

रहे है— कुछ हद तक पुरानी कथाओं के आधार पर और कुछ उत्तर—दक्षिण, ब्राह्मण—अब्राह्मण, आर्य—द्रविण के भेदभाव के आधार पर। परन्तु पृथकता की भावना उनमें ज्यादा बलवान और खतरनाक है जहां ऐसी आर्येत्तर जातियां है जो भारतीय संस्कृति की धारा में पूरी तरह मिल नहीं पायी है जैसे— उत्तर—पूर्व की आदिम जातियों का इलाका।[81] राष्ट्रीय एकीकरण के समक्ष सबसे पहला खतरा उत्तर—पूर्व की नागा जाति द्वारा ही उपस्थित किया गया था।[82] इस क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार ने आदिवासियों को अपने प्रति विश्वस्त बनाये रखने के उद्देश्य से दोहरी नीति का अनुसरण किया। पहली बात तो यह है कि अन्य लोगों को इनसे घुलने मिलने नहीं दिया गया और दूसरी बात यह है कि जनजातियों के विशिष्ट सदस्यो को विभिन्न पद प्रदान कर दिये गये ताकि वे राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित न हों। अंग्रेजों की यह नीति काफी हद तक सफल भी रही। नागालैण्ड से मिलती—जुलती समस्या कुछ वर्षों के बाद पूर्वोत्तर के मीजो स्वायत्त जिले में खड़ी हो गई।[83]

81. अधिक विस्तार के लिये देखें डोनोवन, आर्थर जें0 (10 अक्टूबर, 1967) का लेख, *"सेप्टोटिस्ट, टेडेंसीज इन ईस्टर्न इण्डिया"*, एशियन सर्वे—सातवाँ संस्करण। इस शोध ग्रन्थ का अध्याय चार 'भारत में क्षेत्रीय आन्दोलन' भी देखें।
82. आजादी के बाद भारत सरकार ने, नागाओं को आसाम राज्य और सम्पूर्ण भारत के साथ एकबद्ध करने के लिये, एक नीति का पालन शुरू किया। परन्तु नागा नेतृत्व के एक तबके ने इस एकीकरण का विरोध किया और ए0जेड0 फीजो के नेतृत्व मे बगावत कर दिया। उन्होने भारत से अलग होकर पूरी स्वतंत्रा की मांग रखी। उन्हें इस कार्रवाई मे कुछ अग्रेज अधिकारी और मिशनरियो का योगदान भी प्राप्त हुआ। 1955 मे इन अलगाववादी नागाओं ने स्वतंत्र सरकार के गठन की घोषणा कर दी और हिंसक विद्रोह आरम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप भारत सरकार ने जवाब में वहाँ शान्ति और व्यवस्था बहाल करने के लिये 1956 के आरम्भ में सेना भेज दी। 1957 के मध्य में जब सशस्त्र विद्रोह की कमर एक बार तोड़ दी गई, तो अपेक्षाकृत नरमपंथी नागा नेतागण डा0 इमकोनग्लिबा ओ के नेतृत्व में सामने आयें। उन्होंने भारतीय संघ के अन्दर नागालैण्ड राज्य के निर्माण के लिये समझौता किया। भारत सरकार ने उनकी मांग को एक के बाद एक कई कदम उठाकर स्वीकार कर लिया और अन्ततः 1963 में नागालैण्ड राज्य अस्तित्व में आया। इस प्रकार भारतीय राष्ट्र के एकीकरण की दिशा में एक और कदम उठाया गया। नागालैण्ड का राज्य के रूप में गठन होते ही विद्रोह की कमर टूट गई और विद्रोहियों के प्रति आम जनता का समर्थन भी समाप्त हो गया। विद्रोह पर तो काबू पा लिया गया, लेकिन छिटपुट गुरिल्ला गतिविधि और उग्रवादी हिंसा अब भी कभी—कभी भडकती रहती है।— चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य, मुखर्जी (2002), *आजादी के बाद का भारत, 1947—2000*, दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृ0 157—158 ।
83. कुछ अंग्रेज अधिकारियों की शह पर अलग होने की मांग एक बार पहले भी 1947 में यहां उठ चुकी थी, परन्तु तब इसे कोई खास समर्थन नहीं मिल पाया था। लेकिन, 1959 के अकाल के दौरान, आसाम सरकार के राहत कार्यों से उत्पन्न भयानक असंतुष्टि ओर 1961 मे आसाम राजभाषा विधेयक का अनुमोदन किये जाने के कारण वहां लालडेंगा की अध्यक्षता मे मीजो नेशनल फ्रण्ट का गठन हुआ। चुनावी राजनीति में भाग लेते हुये भी फ्रण्ट ने अपना सैन्य दस्ता विकसित किया जिसे हथियार और प्रशिक्षण पूर्वी पाकिस्तान और चीन से मिलने लगा। 1 मार्च 1966 को मीजों नेशनल फ्रण्ट ने भारत से अलग होकर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। सैनिक विद्रोह की घोषणा करते हुयें उन्होंने नागरिक और सैनिक ठिकानों पर हमला करना शुरू कर दिया। भारतीय सरकार और सेना ने इसके जवाब में शीघ्रता से विद्रोह विरोधी कदम उठायें और विद्रोह को कुचलकर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। ज्यादातर कट्टर मीजों नेता भागकर पूर्वी पाकिस्तान चले गये। परन्तु उसके बाद भी छिटपुट गुरिल्ला गतिविधियां वहां चलती रही हैं।
1973 में अपेक्षाकृत कम उग्रवादी मिजो नेताओं ने जब अपनी मांगों में भारी कटौती कर दी, उसके बाद भारत संघ के अन्दर अलग मिजोरम राज्य की उनकी मांग स्वीकार कर ली गई और मिजो जिलों को आसाम से अलग कर मिजोरम को केन्द्र शासित प्रदेश का दर्जा दे दिया गया। 1970 के दशक के अन्तिम दिनों में मीजों उग्रवाद में एक बार फिर उफान आया, लेकिन उसे भी भारतीय सेना द्वारा प्रभावशाली तरीके से निपटा दिया गया। बचे हुये विद्रोहियों को बहुत उदार शर्तों पर आम माफी और शान्ति स्थापित करने के लिये संधिवार्ता का अवसर प्रदान किया गया। अन्ततः 1986 में एक समझौता हो गया। लाल डेंगा और मीजो नेशनल फ्रण्ट अपनी भूमिगत हिंसक गतिविधियो को त्याग देने के लिये तैयार हो गये तथा हथियार एवं गोला—बारूद समर्पित कर वे संवैधानिक राजनीति की मुख्य धारा में फिर शामिल हो गये। मिजोरम को फरवरी 1987 में पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान कर संधि के हिस्से के रूप में लाल डेंगा को मुख्यमंत्री बनाकर एक सरकार स्थापित की गई। जिसके साथ ही, उन्हें अपनी परम्परा, संस्कृति और भूमि कानून बनायें रखने की छूट दे दी गई।— तदैव,, पृ0 159—160 ।

वस्तुतः पहले आर्थिक और बाद में सामाजिक और सांस्कृतिक शोषण ने जनजातियों के नेताओ को उत्तेजित कर दिया और उन्होने जन–जातियो के लोगो को संगठित कर आन्दोलन आरम्भ किया। वंचना की भावनाओं के बढने से जन आन्दोलन और सघर्ष भी बढे। प्रारम्भ में वे शोषण करने वालों और उनके अधिकारों को हडपने वालों के विरूद्ध थे, परन्तु अन्त में वे सरकार और शासकों के विरूद्ध हो गये। वास्तव में जनजातीय अशान्ति और असंतोष कई उत्तरदायी कारकों का संचित परिणाम है। इसके प्रमुख कारण है –

* अकर्मण्यता, उदासीनता और प्रशासकों और अफसरों में जनजाति लोगों की शिकायतों को दूर करने में सहानुभूति का अभाव।
* जंगल के कानूनो और नियमों का कठोरपन।
* जनजाति के लोगों की जमीनो को अजनजाति के व्यक्तियों के कब्जे मे जाने की रोक के लिये कोई कानून नहीं होना।
* ऋण की सुविधाओं का अभाव।
* जनजाति के लोगों के पुर्नवास के लिये सरकारी कार्यवाही में अकुशलता।
* अधिकांश आदिवासी बहुत कम जनसंख्या वाली पहाडियों पर रहते हैं और आदिवासी क्षेत्रों में संचार और यातायात बहुत कठिन होते हैं।
* जनजाति समस्याओं को हल करने में राजनीतिक अभिजनों में अभिरूचि और सक्रियता का अभाव।
* उच्चस्तरीय समितियों की सिफारिशों को कार्यान्वित करने में विलम्ब।
* सुधारक उपायों की कार्यान्वित में पक्षपात।

संक्षेप में जनजाति अशान्ति के कारणों को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कहा जा सकता है।

आदिवासियों और गैर–आदिवासियों के बीच सम्बन्ध बिगड़ रहे हैं और गैर–आदिवासी अपनी सुरक्षा हेतु अधिकाधिक रूप से अर्द्ध सैनिक बलों पर निर्भर हो रहें हैं। इसलियें इनकों सम्भालने के लिये विशेष व्यवस्था की आवश्यकता है और इस प्रकार की व्यवस्था की भी गयी है। भारत के संविधान के अन्तर्गत जनजातियों के हितों की सुरक्षा करने का प्रयास, व्यवस्थापिका द्वारा नौकरियों, शैक्षणिक सस्थाओं में उनके लिये स्थान आरक्षित करने[84] तथा जनजातीय परिषद की स्थापना[85] आदि के माध्यम से (डी ट्राइब्लाइजेशन की प्रक्रिया) आरम्भ हुयी वही दूसरी ओर इससे पृथकतावाद को भी बढ़ावा मिला ; क्योंकि शैक्षणिक सुविधाओं के प्रसार के कारण शिक्षित जनजातीय युवकों में बेरोजगारी बढ़ने लगी। इसके अतिरिक्त जनजातीय क्षेत्रों में गैर जनजातीय लोगों के बहुतायत से आगमन के कारण उनका शोषण बढ़ता गया और क्रमशः उनमें विशिष्ट जनजातीय पहचान खोने का मनोभाव उभरने लगा। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने अपनी पृथक पहचान का मार्ग अपना लिया।

84 भारतीय सविधान, अनु0 365 (भाग–4) ।
85. भारतीय संविधान, अनु0 244 (भाग–1) से सम्बन्धित पाँचवी अनुसूची ।

चूंकि जनजातियों की कुछ आबादी पड़ोसी राज्यों में भी निवास करती है। अतएव वे पृथक जनजातीय होमलैण्ड के विषय में भी सोचने लगें।

राजनैतिक गतिविधि बढ़ने और शिक्षा तथा आर्थिक विकास के फलस्वरूप छोटे समूह जो अब तक पिछडे हुये थें, में अधिकार और स्वायत्तता की आकांक्षा उठना स्वाभाविक हैं समस्या इस बात से उलझ गयी है कि कुछ आदिवासी इलाके चीन और पाकिस्तान से लगे हुये है और उनके द्वारा वहाँ के असन्तुष्ट तत्वों को छापामार युद्ध की ट्रेनिंग देने की कोशिश की गयी है यह खतरा काफी दिनों तक रहने वाला है, अतः सीमान्त इलाकों की राजनैतिक समस्या के समाधान के लिये विशेष प्रयत्न करने होगें। यह समसया, सीमान्त इलाकों में असतोष और सीमा पार से इस असंतोष को प्रोत्साहन कोई ऐसी बात नहीं है जिसका हल आनन–फानन मे निकल आये।

तृतीय अध्याय
भारत
में
क्षेत्रीयतावाद

अध्याय—3

भारत में क्षेत्रीयतावाद

भारत एक महाद्वीपीय आकार का जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा तथा क्षेत्रफल की दृष्टि में विश्व का सातवॉ सबसे बडा राष्ट्र है। भौगोलिक दृष्टि से इसके चिन्हांकित प्राकृतिक भाग और सामाजिक दृष्टि से यहाँ के लोग भिन्न—भिन्न प्रजातियों, धर्मो, भाषा—भाषी जातियों और पंथों के हैं। आर्थिक विकास, शिक्षा के स्तर और राजनीतिक संस्कृति के स्वरूप के आधार पर भिन्न—भिन्न क्षेत्रों के लोगों में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है।

क्षेत्र की विशिष्टता लोगों के बीच फैली हुयी विस्तृत एकात्मकता की भावना से व्यक्त होती है। एकता की यह भावना तरह—तरह के स्रोतों से आती है जैसे—भूगोल, स्थलाकृति, धर्म, भाषा, रीति—रिवाज और लोकाचार, राजनीतिक और आर्थिक विकास की आस्था, जीवन यापन का ढंग, ऐतिहासिक अनुभवों में समान रूप से भागी होना इत्यादि। क्षेत्रीय एकात्मकता का उदय क्षेत्र की अस्मिता के आधार से होता है। अपने क्षेत्र के प्रति हरेक में निष्ठा होती है और क्रमशः यही निष्ठा क्षेत्रीयतावाद का स्वरूप और आकार प्राप्त कर लेती है। यह भावना क्षेत्रीय राजनीति के लिये मार्ग प्रशस्त करती है।

भारत के कतिपय जातीय, धार्मिक और भाषायी समूह जो कुछ क्षेत्र विशेष में सकेन्द्रित हैं ; वे उन क्षेत्रों को अपना मानते हैं और अपनी सांस्कृतिक पहचान को कायम रखना चाहते हैं। साथ ही, भारतीय समाज के परम्परागत स्वरूप के कारण यहाँ आदिकालीन निष्ठा बहुत प्रबल है, जिसके परिणामस्वरूप भारत की राजनीतिक संस्कृति विखण्डित है। इससे राज्य निर्माण की प्रक्रिया में बाधायें पैदा होती हैं। विभिन्न सामाजिक घटक जो इसे विपरीत दिशाओं में खीचतें है के चलते भारत मे क्षेत्रीयतावाद की राजनीति का आविर्भाव हुआ है।

भारत में क्षेत्रीयतावाद की राजनीति के सकारात्मक और नकारात्मक दोनो पहलू है। सकारात्मक शब्दों में कहां जा सकता है कि हर क्षेत्र में नृजाति, भाषा, धर्म इत्यादि हितों पर आधारित स्पष्ट अस्मिता की तीव्र इच्छा होती है। उदाहरण के लिये झारखण्ड आन्दोलन को ही लिया जा सकता है जो कि उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और बिहार के विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ है और अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों के संरक्षण और उन्नति के लिये एक एकीकृत समूह के रूप में बढ़ रहा है। यह प्रक्रिया झारखण्ड क्षेत्र के जनजातीय समूहों की एकात्मकता के पुनः सुदृढ़ीकरण को दिखाती है।

क्षेत्रीयतावाद का नकारात्मक पहलू यह है कि यह राष्ट्र निर्माण के प्रयत्नों में बाधा डाल सकता है, जैसे—पंजाब में खालिस्तान की मांग जो पंजाब के अन्दर और बाहर आतंकवाद और हिंसा को बढ़ावा दे रही है। भारतीय राजनीतिक स्थिति के अधिकांश विश्लेषकों ने सकारात्मक पहलू पर ध्यान नहीं दिया है। क्षेत्रीयतावाद के विश्लेषकों ने दिखाया है कि यह तथ्य एक क्षेत्र के लोगों में बसी आपेक्षिक वंचन की मनोवृत्ति को प्रतिविम्बित करता है। उनका अभिप्राय है कि जो सत्ता में होते है वे जान—बूझकर लोगों पर वंचन का आघात पहुंचाते हैं। ऐसा विशेषकर स्पष्ट है कि विभिन्न क्षेत्रों

के बीच सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों के फलस्वरूप हमें व्यापक आर्थिक असमानताये दृष्टिगत होती हैं। इन असमानताओं के कारण देश के पिछड़े और कम विकसित क्षेत्रों में असंतोष और उत्तेजना फैली है।

दक्षिण, दक्षिण-पूर्व उत्तर-पूर्व, उत्तरी एवं उत्तर-पश्चिम क्षेत्र का प्रत्येक राज्य किसी न किसी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा विवाद अथवा जल बंटवारे या पृथक राज्य की मांग में उलझा हुआ है। प्रत्येक क्षेत्रीय दल अपने राज्य की सीमाओं तक ही सीमित है, जो स्थानीय, जातीय अथवा वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अर्थात, क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य किसी क्षेत्र के लोगों की उस भावना एव प्रयत्नों से हैं, जिनके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिये आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं। इस प्रकार, क्षेत्रीयता राष्ट्रीयता की भावना का विलोम है जिसका उद्देश्य होता है– संकीर्ण क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति। भारतीय राजनीतिक परिवेश में यह एक ऐसी धारणा है जो भाषा, धर्म, क्षेत्र आदि पर आधारित है। यह राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग को ध्वस्त करते हुये विखण्डन और पृथकतावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन प्रदान करती है।

क्षेत्रीयतावाद की राजनीति वैभिन्नता का उत्पाद है। भारत जैसे विशाल देश में अनेक प्रादेशिक संस्कृतियाँ विद्यमान हैं। अतः यहाँ क्षेत्रीयतावाद एक सामाजिक वास्तविकता है। अतएव, भारत में राष्ट्रवाद के उदय को एक प्राकृतिक विकास के रूप में देखा जाना चाहिये। यह आधुनिकीकरण तथा जनसहभागिता की प्रवृत्तियों के मध्य अन्तःक्रिया का परिणाम है।[1] क्षेत्रवाद एक सार्वभौम प्रक्रिया है, परन्तु भारत के संदर्भ में विशिष्ट बात यह है कि यहाँ एक क्षेत्र की राजनीतिक सीमा उस क्षेत्र की सांस्कृतिक और भाषायी सीमा के समानान्तर है। परिणामतः सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक आकांक्षाओं का तथा स्थिति विशेष से असन्तुष्ट राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रकटीकृत होती है। प्रत्येक क्षेत्रीय आन्दोलन, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारकों का उत्पाद होता है। ये आकांक्षायें मुख्य रूप से बेहतर आर्थिक प्रस्थिति, राजनीतिक शक्ति, अपेक्षाकृत अधिक सहभागिता, अधिक क्षेत्रीय स्वायत्तता तथा कभी-कभी पृथक राज्य के रूप में मुखरित होती रही है। परन्तु इनमें से क्षेत्रीयतावाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक राज्य की मांग है। पृथक राज्य की यह मांग आर्थिक पिछडेपन, जाति, भाषा, धर्म आदि को लेकर विभिन्न क्षेत्रों के द्वारा की जा रही है।

असन्तुलित आर्थिक और राजनीतिक विकास जो विकास प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण में स्वाभाविक ही है ने क्षेत्रीय असन्तुलन को जन्म दिया है। जिसके परिणामस्वरूप उप-राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को बल मिला है। इन असमानताओं के कारण देश के पिछड़े और कम विकसित क्षेत्रों में असन्तोष और उत्तेजना फैली है।

---

1. भारत मे क्षेत्रवाद की राजनीति अनेक जटिल कारको का सम्मिश्रण है। प्रत्येक क्षेत्रीय आन्दोलन आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारकों का उत्पाद होता है। उदाहरणार्थ– आन्ध्र प्रदेश में तेलगूदेशम पार्टी का उद्भव एक क्षेत्रीय राजनीतिक दल के रूप में हुआ, परन्तु यर्थाथ में यह राज्य के अभिजन वर्गों के मध्य प्रतिद्वन्दिता का परिणाम थी। आन्ध्र प्रदेश मे रेड्डी और कामा दो प्रभु जातिया हैं। राजनीतिक क्षेत्र में इनकी प्रतिद्वन्तिता का प्रतिनिधित्व क्रमशः कांग्रेस और तेलगूदेशम द्वारा किया जाता है। तेलगूदेश के नेता एन0टी0रामाराव ने "तेलगू आत्मसम्मान" के नाम पर लोगों को संगठित किया। इस प्रकार रामाराव ने क्षेत्रवाद की राजनीति का प्रयोग कांग्रेस का वर्चस्व तोड़ने के लिये किया और इसमे उन्हें काफी सीमा तक सफलता भी मिली।

क्षेत्र एवं क्षेत्रीयतावाद से अभिप्राय

क्षेत्र शब्द एक बहुअर्थी शब्द है, जिसकी परिभाषा देना कठिन है। इसे विभिन्न सदर्भों में अलग–अलग तरह से समझा जाता है। फिर भी इसकी परिभाषा आमतौर पर इस तरह की जाती है कि हर क्षेत्र अपनी भौतिक और सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण अपने पडोसी से भिन्न होता है।[2] कभी–कभी एक क्षेत्र में बहुत से राष्ट्रों को सम्मिलित किया जा सकता है, जैसे आर्कटिक क्षेत्र, दक्षिण पूर्व एशिया का क्षेत्र, सुदूर पूर्वी क्षेत्र इत्यादि। क्षेत्र का प्रयोग राष्ट्र के लिये भी किया जा सकता है जैसे भारत का उप–महाद्वीप क्षेत्र। भारत मे इस शब्द का प्रयोग पूर्वी क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र, उत्तरी क्षेत्र या दक्षिणी क्षेत्र के लिये किया जा सकता हैं । भारत में राजनीतिक सीमा वाले प्रदेश भी विभिन्न क्षेत्रों को बनाते हैं। इसके अतिरिक्त एक प्रदेश की सभी सीमा के अन्दर उप–क्षेत्र भी हो सकते हैं, जैसे–आन्ध्र प्रदेश में तेलंगना क्षेत्र, गुजरात में विदर्भ क्षेत्र इत्यादि। एक ग्रामीण सीमा को भी क्षेत्र की तरह माना जा सकता है। इस प्रकार क्षेत्र एक सापेक्ष शब्द है जिसका अर्थ इसके प्रयोग के साथ बदल जाता है। यहां क्षेत्र के विषय में विवेचन करते हुयें सामान्यतः उसका यह अर्थ लिया गया है कि हर क्षेत्र में सामाजिक सांस्कृतिक भिन्नता है और अपने रीति–रिवाजों, परम्पराओं, मूल्यों और आदर्शों के प्रति चेतनता रखते हुये हर क्षेत्र पर्याप्त मात्रा में एक अस्मित्वान इकाई के रूप में पहचाना जाता है। इस चेतना के कारण क्षेत्र के लोग एक होने का भाव रखते हैं, जो कि बाकी क्षेत्रों से भिन्न होता हैं, चाहे वह प्रान्त, राष्ट्र, महाद्वीप अथवा पृथ्वी ही क्यों न हो। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि क्षेत्र की अवधारणा मे 'साहचर्य' और अन्य क्षेत्रों से 'अलगाव' का भाव अनिवार्यतः निहित होता है। इसके अतिरिक्त क्षेत्र का विशिष्ट तत्व अधिकतम् समरूपता होती है। जिसका आधार भाषा, सामाजिक संगठन, जनांकिकीय गठन, सांस्कृतिक प्रतिमान, आर्थिक जीवन, ऐतिहासिक अनुभव अथवा राजनीतिक पृष्ठभूमि हो सकती है।

क्षेत्रीयतावाद की अवधारणा का प्रयोग संकुचित और वृहत् दोनो संदर्भों में किया जाता है। संकुचित सन्दर्भ में इसका आशय होता है ' स्थानीय हितों के प्रति विशेश लगाव, जबकि वृहत् संदर्भ में इसका प्रयोग केन्द्र के प्रति आन्दोलन को इंगित करने के लिये किया जाता है। एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज में इसे परिभाषित करते हुये हेडविंग हिंट्ज ने लिखा है "सामान्य रूप से क्षेत्रवाद को उग्र केन्द्रीयकरण के विरूद्ध प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। क्षेत्रीय आन्दोलन, भौगोलिक अलगाव, स्वतन्त्र ऐतिहासिक परम्परा, प्रजातीय, जातीय अथवा धार्मिक विशिष्टिता तथा स्थानीय हितों जैसे तत्वों या इनमें से दो या दो से अधिक के मिश्रण का परिणाम होता है।[3] वास्तव में क्षेत्रवाद एकांगी क्षेत्रीय निष्ठा है जो एक विशेष क्षेत्र के व्यक्तियों में पायी जाती है। एक विशेष क्षेत्र के निवासी अपने भू–भाग से ही प्रेम नहीं करते वरन् वह उस क्षेत्र की संस्कृति, सभ्यता, भाषा, रीति–रिवाज तथा अन्य क्षेत्रीय विषमताओं से भी अत्यधिक लगाव रखते

---

2. आई0ई0एस0एस0 (1972), *इंटरनेशल इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसिज,* डेविड, 1 सिलस (सम्पादित) नई दिल्ली, मेकमिलन, पृ0 377 ।
3. "In a general way, regionalism may be defined as a counter movement to any aggressive form of centralization, regionalist problem arise when these is a combination of two or more such factors as geographical isolation, independent historical tradition, racial, ethnic or religious pecularities and local interests."- Hedwing Hintze.

हैं। इस लगाव के फलस्वरूप यह अपने क्षेत्र की उन्नति के लिये निरन्तर प्रयास करते है, तथा अन्य निकट क्षेत्र की उपेक्षा करते हैं। इस प्रकार, क्षेत्रीयतावाद को एक घटना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें लोगों की राजनीतिक निष्ठाएं एक क्षेत्र पर केन्द्रित हो जाती हैं। यह क्षेत्रीय इकाइयों को स्वायत्त राज्यो के रूप में संगठित करने का समर्थन करता है ताकि प्रत्येक क्षेत्र के विकास पर समुचित ध्यान दिया जा सके। दूसरे शब्दों में वह प्रवृत्ति या दृष्टिकोण जिसमें अपने क्षेत्र की उन्नति को महत्व दिया जाता है और अपने क्षेत्र के लोगों, वहाँ की भाषा और संस्कृति के साथ अधिक निकटता अनुभव की जाती है, सम्पूर्ण देश या राष्ट्र के साथ वैसी निकटता अनुभव नही की जाती। अतः क्षेत्रीयतावाद के विचार का अस्तित्व क्षेत्र की अवधारणा के आस–पास ही केन्द्रित होता है।

क्षेत्रीयतावाद भारतीय राजनीति के स्वरूप और रचना को बनाने वाली प्रमुख शक्तियों में से एक है। यह अन्य राजनीतिक शक्तियों के साथ सक्रिय है। विशुद्ध क्षेत्रीयतावाद के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। वास्तविक जीवन में भाषावाद और साम्प्रदायिकता का विविध मिश्रण देखने को मिलता है। ऐसे उदाहरण भी है जहां क्षेत्रीयतावाद और जातिवाद साथ–साथ पायें जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि किसी राजनीतिक घटना को क्षेत्रीयतावाद कहा जाय या अन्य राजनीतिक सम्बद्ध सामाजिक शक्ति जैसे कि भाषावाद।[4] अतः प्रश्न यह उठता है कि क्षेत्रीयतावाद का क्या स्वरूप है अथवा क्षेत्रीयतावाद की क्या विशेषताए हैं जो भाषावाद अथवा साम्प्रदायिकता जैसी राजनीतिक शक्तियो से यह आगे बढ़ गयी है।

क्षेत्रीयतावाद का विकास

अतीत में विभिन्न क्षेत्रों का विकास विभिन्न कारणों अथवा तथ्यों के आधार पर हुआ है। विशिष्ट जनसमुदाय जहाँ रहने लगा वहीं का आदी होता गया। उसी निश्चित भू–भाग पर भाषा, संस्कृति, रीति–रिवाज आदि का जन्म हुआ। इन सबके कारण उनमे एक सामुदायिक क्षेत्रीय भावना का विकास हुआ। विभिन्न क्षेत्रों का विकास बहुत कुछ भौगोलिक परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ। विकास का यह क्रम चलता रहा। इस विकास के प्रभाव से शहर, राजधानी या मुख्यालय के समीप स्थित क्षेत्रों में उन्नति होती गयी और जो दूर थे, उनमें किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं हो पायी। उनकी उन्नति के लिये सरकार की ओर से भी, किसी प्रकार का विशेष ध्यान नहीं दिया गया। समय के साथ व्यक्ति की चेतना जागृत होने से अपने क्षेत्र के लिये उसने संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया। सरकार से उस क्षेत्र के लोग यह मांग करने लगे कि हमारा क्षेत्र हमें दिया जाय ताकि उसकी उन्नति हम स्वयं कर सके। क्योंकि सरकार ने उनके क्षेत्र के विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के अनेक राज्यों के अनेक छोटे–बड़े क्षेत्रों में इस धारणा का विकास हुआ है कि उनका क्षेत्र जो अभी तक पिछडा हुआ है उन्हें दे दिया जाय ताकि उसकी उन्नति वे स्वयं कर सके। इस भावना और चेतना के प्रसार से विकास के प्रति प्रतिबद्ध क्षेत्रीयतावाद का निरन्तर विकास हुआ है। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् क्षेत्रीय राजनीति के इस फैलाव के निम्न चार महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बिन्दु रहे हैं–

---

4. माथुर, पी0सी0 (1990), *"रिजनलिज्म इन इण्डिया : एन एस्से इन डायमेंशन्लाइजेशन ऑफ स्टेट पोलिटिक्स इन इण्डिया"* इन वीरेन्द्र ग्रोवर, (संपा0), *सोशियोलोजिकल एस्पेक्टस ऑफ इण्डियन पोलिटिकल सिस्टम*, नई दिल्ली, दीप एवं दीप पब्लि0, पृ0 120–167 ।

(1) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रजातान्त्रिक सरकार स्थापित की गई। इसका मुख्य उद्देश्य प्रजातन्त्र, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों पर राष्ट्र का निर्माण करना था। देश के सभी भाग राष्ट्र–निर्माण में निष्पक्ष व्यवहार चाहते थे। परन्तु विकास के लिये सभी भाग आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगे। किसी भी काम का आशा से कम होना उनमें अभ्रान्ति फैलाता था और उसके फलस्वरूप ही क्षेत्रीय राजनीति का आविर्भाव हुआ।

(2) देशी रियासतों का एकीकरण किया गया। छोटी रियासतों को बड़ी रियासतों में मिला दिया गया। परन्तु लोग अभी भी निष्ठा से पुरानी राज्य क्षेत्रीय इकाइयो की निरन्तर सेवा में लगे हुये थे। निर्वाचन में राजाओं आदि की सफलता का यह एक महत्वपूर्ण कारक था। कभी–कभी राजा नये गठित प्रदेशों की तुलना में अपने पुराने राज्य क्षेत्रों से अधिक समर्थन प्राप्त कर पाते थे और उसी प्रदेश के अन्य भागों में अपेक्षाकृत कम समर्थन प्राप्त कर पाते थे।

(3) भाषा के आधार पर प्रदेशों के पुनर्गठन ने क्षेत्रीय राजनीति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 28 प्रदेशों को पुर्नगठित किया गया और केन्द्रीय प्रशासनिक राज्य क्षेत्रों सहित इन्हें घटाकर 14 कर दिया गया। इसके बाद फिर से नये प्रदेश बनाये गये। उदाहरण के लिये बम्बई को गुजरात और महाराष्ट्र तथा पंजाब को पंजाब और हरियाणा में बाट दिया गया। परन्तु इन प्रदेशों को पूरी तरह भाषा के आधार पर नहीं बनाया गया था।

अन्य बहुत से कारकों जैसे कि नृजातीय तथा आर्थिक विचारधारायें (नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर और त्रिपुरा, हरियाणा और पंजाब) ; भाषा (महाराष्ट्र और गुजरात) तथा ऐतिहासिक और राजनीतिक कारण (उत्तर प्रदेश और बिहार) ; देशी रियासतों का एकीकरण और व्यव्हार्य समूहीकरण के लिये इसकी आवश्यकता (मध्य प्रदेश और राजस्थान) ; भाषा और सामाजिक भिन्नता (तमिलनाडू, केरल, मैसूर, बंगाल और उड़ीसा) ने भारतीय संघ की संरचना में महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका निभायी है।

इन सब विचारों के अतिरिक्त भाषा, प्रदेशों के पुनर्गठन में एक महत्वपूर्ण कारक रही है। क्षेत्रीयतावाद के संदर्भ में यह एक ऐसी महत्वपूर्ण शक्ति बन गयी है जिससे भाषायी क्षेत्रीयतावाद ने भारतीय राजनीति में अपना स्थान बना लिया है।

(4) देश में क्षेत्रीय और संकीर्ण प्रवृत्तियों को जन्म देने वाले अन्य कारक थे, राजनीतिज्ञों के व्यक्तिगत और स्वार्थी उद्देश्य। स्वतन्त्रता के पश्चात् शीघ्र ही कुछ दलों के बीच राजसत्ता के लिये संघर्ष शुरू हो गया। अपने सत्ताधिकार और सम्मान बढ़ाने के लिये कुछ क्षेत्रीय और प्रादेशीय नेता केन्द्र और प्रदेशों को कमजोर करने में भी नहीं हिचकिचायें। क्योंकि अधिक प्रदेशों को बनाने का अभिप्राय है– राज्यपालों, मुख्यमंत्रियों विधान सभा सदस्यों इत्यादि का अधिक होना। पेशेवर राजनीतिज्ञों ने अपने व्यक्तिगत और स्वार्थी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अनभिज्ञ जनसमूहों की संकीर्ण और साम्प्रदायिक भावनाओं को बढ़ाकर अपना स्वार्थ सिद्ध किया।

भारत में क्षेत्रीयतावाद के दो पहलू हैं– (1) नकारात्मक जो संकीर्ण, स्वार्थ प्रेरित मनोवृत्ति का परिचायक है जिसमें विघटनकारी तत्व निहित होते हैं ; (2) सकारात्मक जिसमें क्षेत्र विशेष का संतुलित विकास निहित है।

नकारात्मक क्षेत्रीयतावाद एक ऐसी संकीण खण्डित मानसिकता का प्रतीक है जो राजनीतिक एवं प्रशास्कीय अभिजनों द्वारा निजी स्वार्थ एवं राजनीतिक लाभों के लिये भडकाई जाती है। जबकि सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद किसी क्षेत्र विशेष के लोगों की आकांक्षायें, आवश्यकताओं एवं मांगों को अभिव्यक्त करने का प्रयास और आन्दोलन है। अक्सर इन मांगों की राष्ट्रीय एकता के नाम पर उपेक्षा कर दी जाती है। क्षेत्रीयतावाद के समर्थक निम्नलिखित उद्देश्यों के आधार पर इसके समर्थन की बात कहते हैं–

1. क्षेत्रीय स्वायत्तता की भावना पर आधारित पृथक राज्य आन्दोलन के पीछे सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य क्षेत्रीय आर्थिक उन्नति–प्रगति एवं सम्पन्नता है। वे क्षेत्र जो अभी तक बुरी तरह पिछड़े हुये हैं, जिनका आर्थिक ढाँचा सदियों से जैसा था लगभग वैसा ही है की ओर हमारी सरकार ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके जीवन में प्रगति का वह अंश नहीं आ सका जैसा कि अन्य क्षेत्रों ने प्रगति की। इसलिये इन पिछड़े हुये क्षेत्रों के व्यक्ति यह बीड़ा उठाते हैं कि वे अपने क्षेत्र का विकास स्वयं करेंगे। इसका अधिकार एवं उत्तरदायित्व उन्हें दिया जाय। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि वे क्षेत्र जो अभी भी उपेक्षित, आर्थिक दृष्टि से हेय और पिछड़े हुये हैं, वे भी शीघ्र उन्नति करने लगेंगे।

2. जब तक कोई छोटा क्षेत्र बहुत बडे क्षेत्र अथवा राज्य से मिला रहता है, तब तक छोटे क्षेत्र के व्यक्तियों की भावनाओ की ओर सरकार का ध्यान हीं नहीं जाता है। क्षेत्र का व्यक्ति ही क्षेत्रीय व्यक्तियों की भावनाओं को भली–भाँति समझ सकता है और उनका आदर कर सकता है। वह उनकी भावनाओं के अनुरूप योजनाओं का प्रारूप बना सकता है। जब कभी क्षेत्रीय भावनाओं के अनुरूप योजनायें आदि बनायी जाती हैं तो उसे सफलता प्राप्त होती है क्योंकि वहाँ का व्यक्ति अपनी ही समस्याओं का हल उन योजनाओं में देखता है, जिसका निराकरण भी वहीं कर सकता है। क्षेत्रीय स्वायत्तता से क्षेत्रीय व्यक्तियों की भावनाओं का सम्मान ही नहीं होने लगता है वरन् उन भावनाओं के अनुरूप ही योजनायें एवं कार्यक्रम बनाये जाते हैं जिस दिशा में वे प्रगति करना चाहते हैं जिससे व्यक्तियों की भावनाओं को संतोष प्राप्त हो सके।

3. क्षेत्रीय संस्कृति समय के साथ कुछ परवर्तित होती जा रही है। संस्कृति तभी सुदृढ रूप से रह सकती है जबकि इससे सम्बन्धी अनेक क्षेत्रीय संगठनों की स्थापना हो जो अपनी संस्कृति की सुरक्षा के लिये कार्य कर सके। इस प्रकार के सांस्कृतिक सुदृढ़ता की स्थापना तभी भली–भाँति हो सकती है जबकि क्षेत्रीय व्यक्तियों के हाथों में स्वशासन की बागडोर आ जाय।

4. जब एक क्षेत्र के व्यक्तियों को अपने क्षेत्र की उन्नति, प्रगति आदि का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो वे अपने क्षेत्र की सभी जर्जर संस्थाओं एवं संगठनों का पुनर्निर्माण करते हैं, उनको नवीन जीवन देने का प्रयास करते हैं। जिससे कि वे समस्या की आवश्यकता के अनुरूप अपने को ढाल सकें ओर क्षेत्र की प्रगति में सक्रिय रूप से भाग ले सकें।

5. केन्द्र ने कुछ प्रभावशाली नेताओं से प्रभावित होकर कुछ क्षेत्रों को अधिक सहायता प्रदान की है और कुछ की उपेक्षा की है। इस पक्षपातयुक्त रवैयें को क्षेत्रीय आन्दोलनों के द्वारा ही दूर किया जा सकता है और इसीलिये विभिन्न क्षेत्र के व्यक्तियों ने आन्दोलनों को प्रारम्भ भी कर दिया है।

क्षेत्रीय नेताओं की यह मांग है कि "अब बहलाने, फुसलाने और पुचकारने में नहीं आयेंगे। हमें अपने क्षेत्र के विकास के लिये सहायता चाहिये और उचित सहायता चाहिये"।

6. इन आन्दोलनकर्ताओं का मुख्य उद्देश्य यह है कि वे अपने क्षेत्र में सामाजिक–आर्थिक क्रान्ति को जन्म देना चाहते हैं। इसका उद्देश्य व्यक्ति के अन्दर इस भावना का प्रचार करना है कि जब तक वे सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों को परिवर्तित नहीं करेंगे तब तक उनका क्षेत्र पिछडा ही बना रहेगा।

7. पृथक राज्य आन्दोलन या उप–क्षेत्रीयतावाद का उद्देश्य अपने क्षेत्र का सर्वांगीण विकास हैं। यह तभी हो सकता है जब कि क्षेत्र के अन्दर जितने भी साधन हो, उनका समुचित प्रयोग किया जाय तथा मानवीय शक्ति जिसका कोई प्रयोग नहीं हो पाता है उसका उत्पादन कार्यों में प्रयोग किया जाए। उन्हें स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा भी दी जाए, जिससे कि क्षेत्र का विकास किसी एक तरीके का न होकर संर्वागीण रूप से हो सके।

8. विकास के प्रति प्रतिबद्ध क्षेत्रीयतावाद का एक तरफ तो यह उद्देश्य है कि वह अपने परम्परागत ढांचे को संगठित और शक्तिशाली बनायें और दूसरी तरफ इसका यह भी उद्देश्य है कि वह अपने क्षेत्र को आधुनिक से आधुनिक बनाये जिससे कि वहां के व्यक्ति समय के संग आगे बढ़ सके।

क्षेत्रीय और प्रादेशीय राजनीति अथवा क्षेत्रीयतावाद के आधार

क्षेत्रीयतावाद एक बहुआयामी घटना है। इसके विभिन्न आधार है। यहाँ हम क्षेत्रीयतावाद के भौगोलिक, ऐतिहासिक और सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक–प्रशासनिक आधारों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

(क) भौगोलिक आधार

प्रायः लोग अपनी क्षेत्रीय अस्मिता को विशिष्ट भौगोलिक सीमाओं से सम्बद्ध करते है। स्वतन्त्रता प्राप्त के पश्चात देशी रियासतों का एकीकरण किया गया और इन छोटी–छोटी रियासतो को मिलाकर नये बड़े प्रदेश बनाये गये। इससे नागरिकों की निष्ठा पुरानी राज्य क्षेत्रीय सीमा और नई राज्य क्षेत्रीय संरचना के बीच में बट गयी थी। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि निर्वाचनों में राजाओं की सफलता के लिये यह एक महत्वपूर्ण कारक बना। विशेषकर ऐसा तब होता था जब वे नये गठित प्रदेश में अपने पूर्व राज्य क्षेत्र से चुनाव लड़ते थे। परन्तु भौगोलिक सीमाओं के महत्व का जरूरत से ज्यादा मूल्यांकन करना गलत होगा। यह सत्य है कि देशी रियासतों की पुरानी भौगोलिक सीमाओं की यादें अभी भी लोगों को विचलित करती रहती हैं और राजनीतिक नेता ऐसी स्थिति से लाभ उठाते हैं। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसी पुरानी भौगोलिक सीमायें नयें और बड़े राज्य क्षेत्रों की अस्मिताओं में अपना स्थान बना रही है, जैसे कि राजस्थान, मध्य प्रदेश और उडीसा आदि।

(ख) ऐतिहासिक और सामाजिक आधार

ऐतिहासिक और सामाजिक आधार क्षेत्रीय राजनीति के सुदृढ़ आधार हैं। इस श्रेणी में विभिन्न घटक यथा– इतिहास, भाषा, जाति, धर्म आदि न केवल व्यक्तिगत तौर पर बल्कि एक साथ मिलकर भी महत्वपूर्ण होते हैं।

(i) इतिहास– इतिहास ने सांस्कृतिक परम्परा, लोक साहित्य, पौराणिक और प्रतीकवाद आदि से क्षेत्रीयतावाद को समर्थन दिया। परन्तु इतिहास को क्षेत्रीयतावाद का सबसे महत्वपूर्ण आधार नहीं माना जा सकता है। आर्थिक और राजनीतिक कारकों ने इतिहास के साथ जुडकर क्षेत्रीयतावाद की उत्पत्ति की है। उदाहरण के लिये द्रविड़ मुनेत्र कजगम ने पहले पृथक प्रदेश की मांग की परन्तु बाद में स्थिति बदलकर संविधान के संघीय ढाँचें में स्वायत्तता स्वीकार कर ली।

(ii) भाषा– भाषा समूह अस्मिता का शायद सबसे महत्वपूर्ण लक्षण है। इसमें लोगों को संगठित करने एवं उनसे काम करवाकर उनके सामूहिक जीवन को बेहतर बनाने की क्षमता होती है। इस अर्थ में भाषा की एकरूपता सकारात्मक आन्दोलन को सुदृढ़ करती है।

1920 से ही कांग्रेस ने यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया कि प्रान्तीय इकाइयों की राज्य क्षेत्रीय सीमायें बनाने के लिये भाषा को एक मापदण्ड के रूप में अपनाना चाहिये। 1955 में राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना, भाषाई क्षेत्रीयतावाद पर आधारित क्षेत्रीय इकाइयों के गठन के मांग के फलस्वरूप हुयी थी। लेकिन राज्य पुनर्गठन आयोग 'एक भाषा एक राज्य' के सिद्धान्त का पूरी तरह अनुसरण नहीं कर सका। इस सिद्धान्त को भी प्रदेश सीमाओं के निर्धारण की एक मात्र कसौटी नहीं माना जा सकता था। पहले द्विभाषी प्रदेश गठित किये गये जैसे कि बम्बई पंजाब और आसाम इत्यादि। परन्तु 1960 में बम्बई 1966 में पंजाब और 1960–70 के दशक में असम को विभाजित करके एकभाषी समरूप राज्य बनाये गये। इससे भारतीय राजनीति में भाषाई क्षेत्रीयतावाद को और अधिक प्रोत्साहन मिला। इसके साथ ही विस्तृत हिन्दी भाषायी समूह के अन्तर्गत भी भाषाओं और स्थानीय भाषाओं के आधार पर अलग प्रदेश बनाने की मांग उठी। कभी–कभी ऐसी मांगे भी की गयी है जैसे कि मैथली, राजस्थानी अथवा हरियाणवी इत्यादि को संविधान की अनुसूचित भाषाओं के रूप में मान्यता दिलवाना।

क्षेत्रीयतावाद का भाषा के साथ गहरा सम्बन्ध है। परन्तु इसे भाषावाद के समकक्ष नहीं समझा जा सकता । क्षेत्रीयतावाद एक भाषाई प्रदेश में भी हो सकता है। उदाहरण के लिये मराठी बोलने वाले महाराष्ट्र की रचना, उत्तर–पूर्वी भारत के सात प्रदेश अपने आपको सात बहनें समझते हैं।[5] इन प्रदेशों ने विकास की समस्याओं के आधार पर सामूहिक सम्बन्ध बनाने की कोशिश की और इसके साथ ही क्षेत्रीय एकात्मकता विकसित करने की भी कोशिश की है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भाषा क्षेत्रीयतावाद का एकमात्र जन्मदाता नहीं है। भारत में क्षेत्रीयतावाद के बहुत से आधारों में से एक आधार है। भाषाई क्षेत्रीयतावाद की बहुत सी स्थितियों में एक दूसरे से सम्बन्धित बहुत से कारक सामन्यतः साथ–साथ पाए जाते हैं।

(iii) जाति– भाषाई क्षेत्रीयतावाद का जाति के कारक से प्रोत्साहित होने वाला एक महत्वपूर्ण उदाहरण तमिलनाडू में देखा जा सकता है। तमिल क्षेत्रीयतावाद ने गैर ब्राह्मण आन्दोलन के फलस्वरूप लाभ उठाया। तमिल भाषी क्षेत्र की गैर ब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों के विरूद्ध शक्तिशाली संगठित प्रहार कर सकी थी जो अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति में निर्विवाद प्रभुता का उपयोग करते थे।

---

5. इन सात राज्यों में असम, अरूणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड और त्रिपुरा सम्मिलित है।

(iv) धर्म– क्षेत्रीयतावाद में धर्म जाति की तरह महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाता है, केवल उस समय कि जब धर्म को प्रभुत्व और भाषाई एकरूपता के साथ जोडा जाता है, जैसे कि पंजाब में अथवा जिस प्रकार जम्मू और कश्मीर में धार्मिक रूढ़िवाद और आर्थिक वंचन के मिलाप से धर्म का कारक क्षेत्रीयतावाद में महत्वपूर्ण बन गया है। पंजाबी सूबे के गठन की मांग को यद्यपि भाषाई रूप में प्रस्तुत किया गया तो भी इनमें काफी धार्मिक तत्व थे। मातृभाषा के प्रति लगाव पैदा करने की अपेक्षा वे मुख्यत विस्तृत पैमाने पर लोगों की राजनीतिक निष्ठा को उकसाने के लिये उत्तरदायी थें। अतः इस विशिष्ट विषय में साम्प्रदायिकता और भाषावाद के मिश्रण को परिभाषित करना मुश्किल है। परन्तु कुछ अध्ययन इसे बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं कि पंजाबी भाषायी प्रदेश की मांग निश्चित रूप से पंजाबी बोलने वाले लोगों की सिक्ख धर्म के प्रति निष्ठा के निश्चित आवाह्न से और प्रबल हुयी है।[6]

इन तीन कारकों (भाषा, जाति और धर्म) को ध्यान में रखते हुयें कोई भी यह कह सकता है कि पंजाब और तमिलनाडू में क्षेत्रीय राजनीति का अध्ययन यह बिल्कुल स्पष्ट करता है कि क्षेत्रीय मांगों के लिये राजनीतिक आन्दोलन औपचारिक रूप से भाषा के नाम पर चलाये गये परन्तु वास्तव में उनके पर्याप्त गैर भाषाई मूल आधार भी थे।

(ग) आर्थिक आधार

आर्थिक कारक क्षेत्रीय राजनीति का मूल आधार है। भारत एक विकासशील देश है और यहां सीमित संसाधन है, जबकि विभिन्न क्षेत्रों में विकास के लिये संसाधनों की मांग इनकी तुलना में असीमित अथवा असन्तुलित हैं। विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक नीतियों ने क्षेत्रीय असन्तुलनों और व्यापक आर्थिक असमानताओं को बढ़ाया है जिसके फलस्वरूप उनके बीच असन्तोष पैदा हो गया। इसे फिर से दोहराया जा सकता है कि बहुभाषाई राज्यों में नये प्रदेशों को बनाने के लिये अधिकतर मांग मुख्यतः तथाकथित अनुचित और असमान विकास लाभों के वितरण और व्यय पर आधारित थी। इन क्षेत्रों में, पृथक प्रदेशों के लिये मांग मुख्यतया इस विश्वास एर आधारित है कि ये क्षेत्र अपने प्रदेशों द्वारा आर्थिक रूप से वंचित रखे गये हैं। आर्थिक कारक सामान्यतः क्षेत्रीय राजनीति में प्रमुख महत्व रखते हैं।

(घ) राजनीतिक–प्रशासनिक आधार

क्षेत्रीयतावाद का राजनीतिक–प्रशासनिक आधार भी महत्वपूर्ण है परन्तु स्वयं राजनीति क्षेत्रीयतावाद को जन्म नहीं देती है। यह केवल क्षेत्रीयतावाद को अभिव्यक्त करती है। राजनीतिज्ञ क्षेत्रीय असंतोष और अशांति की स्थिति का लाभ उठाते हैं। वे अपने व्यक्तिगत और गुटबन्दी को देने वाले आधारों को सुदृढ़ करने के लिये इसे आन्दोलनों में बदल देते हैं। यह सब जानते है कि कांग्रेस की अन्दरूनी लडाई ने तेलंगाना आन्दोलन को जन्म दिया। कांग्रेस नेताओं के समर्थन से ही महाराष्ट्र में शिवसेना सक्रिय हुयी। क्षेत्रीय राजनीतिक दल जैसे द्रविड मुनेत्र कजगम (तमिलनाडू), अकाली दल (पंजाब), झारखण्ड मोर्चा (बिहार) केवल क्षेत्रीय भावनाओं के आधार पर चल रहे हैं। महाराष्ट्र और कर्नाटक के बीच सीमा विवाद भी क्षेत्रीय भावनाओं पर आधारित है। क्षेत्रीयतावाद की

---

6. मजीद, ए0 (1984), *रीजनलिज्म डिवेलपमेन्टल टेंशन्स इन इण्डिया,* नई दिल्ली, कॉस्मो पब्लिकेशन, पृ० 64।

राजनीति का अन्य महत्वपूर्ण तथ्य केन्द्रीय सत्ता के सर्वश्रेष्ठ जनों के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के साथ किये गये वास्तविक अथवा राजनीतिक भेदभाव के आरोपों पर आधारित है।

उपरोक्त के अलावा क्षेत्रीयतावाद के उदय और उसकी वृद्धि में अनेक विचारधारात्मक, सामाजिक और सांस्कृतिक तत्वों का भी योगदान रहा है। इन तत्वों के रूप में प्रायः क्षेत्रीयता में वृद्धि करने वाली प्रक्रियाओं और अनुकूल परिस्थितियों का हाथ रहा है। इनमें से कुछ क्षेत्रीयतावाद के प्रचार प्रसार के साधन के रूप में प्रयुक्त हुये हैं तो कुछ अन्य अलगाववादी विचारधारा के मूल तत्व रहे हैं। क्षेत्रीय चेतना या इसके विभिन्न तत्वों के आधार पर क्षेत्रीयतावाद की व्याख्या नहीं की जा सकती, जो कि अलगाववाद का प्रथम चरण है। ये तत्व इसके कारण नहीं है बल्कि स्वयं में क्षेत्रीयतावाद ही है और इसी की खुद यानी क्षेत्रीयतावाद की पहचान की जानी है न कि उसके किन्हीं तत्वों की।

यह कहना कि सामाजिक, सांस्कृतिक और विचारधारात्मक घटकों का स्वरूप कारण परक नहीं होता ; क्षेत्रीयतावाद के उद्भव और उसकी वृद्धि में इन तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका से इन्कार करना नहीं है। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि सामाजिक कारणों के अभाव में ये घटक पृथकतावाद या क्षेत्रीयतावाद को अस्तित्व प्रदान कर सकते हैं। दूसरे, जहां ये घटक अपने आप क्षेत्रीयता की भावना को उत्पन्न करने में अक्षम होते हैं, वही क्षेत्रीयतावाद की सामाजिक जड़ों के चलते उनकी भूमिका महत्वपूर्ण या निर्णायक सिद्ध हो सकती है। अतः इन घटकों का अध्ययन कर उनके स्पष्ट रूप तथा विकृत सम्बन्धों का निरूपण अति आवश्यक है। यहां हम इन घटकों का अध्ययन निम्न शीर्षकों– (1) राष्ट्रीय चेतना की विफलता, (2) सामाजिक पिछड़ापन, (3) बौद्धिक पिछड़ापन तथा सामाजिक और नैतिक अवरोध, (4) राष्ट्रीय नेतृत्व में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति और क्षेत्रीय दलों का उद्भव तथा (5) राष्ट्रवादी नजरियें और वैचारिक संघर्ष का अभाव; के अन्तर्गत करेंगे।

(1) राष्ट्रीय चेतना की विफलता

भारतीय जनगण को एक राष्ट्र के रूप में ढांलने की लम्बी और ऐतिहासिक प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी में आरम्भ हुयी थी। राष्ट्रवादी और साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन राष्ट्र निर्माण की इस प्रक्रिया में योगदान करने वाला एक सशक्त कारक भी था। तथापि, राष्ट्रीयता अथवा एक राष्ट्र होने की यह भावना किसी वस्तुगत यथार्थ से अपने आप ही उत्पन्न नहीं हो गयी। यद्यपि इसे राजनीतिक और विचारधारात्मक आत्मशोधन की एक कठिन श्रम साध्य प्रक्रिया का रूप लेना चाहिये किन्तु अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण यह प्रक्रिया अत्यन्त विभेदात्मक बन गयी।[7] इसके अतिरिक्त नये सामाजिक वर्गों और संस्तरों का असर भी विभेदात्मक ढंग से हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि देश और काल दोनो की दृष्टि से विभिन्न वर्गों और संस्तरों तथा विभिन्न धर्मों, जातियों और भाषायी क्षेत्रों से सम्बन्धित लोगों के बीच राष्ट्रीय चेतना का विकास एक सा नहीं हो गया। कुल मिलाकर राष्ट्रवादियों

---

7 चन्द्र, विपिन (1996), *आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता*, दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृ0 95।

ने क्षेत्रीयतावाद के विरूद्ध कोई सशक्त और विचारधारात्मक संघर्ष संगठित नहीं किया।[8] इस दिशा में असफल होने वाले राष्ट्रीय नेता कोई अकेले नहीं थे। नवोदित ट्रेड यूनियनें, किसान सभायें और अन्य जन संगठन, वामपंथी दल और समूह भी इस विफलता में उनके भागीदार थे। इसके लिये उत्तरदायी थी एक खास यन्त्रीकृत और सरलीकृत धारणा जिसके अनुसार यह माना जाता है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था का विकास स्वतः ही राष्ट्रीय चेतना और वर्गीकृत चेतना को विकसित कर देगा।[9] किन्तु नई पहचानों और चेतना की उपलब्धि को तो एक सायास प्रक्रिया का अंग होना ही पड़ता है जो अधिक व्यापक और तीव्र विचारधारात्मक प्रक्रियाओं का एक भाग होती है। लोग सामाजिक यथार्थ को यों ही सीधे–सीधे ग्रहण नहीं कर लेते। विचारधारा के क्षेत्र में जाकर ही वे वस्तुगत सामाजिक यथार्थ और सामाजिक सम्बन्धों के प्रति सचेत होते हैं। दरअसल "लोग जो मानते हैं और जो वे अनायास करते हैं, वह राजनीतिक और विचारधारात्मक संघर्षों के परिणामस्वरूप ही अन्ततः दरारों या फूट का रूप धारण कर लेते हैं।[10] आधुनिक अर्थव्यवस्था और राजनीति यदि लोगों की विस्तृत और सामूहिक पहचानों के आधारों पर नहीं होती तो वह अपने लिये धर्म, पंथ, भाषा, क्षेत्र, प्रजाति, कौम यहां तक कि पेशे व कार्य के प्रकार जैसे आधार भी ढूढ लेती हैं।

भारतीय समाज के कतिपय विशिष्ट क्षेत्रों और भागों में क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति इसलिये विकसित हुयी, क्योंकि राष्ट्रीय नेतृत्व उनमें नई राष्ट्रीय और वर्गीय चेतना विकसित करने में असफल रहा और राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन की स्थिति में पुरानी पहचानों और सामाजिक समूह के अपर्याप्त होने के कारण एक प्रकार का शून्य उत्पन्न हो गया। व्यापक समूहन और तीव्र गति से हो रहे राजनीतीकरण की चेतना के चलते इस शून्य को भरने के लिये राष्ट्रीय चेतना उपलब्ध न हो पाने के कारण क्षेत्रीय, जातीय, भाषायी और साम्प्रदायिक पहचान ने ही इस शून्य को भरा। इसके लिये पुराने परिचित और आसानी से समझ में आने वाले भाषायी, धार्मिक, जातीय व क्षेत्रीय सम्बन्धों को अपना आधार बनाया, विशेष रूप से जनता के राजनीतिक रूप से पिछड़े हुये वर्गों के बीच। लोगों को राष्ट्र, राष्ट्रीयता और वर्ग की व्यापक एकता एवं नई पहचान की आवश्यकता थी जिसके द्वारा वे बदलती हुयी परिस्थितियों में दुनिया को समझ सके। किन्तु वास्तविक एकता अथवा सामूहिक पहचान या राष्ट्र और वर्ग के आधार पर संगठन के सिद्धान्त प्राय. समय रहते लोगों तक नहीं पहुँचे। अतः लोगों ने पुरानी चेतना के ही कतिपय पहलुओं का सहारा लिया जो पुरान सांस्कृतिक सम्बन्धों पर आधारित थे। उन्होंने नवजागृत राजनीतिक जीवन के लिये भी सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के विभक्तिकरण तथा संगठन के पहले से विद्यमान

---

8. रशीद्दीन खान लिखते हैं, किसी भी बहुलवादी समाज के महत्वपूर्ण भागों के बीच क्षेत्रीय, भाषायी, साम्प्रदायिक या राजनीतिक टकराव और तनाव होना न केवल अपरिहार्य है, जैसा कि किसी भी गतिशील परिवर्तन की स्थिति में स्पष्ट है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन तत्वों और टकरावों को दबाव और सौदेबाजी के नकारात्मक तरीकों की अपेक्षा सकारात्मक तरीके अपनाकर वैध राजनीतिक व्यवस्था के भीतर नियन्त्रित किया जा सकता है। वहीं; कामत, ए0आर0 का *नेशनल इंटीग्रेशन ऐंड नेशनल लॉयल्टीज* भी देखियें। मेरी राय में क्षेत्रीयतावाद को साम्प्रदायिक, भाषायी, जातीय, सांस्कृतिक या राजनीतिक निष्ठाओं की श्रेणी में रखना गलत है।
9. चन्द्र, विपिन (1996), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 96 ।
10. ज्यूरर्स, एड़म प्रेजवस्की (1976), *द प्रोसेस ऑफ क्लास फोर्मेशन फ्राम कार्ल कौटस्कीज स्ट्रगल टू रिसैंट कांटोवर्सीज मीमियोग्राफी*, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकांगों, पृ0 27–28 ।

सिद्धान्तो को ही अपनाया।[11] किन्तु यह बात लोगो को किसी पुरानी एकजुटता या पहचान की ओर नहीं ले गयी, अपितु इससे समाज में एक नई क्षेत्रीय चेतना फैली जिसका बाह्य आचरण पुरानी चेतना जैसा था और जो उसके कतिपय पक्षों को छूती थी। इस प्रकार राष्ट्रीय और वर्गीय चेतना फैलाने के लिये एक सतत् और सही विचारधारात्मक राजनीतिक संघर्ष की असफलता के फलस्वरूप ही क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति मुखरित व विस्तारित हुयी।

ध्यान देने योग्य तथ्य है कि जहाँ कांग्रेसी और वामपंथी नेता हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिये सक्रिय रूप से एकताबद्ध थे वहीं उन्होंने क्षेत्रीयतावाद के विरूद्ध कभी कोई एकताबद्ध सक्रिय जन राजनीतिक और विचारधारात्मक आन्दोलन या अभियान नहीं चलाया। उन्हें आशा थी कि राष्ट्रीय चेतना और वर्ग चेतना विकसित होने के साथ ही क्षेत्रीयतावाद अपने अन्तर्निहित छद्म झूठेपन और संकीर्ण सामाजिक आधार के कारण स्वतः समाप्त हो जायेगी ; विशेष रूप से तब जबकि आर्थिक मुद्दे जनता के सामने रहेंगे।[12]

(2) सामाजिक पिछड़ापन

अनेक सामाजिक एवं ऐतिहासिक कारणों से सिक्ख, मुसलमान, आदिवासी, मध्यवर्गों और निम्न–मध्य वर्गो में आधुनिक शिक्षा, व्यापार और उद्योग का उतना प्रचार–प्रसार नही हुआ जितना कि उसी वर्ग के अन्य भारतीयों के बीच हुआ।[13] यह तबका उद्योग, व्यापार, पेशों एवं उच्च शिक्षा के क्षेत्रों में अन्य देशवासियों से दशाब्दियों पीछे था।[14] इसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग, आधुनिक मध्य वर्गो एव आधुनिक बुर्जुआ वर्ग (पूंजीपति वर्ग) संक्षेप में, आधुनिक सभ्यता के क्षेत्र में ये लोग लगभग आधी सदी पीछे रह गये। इस पिछड़ेपन ने भी क्षेत्रीयतावाद की जड़ों को पोषित करने का कार्य किया।

(3) बौद्धिक पिछड़ापन तथा सामाजिक और नैतिक अवरोध

भारतीय जनता का बौद्धिक पिछडापन भी क्षेत्रीयतावाद की वृद्धि में सहायक हुआ। इस पिछड़ेपन से क्षेत्रीय या पृथकतावादी नेताओं को इस बात का मौका मिला कि वे जनता की सामाजिक–राजनीतिक स्थिति की गलत तस्वीर पेश करके उसे सुधारने के संघर्ष को पृथकतावादी दिशा अथवा क्षेत्रीयतावाद या इसी प्रकार की अन्य नकारात्मक परिघटनाओं की ओर मोड़ सके।[15] इसी पिछडेपन के चलते कामगारों और किसानों के वर्ग संघर्ष को अथवा निम्न–मध्य वर्ग की हताशाओं को क्षेत्रीयतावाद की दिशा में मोड़ा जा सका।

---

11 चन्द्र, विपिन (1996), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 97 ।

12. उदाहरण के लिये देखिये 1931 और 1936 में जवाहरलाल नेहरू का दृष्टिकोण "मेरी दृष्टि में असफल चीज है आर्थिक कारण। यदि हम इस पर बल दे और लोगों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित कर दें, ... विभिन्न समूह एक साझें बन्धन में बंध जायेंगे। आर्थिक बन्धन राष्ट्रीय बंधन से भी अधिक शक्तिशाली होता है।... तो उनमे बहुत कम मतभेद होगा।"– *सिलेक्टेड वर्क्स, खण्ड–5,* पृ0 203 ।

13 गरीब और निचले वर्गों के साथ ही जमीदारों एवं भू स्वामियों के पारम्परिक उच्च वर्ग भी, मुसलमान और गैर मुसलमान दोनो ही शैक्षिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़े हुये थे।– वासू, अपर्णा, (1974), *द ग्रोथ ऑफ एजूकेशन एण्ड पॉलिटिकल डवलेपमेन्ट इन इण्डिया, 1889–1920,* दिल्ली, पृ0 152 ।

14 राबिन्सन, फ्रासिस (1975), *सेपरेटिज्म अमंग इण्डियन मुसलिम्स , द पॉलिटिक्स ऑफ द यूनाइटेड प्रॉविन्सेस मुस्लिम, 1860–1923,* दिल्ली, पृ0 46 ।

15. उदाहरण के लिये हिन्दू जमींदारों, पूंजीपतियों के विरूद्ध माफिया काश्तकारों के वर्ग संघर्ष एवं साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं को उनके सांस्कृतिक पिछडेपन, निरक्षरता एवं कट्टर धर्मिकता के कारण क्षेत्रीयतावाद या पृथकतावाद की दिशा में मोडा जा सका।

प्राचीन सामाजिक मूल्यों के विघटन एवं संकटों के विद्यमान रहते पारम्परिक नैतिक मूल्यों के क्रमशः क्षीण होते जाने और टूटते जाने से एक प्रकार का नैतिक शून्य और आधारहीनता की स्थिति उत्पन्न होने लगी। जिसके परिणामस्वरूप फासीवादी और अनैतिकता[16] अतार्किकता, घृणा, भय, टकराव और हिंसा पर आधारित चिंतन और कार्य प्रणालियों को बढ़ावा मिला। इसी प्रकार, अल्प विकसित पूंजीवाद ने बड़े पैमाने पर संग्रहशील प्रतियोगिता और नग्न स्वार्थ को जन्म दिया। किन्तु पूर्ण विकसित पूंजीवाद और आर्थिक विकास के अभाव में इनकी पूर्ति नहीं हो सकती है। यह अल्प विकसित पूंजीवाद का मूल लक्षण है और इसका सर्वाधिक नकारात्मक पक्ष भी। इसके अतिरिक्त पारम्परिक सामाजिक बंधन और परिवार, सगें सम्बन्धियों एवं घर गांव के प्रति निष्ठायें धीरे–धीरे समाप्त होती जा रही हैं, विशेषकर शहरों में। किन्तु इसके स्थान पर कोई नयें और दृढ़ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो रहे हैं। यही मूल्यहीन, भौतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक हताशाओं से भरा हुआ सामाजिक परिवेश, तर्क, बुद्धिहीन दार्शनिक चिन्तन और विचारधाराओं के साथ घृणा और भय के आन्दोलनों, घोर स्वार्थपरता और एक समूह को दूसरे के विरूद्ध खड़ा करने के लिये घृणित स्वार्थों की पूर्ति के अनुकूल होने के कारण[17] राष्ट्रीय एकता या राष्ट्रीय एकीकरण के विरूद्ध क्षेत्रीयतावाद या इसी जैसी अन्य प्रवृत्तियों के पोषण का माध्यम बन जाती है।

इस अवस्था में क्षेत्रीय, भाषायी, साम्प्रदायिक, साम्राज्यवादी व पृथकतावादी शक्तियों के विरूद्ध संघर्ष के लिये इन सामाजिक निषेधों, अलगाव और संकीर्ण मानसिकता विशेष रूप से अनेक भेदभावात्मक पहलुओं के विरूद्ध संघर्ष करके उन पर विजय पाना आवश्यक है। ऐसा संघर्ष करने में नाकामी विशेष रूप से आश्चर्यचकित है क्योंकि स्त्रियों, हरिजनों और दलितों के साथ होने वाले ऐसे ही भेदभाव के विरूद्ध संघर्ष हो रहे हैं।[18] इतना तो माना ही जा सकता है कि आंशिक रूप से ही सही इस असफलता का कारण राष्ट्रवादी तबके में आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं का व्यापक रूप से प्रचलित होना भी है। जैसा कि, अनेक विचारशील भारतीय भी इस बात को स्वीकार करते थे और करते है कि राष्ट्र निर्माण अथवा राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को गति देने के लिये समाज में सक्रिय आमूल परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। उदाहरण के लिये, 1920 के दशक के आरम्भ में रवीन्द्र नाथ टैगोर ने लिखा था : आदर्शों की बात करते समय हमारे राष्ट्रवादी भूल जाते है कि यहां तो राष्ट्रीयता के आधार का ही अभाव है। इन आदर्शों का झण्डा लेकर चलने वाले ही सामाजिक व्यवहार में बड़े रूढ़िवादी और दकियानूस है। उदाहरण के लिये राष्ट्रवादी लोग स्वीट्जरलैण्ड का हवाला देते हैं कि वहां जातीय भेदभाव के बावजूद लोग एक राष्ट्र

---

16. निर्दोष लोगों को अन्धेरे में छुरा घोपने और पागल भीड़ द्वारा थोड से लोगों को बोटी–बोटी कर देने से बढ़कर अनैतिक और कायरतापूर्ण कार्य और क्या हो सकता है।

17 अथवा जैसा कि के0वी0 कृष्णा ने कहा है, ''पारम्परिक नैतिक आदर्शों एवं यथार्थ आवश्यकताओं के बीच इस संघर्ष ने एक ऐसे पतनशील वर्ग को जन्म दिया है जिसकी सामाजिक भावनायें मर चुकी है, जिसके लिये निजी स्वार्थ ही सबकुछ है और जो राजनीतिक पुरोधाओं का भाडे का टट्टू बन चुका है। ये कमजोर वर्ग अपनी भावनाओं की पूर्ति चोरी छिपे करते है, अन्धेरे में नैतिक आदर्शों की अवहेलना करते हैं...। यह इन कमजोर पतनशील वर्ग की विशेषता है''– कृष्णा, के0वी0 (1939), *द प्राब्लम ऑफ माइनॉरिटीज,* लंदन, पृ0 284 ।

18. चन्द्र, विपिन (1996), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 152 ।

के रूप में संगठित हैं । किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि स्वीट्जरलैण्ड में विभिन्न समुदाय आपस मे शादी–ब्याह कर सकती हैं, क्योकि उनका खून एक ही है ; किन्तु भारत में कोई ऐसी साझी विरासत या कोई ऐसा साझा जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है।[19]

(4) राष्ट्रीय नेतृत्व में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति और क्षेत्रीय दलों का उद्भव

भारत एक ऐसा देश नहीं है जैसा यूरोप या पश्चिम के तमाम देश है, यूरोपीय राष्ट्रवाद की नींव जिन देशो के आधार पर पडी है वे भौगोलिक ही नहीं, भाषायी, जातीय, सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक धरातल पर मूलतः एकात्म राष्ट्र है।[20] हमारा देश इनसे अलग एक बहुभाषी, बहुजातीय और बहु सांस्कृतिक देश है जिसके एक क्षेत्र की जनता और दूसरे क्षेत्र की जनता के बीच सिर्फ विषम भौगोलिक दूरियां ही नहीं बल्कि भाषा, संस्कृति और आर्थिक संरचना भी उन्हें एक–दूसरे से अलग करती हैं, एक–दूसरे से भिन्न ठहराती है। इस देश में विभिन्न जातीय समुदाय, क्षेत्रीय भाषा समूह और इलाकाई सांस्कृतिक इकाईयाँ शताब्दियों से अपनी पहचान और अपनी अस्मिता को सुरक्षित रखते आये हैं। अपनी पहचान को समाप्त करने की कोशिश करने वाली हर बाहरी या भीतरी ताकत के विरूद्ध उनमें जीवित जन आक्रोश रहा है और उन्होंने हमेशा इसका प्रतिरोध किया है।

यह कहा जाता है कि क्षेत्रीय दलों के उभरने की प्रक्रिया राष्ट्रीय 'इथॉस' और राष्ट्रीयता की भावना को क्षति पहुंचाने वाली एक नकारात्मक प्रवृत्ति है। जबकि सच्चाई यह है कि ये क्षेत्रीय दल देश के उन्हीं क्षेत्रों में अस्तित्व में आये जिन क्षेत्रों की जनता को यह अहसास हुआ कि राष्ट्रीय राजनीतिक दल उनकी अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को पूरा करने में नाकामयाब रहे हैं। साथ ही साथ उन क्षेत्रीय मतदाताओं के हितों की रक्षा करने में नाकामयाब रहे हैं जिन्होंने अपना मत देकर उन पर उसकी जिम्मेदारी सौपी थी।[21] दरअसल जो बड़े राष्ट्रीय दल है उनकी राज्य इकाइयां छोटे मोटे काम और फैसलों के लिये भी अपने केन्द्रीय संगठन का मुंह ताकती रहती है और किसी अत्यधिक क्षेत्रीय महत्व के मसले पर भी पूरी इच्छा के बावजूद कोई स्वतन्त्र निर्णय नहीं ले सकती और किसी तरह की पहलकदमी नहीं कर पाती।[22] इन राष्ट्रीय पार्टियों के नेता जिनके नियन्त्रण में पूरा पार्टी तन्त्र होता है उनकी मुख्य चिन्ता पार्टी आलाकमान में ही शक्तियों को केन्द्रित करते जाने की रहती है, बजाय इसके कि वे इस शक्ति का विकेन्द्रीकरण करें और क्षेत्रीय नेतृत्व को क्षेत्रीय जनाकांक्षाओं के अनुरूप कार्य करने की सीमित ही सही मगर स्वायत्तता दे। एक लेखक श्री सी0एस0 पंडित के शब्दों में, "जब व्यवहारिक रूप से लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस दल के हाथों में सत्ता रही, केन्द्र सरकार ने एक पितृ सत्ता के रूप में विकसित होकर अधीनस्थ इकाइयों को अपने दल के मुख्यमंत्री के माध्यम से नियन्त्रित किया।[23] ऐसी स्थिति में दिल्ली से दूर प्रान्तों में विकास घटने लगा एवं क्षेत्रीय प्रवृत्तियां उभरने लगीं।

---

19. तदैव ।
20. पकज, घनश्याम (1997), *"छोटे क्षेत्रीय दलों की बड़ी केन्द्रीय भूमिका"*, लखनऊ, राष्ट्रीय सहारा, अप्रैल 20, पृ0 9।
21 तदैव ।
22 सईद, एस0एम0 (1998), *भारतीय राजनीतिक व्यवस्था*, लखनऊ, सुलभ प्रकाशन, पृ0 186 ।
23. इंडियन एक्सप्रेस, मार्च 30, 1969 ।

वस्तुतः हमारे राष्ट्रीय अर्थतन्त्र की सबसे गम्भीर बीमारी है– क्षेत्रीय असन्तुलन और इसे सफलतापूर्वक तभी दूर किया जा सकता है जब राज्यों में ऐसी सरकारें हो जिसकी जड़े अपनी धरती में गहराई तक धसीं हों। यह क्षेत्रीय असन्तुलन ही उस जन आक्रोश की बुनियादी वजह है जो कभी पुनरूत्थानवादी और कभी अलगाववादी प्रवृत्तियों के रूप में फूट पडती है। यद्यपि क्षेत्रीय शक्तियों को ठीक से पलने दिया जाय तो उससे देश की भी उन्नति होती है तथापि, क्षेत्रीय शक्तियों की उन्नति एक दोधारी तलवार है जो देश के लिये लाभदायक एव हानिकारक दोनो ही हो सकती है।

फिर भी, इस देश का राष्ट्रीय मुद्दा क्षेत्रीय और आंचलिक आकांक्षाओं की उपेक्षा करके नहीं बन सकता, क्योंकि भारत मूलतः कई छोटी–छोटी इकाइयों का मिलाजुला रूप है। इन सब इकाइयों की अलग–अलग भाषा, क्षेत्रीय संस्कृतियां, मान्यतायें, रस्म, रिवाज व आस्थायें हैं। किन्तु यह सब होते हुये, बहुधर्मालम्बी होते हुये, अलग–अलग होने की समृद्धता ; विपन्नता की अवधारणा नहीं है। हमारे राष्ट्रीय उत्कर्ष, जय–पराजय, लास–उल्लास का स्वरूप एक है। हम इन क्षेत्रीय हितों की स्वायत्तता में विश्वास रखते हैं। जितनी स्वतन्त्र और निर्भीक यह आंचलिक पार्टियां होगी उतनी ही सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न एवं जीवन्त राष्ट्रीय मुद्दें भी होगें। हमारा देश एक जटिल देश है। अतः हमारी कोशिश एकता की तो जरूर होनी चाहिये मगर एकात्मकता की नहीं। संघवाद की मूल आत्मा दरअसल एकता में अनेकता का सम्मान करते हुये ही सुरक्षित रखी जा सकती है, अनेकताओं को मिटाकर एक सपाट पहचान बनाने से नहीं। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो इतिहास की शक्तियों के साथ व्यर्थ ही झगड़ा करेंगे और ऐसा करना केवल मूर्खता की ही बात होगी।

(5) राष्ट्रवादी नजरियें और वैचारिक संघर्ष का अभाव

आजादी के समय नेहरू नेहरूवादी विचार और व्यवस्था का विकल्प भारत में सरदार पटेल के रूप में विद्यमान था, किन्तु वह बहुत दिनों तक नहीं टिका। सरदार पटेल ने जिस राजनीतिक और राष्ट्रीय इच्छा शक्ति या दृढ़ता का परिचय दिया था वह अभूतपूर्व था। देशी रियासतों के एकीकरण के मुद्दे पर नेहरू और पटेल में विवाद हुआ तो पटेल ने नेहरू जी की एक भी नहीं मानी थी। उनको पता था कि लोक लुभावन नारे और लोकप्रियतावाद राष्ट्र को मजबूत नहीं बना सकते। परन्तु पटेल की मृत्यु ने कांग्रेस की राष्ट्रीय राजनीतिक मांग को सूना कर दिया। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रमुख अध्येता जर्मनी के श्री हर्डर ने कहा था कि "जब शासक दुर्बलता दिखाता है तो राष्ट्रवाद के रहते हुये भी राष्ट्र का भविष्य असुरक्षित हो जाता है।"[24] गत पचास वर्षों की भारत की राजनीति और शासन में यहीं होता आ रहा है। दुर्भाग्यवश, राष्ट्रीय एकता अथवा राष्ट्रवाद के विचारों को जो प्रोत्साहन राष्ट्रीय आन्दोलन से मिला था, 1942 के पश्चात् धीरे–धीरे चुकता गया और 1950 के पश्चात् अवहेलना करने की प्रवृत्ति भी इसमें आ गयी। लोग सोचने लगे थे कि गांधी जी की शहादत और देश की बागडोर नेहरू, पटेल के हाथों में होने के कारण तथा इसके साथ ही आर्थिक विकास, शिक्षा, विज्ञान और तकनीक के प्रसार एवं जल विद्युत बांधों, इस्पात कारखानों और विज्ञान

---

24. उद्धत, शुक्ल, भानुप्रताप (1998) का आलेख, *"राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से ही सम्भव है राष्ट्र निर्माण"*, दैनिक जागरण, मई 4।

की प्रयोगशाला जैसे नयें मन्दिरों के निर्माण, मिश्रित अर्थव्यवस्था और लोकतान्त्रिक समाजवाद विकसित करने जैसे संकल्प स्वतः ही साम्प्रदायिक, भाषायी, जातिवादी और क्षेत्रवादी सोच को कमजोर करके समाप्त कर देंगे। फलतः अर्तबुद्धिवाद, विपथगामी व पृथकतावादी क्षेत्रीयता के प्रसारण अथवा विस्तार पर रोक लगाने हेतु सामान्य वैज्ञानिक सोच एवं धर्मनिरपेक्ष, राष्ट्रीय एकता एव राष्ट्रीय एकीकरण की भावना से ओत-प्रोत राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करने का अधिक प्रयास नहीं किया गया जो कि किया जाना चाहिये था।

दुर्भाग्य की बात है कि हमारी प्रवृत्ति क्षेत्रीयतावाद की नकारात्मक भावना अथवा पृथकतावादी विचारधारा की भूमिका की अनदेखी करने की रही है। पृथकतवाद का तब तक सफलतापूर्वक विरोध नहीं किया जा सकता जब तक कि पृथकतावादी नकारात्मक विचारधारा की उस विरासत को नष्ट नहीं किया जाता जो कि सौ से अधिक सालों से हम लोगों में घुली मिली है। विचारधारा के स्तर पर इस प्रकार की नकारात्मक परिघटनाओं से किसी प्रकार का समझौता नहीं किया जा सकता। जैसा कि नेहरू ने दिसम्बर 1958 में कहा था : "अपने नागरिकों के मामले में कोई भी सरकार पूरी तरह असमझौतावादी नहीं हो सकती है वह यथासम्भव अधिक से अधिक लोगों को अपने पक्ष में करने की कोशिश करती है और ऐसा करना भी चाहिये। फिर भी किसी निश्चित रूप से बुरी बात के साथ समझौता करना सदैव खतरनाक होता है।[25]

अतः विचारधारा के स्तर पर इस प्रकार की नकारात्मक परिघटनाओं से संघर्ष करने के लिये आवश्यक है कि वास्तविक संघर्षों को सामने लाकर सभी प्रकार के नकारात्मक झूठ का पर्दाफाश किया जाय और न केवल वास्तविक राष्ट्रीय संघर्ष एवं वर्ग संघर्ष को सामने लाया जाय अपितु धैर्य पूर्वक विचारधारा के स्तर पर शैक्षणिक कार्य किया जाय, चेतना का विकास केवल इसलिये किसी स्वतः स्फूर्त प्रक्रिया के रूप में नहीं होने वाला कि भारत वस्तुगत रूप से एक राष्ट्र बन रहा है। अतः एक भारतीय या राष्ट्रीय अस्मिता अथवा राष्ट्रीयता की भावना के उदय को पूर्व-स्थापित तथ्य नहीं माना जा सकता। इस भावना को भी उत्पन्न और विकसित किया जाना चाहिय। इस केन्द्रीय प्रश्न पर दीर्घकालीन एवं धैर्यपूर्वक किये जाने वाला राजनीतिक विचारधारात्मक कार्य भारत को राष्ट्र बनाने की सचेत प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। भारतीय इस नई राष्ट्रीय पहचान को सायास राजनीतिक एवं विचारधारात्मक गतिविधि द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। इसके अलावा क्षेत्रीयतावाद की नकारात्मक विचारधारा के विरूद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष करने के लिये इसे इसकी सम्पूर्ण जटिलता और अस्पष्टता, इसकी विचारधारा, इसके स्रोतों एवं मूल्यों, इसके सामाजिक आधार, इसकी बुद्धि एवं राष्ट्रवादी विरोध के बावजूद इसके बने रहने के कारणों को गहराई से समझे जाने की आवश्यकता है।

इस बात पर बल देना इसलिये आवश्यक है कि इस सदी के आरम्भ से ही यह देखने में आया है कि जब भी क्षेत्रीय अथवा पृथकतावादी ताकतें सर उठाती है तो अनेक राजनीतिक दल नेता और बुद्धिजीवी उसके दबाव में आ जाते हैं और किसी न किसी रूप में ऐसी विचारधारा से समझौता या समझौते की सिफारिश करने लगते है या कम से कम इस विचारधारा में निहित शब्दावली,

---

25. (1985), *लेटर्स टू चीफ मिनिस्टर्स 1947–1964, खण्ड–I*, नई दिल्ली, भारत सरकार।

संकल्पनाओं और विचारों की आलोचना करने से इंकार तो करते ही हैं। उदाहरण के लिये 1984 के आरम्भ में भारत के 150 से अधिक प्रमुख बुद्धिजीवियों ने सरकार ओर लोगों से अपील की थी कि वे अपनी इतिहास के प्रति गर्व महसूस करने वाली सिक्खों की साम्प्रदायिक धारणा और "समान रूप राजनीतिक सत्ता अधिकार का प्रयोग" तथा पंजाब में साझीदारी करने जैसी अत्यन्त साम्प्रदायिक संकल्पनाओं को स्वीकार करें और इन संकल्पनाओं का आदर करे।[26] वस्तुतः क्षेत्रीयता की भावना या इसी प्रकार की अन्य परिघटनाओं का यह मूलभूत पक्ष रहा है। सोचना होगा कि क्षेत्रीयता की भावना को तोड़कर लोगों को राष्ट्रीय, भाषायी और वर्गीय आधार पर अर्थात राष्ट्रीय मुद्दों, कार्यक्रमों और विचारधारा के आधार पर किस प्रकार जोड़ा जाय।

इस संदर्भ में विचारधारात्मक स्तर पर संघर्ष करने के लिये वैज्ञानिक ज्ञान, वैज्ञानिक विचारध ारा के प्रसार में वृद्धि और लोगों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश करना आवश्यक है। इस दृष्टि से शिक्षा और प्रेस की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आशा की जाती थी कि साक्षरता एवं शिक्षा का प्रसार लोगों को इस प्रकार की नकारात्मक परिघटनाओं से दूर रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा। किन्तु शिक्षा व्यवस्था (स्कूल और कॉलेज दोनो ही स्तर पर) और प्रेस इत्यादि के माध्यम से छपने वाली सामग्री का इस्तेमाल साम्प्रदायिकता, जातिवाद एवं कट्टर क्षेत्रीयता की भावना उत्पन्न करने और फैलाने के लिये किया जा रहा है।[27] शिक्षा के प्रसार का परिणाम यह हुआ कि प्रगति विरोधी एवं अतार्किक विचार और विचारधारायें अब अधिक लोगों तक पहुंच रही है। अतः वैज्ञानिक आधार पर शिक्षा के विशेष रूप से इसके सामाजिक अध्ययन से सम्बन्धित पक्ष का, पुनर्गठन करने की अत्यन्त आवश्यकता है। सामान्य रूप से यह आवश्यक है कि समस्त मूल परिवर्तनवादी और उदार राष्ट्रीय एवं धर्मनिरपेक्ष शक्तियां दल समूह और व्यक्ति मिलकर भारतीय समाज में एक वास्तविक सांस्कृतिक क्रान्ति लायें।[28]

26. चन्द्र, विपिन (1996), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 245 ।
27. तदैव, पृ0 250–251 ।
28. किसी भी सांस्कृतिक क्रान्ति में उस देश और समाज की विगत सांस्कृतिक उपलब्धियों के सभी स्वस्थ तत्वों को सम्मिलित करना आवश्यक होता है। यह इसलिये भी आवश्यक है कि इससे पुनरूत्थानवाद, क्षेत्रवाद और प्रगति विरोध के लोकप्रिय कारणों को दूर किया जा सकता है। यहीं बात साक्षरता के प्रसार एवं प्रेस और अन्य संचार साधनों पर भी लागू होती है। सांस्कृतिक एवं विचारधारात्मक सामंजस्य के अभाव में आधुनिक प्रेस और इश्तिहारबाजी क्षेत्रीयतावाद के दुष्प्रचार को फैलाने में ही सहायक हुये हैं।

चतुर्थ अध्याय
भारतीय राजनीति
में
क्षेत्रीयतावाद के आयाम

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के आयाम

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति ने मुख्यतः निम्नलिखित चार प्रकार के स्वरूप धारण किये हैं–

1. प्रदेश स्वायत्तता के लिये मांग

क्षेत्रीय राजनीति का प्रथम और सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण स्वरूप लोगों में कुछ प्रदेशों और क्षेत्रों को भारतीय संघ से अलग करने की मांग के रूप में था। वे स्वतन्त्र प्रभुसत्ता वाले प्रदेश बनाना चाहते थे। ऐसी मांगे स्वतन्त्रता के बाद शीघ्र ही उठने लगी परन्तु अब वे विद्यमान नहीं हैं। इसके महत्वपूर्ण उदाहरण है जनमत संग्रह मोर्चा (कश्मीर), पंजाब में अकाली दल (वर्तमान दल नहीं), मिजो राष्ट्रीय मोर्चा (असम की लुसेही पहाडिया), नागालैण्ड समाजवादी सम्मेलन (असम के नागा पहाड़ी जिले इत्यादि) ।

2. बहु प्रदेश क्षेत्रीयतावाद

बहु प्रदेश क्षेत्रीयतावाद के मुद्दे में एक से अधिक प्रदेश शामिल होते हैं। यह कुछ प्रदेशों की सामूहिक अस्मिता की अभिव्यक्ति है। एक समूह आपसी हितों के मुद्दों को लेकर दूसरे प्रदेशों के समूह के संदर्भ में एकजुट हो जाते हैं। समूह अस्मिता प्रायः कुछ विशिष्ट मुद्दों के सम्बन्ध में होती है। इसका किसी भी तरह से यह अभिप्राय नहीं हैं कि प्रदेशों की अस्मिता पूर्ण तथा स्थाई रूप से समूह की अस्मिता में घुल जाय। किसी समूह के कुछ प्रदेशों के बीच में प्रतिद्वन्द्विता तनाव और संघर्ष प्रायः उत्पन्न हो जाते हैं। दक्षिण और उत्तर भारत के बीच भाषा और इस्पात उद्योगों के स्थान निर्धारण के मुद्दों को लेकर उत्पन्न प्रतिद्वन्द्विता का उदाहरण इस विषय को अधिक स्पष्ट करता है। आर्थिक विकास की अधिक सफलता के लिये उत्तर–पूर्वी प्रदेशों द्वारा एक समूह बनाना इसका दूसरा उदाहरण है।

3. अन्तर–प्रदेश क्षेत्रीयतावाद

यह विचार प्रदेश सीमाओं के साथ सम्बन्धित है। इसमें एक या अधिक प्रदेशों की अस्मितायें एक दूसरे पर छा जाती है। इससे उनके हितों को भी खतरा पैदा हो जाता है। सामान्यतः नदी जल विवादों और दूसरे मुद्दों, विशेषतया महाराष्ट्र, कर्नाटक सीमा विवाद को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

4. अन्तः प्रदेश क्षेत्रीय राजनीति या उप क्षेत्रीयतावाद

इस प्रकार का क्षेत्रीयतावाद प्रदेश की सीमा के अन्दर ही होता है। यह एक प्रदेश के किसी भाग की स्व–अस्मिता और स्व–विकास की भावना में निहित होता है। यह प्रदेश के एक भाग का दूसरे भाग पर वंचन व शोषण की धारणा को भी दिखाता है। इस प्रकार का क्षेत्रीयतावाद भारत के बहुत से भागों में पाया जाता है। भारतीय संदर्भ में इस प्रकार के क्षेत्रीयतावाद (उप–क्षेत्रीयतावाद) के निम्न तीन महत्वपूर्ण आयाम– (i) भाषाई क्षेत्रीयतावाद, (ii) साम्प्रदायिक क्षेत्रीयतावाद, और (iii) संरक्षणात्मक या सामाजिक–आर्थिक क्षेत्रीयतावाद है।[1]

1. सिवाच, जे0आर0 (1990), *डायनामिक्स ऑफ इण्डियन गर्वनमेन्ट एण्ड पालिटिक्स* ।

(क) भाषायी क्षेत्रीयतावाद

भाषा को प्रायः राष्ट्रीयता का एक पहचान चिन्ह माना जाता है। विश्व का कोई भी राष्ट्र भाषायी बिन्दु पर समरूप नहीं है। इसके बावजूद यह निर्विवाद है कि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में भाषा अति महत्वपूर्ण कारकों में से एक हैं । यह सामाजिक और सांस्कृतिक स्मृतियों का साझा भण्डार होती है। स्टालिन के सारगर्भित शब्दों में, "एक सामान्य भाषा के अभाव में एक राष्ट्रीय समुदाय की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती।" कभी–कभी भाषा द्वारा ही संस्कृति, प्रजाति, धर्म इतिहास, तथा राष्ट्रत्व का प्रतिनिधित्व किया जाता है।

क्षेत्रीयतावाद के एक आयाम के रूप में भाषावाद किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के राष्ट्रीय एकीकरण की दृष्टि से एक ऋणात्मक प्रवृत्ति है। अपनी भाषा के प्रति लगाव भाषावाद नहीं है। किन्तु राजनीतिक जब भाषायी समरूपता के आधार पर किसी भाषा–भाषी वर्ग को अन्य भाषा–भाषी वर्ग के हितों से अलग समझने लगे अथवा उसका प्रतिपादन अपने राजनीतिक और आर्थिक हित के लिये करें तो उसे भाषावाद कहते हैं। इस प्रकार भाषावाद किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के राष्ट्रीय एकीकरण की दृष्टि से एक ऋणात्मक प्रवृत्ति है। भारत में भाषाई क्षेत्रवाद के दो स्वरूप रहे हैं, इसने–

(1) केन्द्र को राज्यों का भाषा के आधार पर पुर्नगठन करने के लिये विवश कर दिया;

(2) संविधान द्वारा निर्धारित पन्द्रह वर्ष की अवधि के समाप्त हो जाने पर भी हिन्दी को देश की एक मात्र शासकीय भाषा होने से रोक दिया।[2]

भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन

आजादी मिलते ही देश के सामने भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का सवाल आ खड़ा हुआ। यह राष्ट्र की एकता और उसके समेकन का एक महत्वपूर्ण पहलू था। चूंकि अंग्रेजों का भारत विजय अभियान करीब 100 वर्षों तक चलने के बाद ही सम्पन्न हो पाया इसलिये 20वी शताब्दी में अंग्रेजों ने देश का गठन सैनिक, प्रशासनिक तथा राजनैतिक सुविधाओं को ध्यान में रखते हुये किया था। इसलिये उस समय बंगाल प्रेसीडेन्सी में बंगाल, बिहार, असम तथा उड़ीसा सभी शामिल थे। लेकिन जब 1905 में बंगाल प्रेसीडेन्सी से पृथक कर पूर्वी बंगाल का निर्माण किया गया तो मध्य प्रान्त से कुछ उड़िया भाषी क्षेत्रों को बंगाल में सम्मिलित करने के समर्थन में भाषायी सिद्धान्त का प्रयोग किया गया था क्योंकि उड़ीसा उस समय बंगाल प्रेसीडेन्सी में सम्मिलित था। सन् 1911 में बंगाल का विभाजन निरस्त करते समय भी आबद्धकारी शक्ति के रूप में भाषा का महत्व स्वीकार किया गया था। परन्तु जब 1912 में बिहार, उड़ीसा और असम को बंगाल से पृथक किया गया तो उनकी सीमाओं के निर्धारण में पुनः भाषायी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया।[3] 1913 में स्थापित आन्ध्र महासभा की स्थापना का भी एक मात्र उद्देश्य मद्रास प्रेसीडेन्सी का विभाजन कर तेलगू भाषी राज्य की स्थापना था।

---

2. इस विषय पर द्वितीय अध्याय में विस्तार से अध्ययन किया जा चुका है।
3. सिवाच, जे0आर0 (1992), *भारत की राजनीतिक व्यवस्था*, चढ़ीगढ़, हरियाणा साहित्य अकादमी, पृ0 401 ।

भाषाई पुनर्गठन तथा माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट

माण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार के दौरान भी भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन पर विचार किया गया था। इस रिपोर्ट में इस तथ्य को स्वीकार किया गया था कि प्रान्तों का भाषा के आधार पर गठन करने के अनेक तर्क है और उनमें से सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह है कि जिन व्यक्तियों को अंग्रेजी भाषा नहीं आती है वे भी प्रशासन में भाग ले सकेंगे। इसके अतिरिक्त इस तथ्य को भी माना गया था कि प्रान्त की एक ही भाषा होने के कारण प्रशासन में भी सुविधा मिलेगी। परन्तु राजनैतिक कारणों से भाषा के आधार पर प्रान्तों के गठन को इसलिये रद्द कर दिया गया था क्योंकि साम्राज्य का प्रशासन भारतीय भाषाओं में नहीं चलाया जा सकता था।

भाषाई पुनर्गठन तथा कांग्रेस पार्टी

जहाँ तक भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के विचार के प्रति कांग्रेस के रूख का प्रश्न है, यह अस्थिर और मिश्रित रहा है। 1905 के बंगाल विभाजन का विरोध और 1911 में विभाजन की समाप्ति का समर्थन करके पहले तो कांग्रेस ने भाषायी सिद्धान्त के प्रति सहमति व्यक्त की। परन्तु 1913 में जब आन्ध्र महासभा ने तेलगू भाषी प्रान्त के गठन की मांग की तो कांग्रेस ने इसका विरोध किया था। औपचारिक रूप से इस प्रश्न पर कलकत्ता अधिवेशन (1917) में विचार के समय कांग्रेस की तत्कालीन अध्यक्षा एनीबेसेण्ट तथा महात्मा गांधी ने इस विचार का खुला विरोध किया, जबकि बाल गंगाधर तिलक ने भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का समर्थन किया था। 1913 में गांधी जी ने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया और उन्होने भी भाषाई आधार पर पुनर्गठन की नीति को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस के संगठन के लिये देश को 21 भाषाई प्रान्तों में बांट दिया गया; ऐसा कांग्रेस ने भाषाई क्षेत्रीय इकाईयों के दबाव में आकर किया था।[4]

नेहरू समिति रिपोर्ट

1928 में नेहरू समिति रिपोर्ट में भी प्रान्तों के भाषाई आधार पर पुनर्गठन को स्वीकार किया गया था और 1928 में ही सर्वदलीय कान्फ्रेन्स ने भी इसका समर्थन किया था। इस रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी कि सिन्ध को बम्बई से और उड़ीसा को बंगाल से पृथक करके उन्हें अलग–अलग प्रान्त बना दिया जाये। 1936 में ऐसा कर भी दिया गया था परन्तु ऐसा करने के कई कारण थे। इन प्रान्तों की सीमायें निश्चित करते समय 'ओडोनियल कमीशन' द्वरा भाषा को ही आधार मानकर गंजाम तथा विशाखापट्टनम जिले के उड़िया भाषी क्षेत्रों को उड़ीसा में शामिल कर दिया गया था।[5]

1945–46 का चुनाव घोषणा पत्र

1945–46 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी ने अपने चुनाव घोषणा–पत्र में यह वायदा किया था कि यदि वह चुनाव जीत गई तो राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन कर दिया जायेगा। चुनावों में कांग्रेस की भारी बहुमत से विजय हुयी थी और स्वतन्तत्रा के पश्चात् 562 भारतीय रियासतों का भी भारत में विलय कर दिया गया था। इसके तुरन्त पश्चात् भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन

---

4. तदैव, पृ0 402 ।
5. तदैव ।

की मांग फिर से उठाई गयी क्योंकि उस समय सैण्ट्रल प्रान्त में हिन्दी तथा मराठी भाषा जनता में, बरार में महाविदर्भा तथा संयुक्त महाराष्ट्र के समर्थकों में, बम्बई, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के समर्थकों के बीच तथा दूसरी तरफ तमिलनाडू और केरल के समर्थकों के बीच भी तनाव था।

इन झगड़ों को ध्यान में रखते हुये जयप्रकाश नारायण, के0एम0मुंशी, सरदार पटेल, नेहरू, राजा जी तथा गांधी जी जैसे नेता यह चाहते थे कि अभी भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की समस्या को कुछ समय के लिये टाल दिया जाए। डाक्टर बी0आर0 अम्बेदकर भी इस विचार से सहमत थे। नेतृत्व का विचार यह था कि अभी कुछ समय के लिये पहला काम राष्ट्रीय एकता को मजबूत करना होना चाहिये क्योंकि देश की आन्तरिक सीमाओं के पुनर्निधारण के जटिल कार्य को अभी हाथ में लेने का कोई भी प्रयास, प्रशासनिक और आर्थिक विकास को ठप्प कर सकता था। साथ ही यह क्षेत्रीय एवं भाषाई दुश्मनी को हवा दे सकता था या विभाजनकारी शक्तियों को उभार सकता था, देश की एकता में दरार डाल सकता था और राष्ट्रीय एकीकरण का मार्ग अवरूद्ध कर सकता था भाषाई सवाल पर बोलते हुये नेहरू ने 27 नवम्बर 1947 को अपनी स्थिति साफ–साफ सामने रख दी, "पहली चीज सबसे पहले और पहली चीज है भारत की सुरक्षा और स्थायित्व।"[6] इसलिये भाषाई राज्यों के लिये प्रतिबद्ध होते हुये भी नेहरू एवं अन्य नेताओं ने भारत के नये प्रशासनिक मानचित्र के खींचने के काम को निम्न प्राथमिकता दी। उन्होंने महसूस किया कि यह काम आने वाले कुछ सालों तक इंतजार कर सकता है। परन्तु जनता की इस मांग को और अधिक समय तक दबाया नहीं जा सका।

डार आयोग (1948)

ऐसी स्थिति में, क्रमानुसार आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र के भाषायी आधार पर पुनर्गठन के समर्थकों के दबाव बढ़ने से अन्ततः पंडित जवाहर लाल नेहरू ने 27 नवम्बर, 1947 को प्रान्तों को भाषाई आधार पर गठित करने के सिद्धान्त को मान लिया। 17 जून, 1948 को डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने (जो कि संविधान सभा के सभापति थे) चार सदस्यों का एक भाषायी आयोग नियुक्त किया जिसके अध्यक्ष इलाहाबाद उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश एस0डी0डार थे।[7] इस आयोग से यह कहा गयाा था कि वह आन्ध्र, कर्नाटक, केरल तथा महाराष्ट्र के प्रान्तों के गठन के बारे में अपनी रिपोर्ट दे। इस आयोग ने यह रिपोर्ट दी कि केवल भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन नहीं किया जाना चाहिये[8] और जब इस रिपोर्ट के बारे में भाषाई आधार पर प्रान्तों के गठन के समर्थकों को यह मालूम हुआ तब उनमें नारजगी की एक लहर फैल गयी।

---

6. उद्धत, चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), *आजादी के बाद का भारत, 1947–2000,* दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृ0 134 ।
7. इस आयोग के अन्य सदस्य थे– सर्व श्री डॉ0 पन्नालाल (अवकाश प्राप्त आई0सी0एस0 अधिकारी) तथा जगत नारायण लाल (सदस्य संविधान सभा), जबकि श्री बी0सी0बनर्जी (महालेखा परीक्षक, बिहार) को आयोग का सचिव बनाया गया। आयोग के 9 सहयोगी सदस्य भी बनाये गये– सर्वश्री रामकृष्ण राजू, टी0ए0रामलिंगम, नरायण मेनन, टी0 सुब्रह्यमण्यम, के0एम0मुंशी, आर0आर0दिवाकर, एच0वी0पाटस्कर, टी0एल0सियोड़े तथा गोपाल श्री वत्स।
8. "पूर्णतः या अंशतः भाषायी आधार पर राज्यों का गठन भारत राष्ट्र के दीर्घकालीन हित में नहीं हैं, अतएव इसे क्रियान्वित नहीं किया जाना चाहिये। नये प्रान्तों की स्थापना में भाषा को समरूपता के अन्य कारणों की भांति एक कारक के रूप में मान्यता दी जा सकती है, परन्तु इसे निर्णायक अथवा मुख्य तत्व नहीं माना जा सकता है। यदि भारत का अस्तित्व ही कायम नहीं रहता तो भारत की भाषायी समस्या के निराकरण से कुछ नहीं प्राप्त होगा।"– भाषायी पुनर्गठन पर धर आयोग ।

जे0वी0पी0समिति (1948)

चूंकि भाषा के आधार पर प्रान्तों के गठन किये जाने के समर्थक डार आयोग की रिपोर्ट से सन्तुष्ट नहीं थे। ऐसी स्थिति में, दक्षिण भारत के कांग्रेसी जनों ने कार्य समिति से इस विषय पर पुनर्विचार करने का आग्रह किया। फलस्वरूप, अपने जयपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने इस विषय पर विचार हेतु उच्च स्तरीय जे0वी0पी0 समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने भी विस्तृत विचार विमर्श के उपरान्त भाषायी आधार पर पुनर्गठन की मांग को निरस्त कर दिया। इस समिति ने यह सिफारिश की कि इस समस्या को कुछ समय तक के लिये टाल देना चाहिये। लेकिन निजलिंगगप्पा तथा संजीव रेड्डी जैसे नेता इस सुझाव को मानने के लिये तैयार नहीं थे।

चूंकि संविधान निर्माता इस बात को जानते थे कि भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की समस्या को अधिक समय तक नहीं दबाया जा सकता था। इसलिये संविधान में संसद को राज्यों का पुनर्गठन करने का अधिकार दे दिया गया।[9]

विशाल आन्ध्र आन्दोलन

सरकार के नकारात्मक दृष्टिकोण के बावजूद पृथक आन्ध्र की स्थापना के लिये आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। 1952 के अन्तिम महीनों में पृथक आन्ध्र की स्थापना की मांग को लेकर पोट्टी श्री रामुलु की 58 दिन के अनशन के पश्चात् मृत्यु हो गयी तो इसके पश्चात् इस आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। इन परिस्थितियों से विवश होकर तत्कालीन प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरू ने 19 दिसम्बर 1952 को पृथक आन्ध्र राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी और 1 अक्टूबर 1953 को आन्ध्र प्रदेश औपचारिक रूप से नया प्रदेश बन गया। यह भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का पहला चरण था।

राज्य पुनर्गठन आयोग (1953)

आन्ध्र प्रदेश की स्थापना से, जैसा कि स्वाभाविक था भाषायी आधार पर पृथक राज्यों की स्थापना की मांग करने वालों को पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त हुयी। देश के कई भागों से इस तरह की मांगे आने लगी। भाषाई प्रान्तों पर आधारित प्रशासनिक इकाइयों के पक्ष में काफी दमदार तर्क थे। चूंकि भाषा संस्कृति से बहुत गहरे तौर से जुड़ी होती है, इसलिये जनता के रीति रिवाजों पर भी इसका गहरा असर होता है। आम जनता के लिये जनवाद भी तभी यथार्थ बन सकता है जबकि राजनीति और प्रशासन उस भाषा के माध्यम से संचालित हो जिसे वे ठीक से समझ सकते हों। प्रशासन किस भाषा के माध्यम से चलाया जा रहा है, यह भी निर्धारित करता है कि आम आदमी की प्रशासन, राजनीति, सत्ता और रोजगार तक कोई पैठ है भी या नहीं। परन्तु शिक्षा,प्रशासन और अदालतों की भाषा कोई मातृभाषा तब तक नहीं बन सकती जब तक कि प्रदेशों का गठन उसकी प्रमुख भाषा के आधार पर न किया जाए। यही कारण था कि इन मांगों की औचित्यता को परखने और नये राज्यों की सीमा–निर्धारण के लिये केन्द्र सरकार द्वारा 22 दिसम्बर 1953 को राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति की घोषणा की गयी।[10] अपने कार्यकाल के पूरे दो वर्षों के दौरान इस आयोग को प्रदर्शन,

9. भारतीय संविधान, अनुच्छेद 3 ।
10 न्यायाधीश फजल अली इस आयोग के अध्यक्ष थे और सरदार के0एम0पणिक्कर तथा पण्डित हृदयनाथ कुंजरू इस आयोग के दो अन्य सदस्य थे। आयोग ने अपनी संस्तुतियों के निर्धारण हेतु पूरे देश की यात्रा की ; लगभग 9000 व्यक्तियों का साक्षात्कार लिया ; 1,52,250 याचिकाओं, संदेशों तथा स्मृति पत्रों का परीक्षण किया। 1 वर्ष 9 माह और 3 दिन के अन्तराल (30 सितम्बर, 1955) पर प्रस्तुत आयोग की रिपोर्ट 267 मुद्रित पृष्ठों में थी।

घटना और भूख हडतालों का सामना करते रहना पडा। विभिन्न भाषायी समूह एक–दूसरे से कभी बहस में तो कभी सशरीर टकराते रहे। जैसा कि आयोग के सदस्यों ने दुखपूर्वक रिपोर्ट किया : "हमें यह देखकर बहुत दु:ख हुआ कि ... कुछ इलाकों में स्वतन्त्रता संघर्ष के पुराने साथियों ने एक दूसरे के खिलाफ कटु विवादों में उलझकर सीमा पर चलने वाले युद्ध की स्थिति बना दी है ... साम्प्रदायिक और संकीर्ण नारे उठाकर आम जनता में उन्माद भड़काने की कोशिश की जा रही है; बड़े पैमाने पर पलायन का खतरा दिखाया जा रहा है, यह दावा तक किया जा रहा है कि यदि खास भाषायी समूह को अपनी अलग प्रशासनिक इकाई नही दी गयी तो उसका नैतिक और भौतिक पतन यहां तक कि अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा ; ... ये सब यही दिखाते हैं कि उनमें संतुलन और परिप्रेक्ष्य का भारी अभाव है।"[11] आयोग ने अपनी संस्तुतियॉ निम्न तत्वों को ध्यान में रखते हुये की–

(i) भारत की एकता और सुरक्षा का परिरक्षण ;

(ii) भाषायी और सांस्कृतिक समरूपता ;

(iii) वित्तीय, आर्थिक तथा प्रशासकीय सुविधा ; तथा

(iv) पंचवर्षीय योजनाओं का सफल क्रियान्वयन ।

इस रिपोर्ट में आयोग ने यह कहा कि केवल भाषा तथा संस्कृति के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन नहीं किया जाना चाहिये। परन्तु ऐसी सिफारिश करते हुये भी व्यवहार में आयोग ने जितने भी राज्यों की संस्तुति की, उसमं पंजाब और बम्बई को छोड़कर सभी राज्य भाषायी दृष्टि से 'समरूप' थे। आयोग की संस्तुति 16 राज्य और तीन संघ शासित प्रदेशों की स्थापना की थी और इसके अतिरिक्त भाग (क), भाग (ख) तथा भाग (ग), राज्यों की भिन्नता तथा राज प्रमुख का पद समाप्त करने की भी सिफारिश की थी।[12]

राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिश मतैक्य से नहीं की गई थी क्योंकि के0एम0पणिक्कर इन सिफारिशों से सहमत नहीं थे। के0एम0पणिक्कर ने यह सिफारिश की थी कि हिमाचल को पंजाब में शामिल न किया जाए तथा उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और विंध्य प्रदेश के कुछ भागों को मिलाकर आगरा का अलग राज्य बनाया जाए।

सरकार ने इस आयोग की सिफारिशों को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया और आयोग की सिफारिश के अनुरूप 16 राज्य तथा 3 केन्द्र प्रशासित क्षेत्र गठित करने के स्थान पर 14 राज्य[13] तथा 6 संघ शासित[14] क्षेत्रों की स्थापना की। हैदराबाद रियासत का तेलंगाना क्षेत्र आन्ध्र प्रदेश को दे दिया गया। ट्रावनकोर–कोचीन में पुराने मद्रास प्रेसीडेंसी के मालाबार जिले को मिलाकर केरल बनाया गया। बंबई, मद्रास, हैदराबाद और कुर्ग के कुछ कन्नड़ भाषी इलाकों को मैसूर रियासत में जोड़

11. गोपाल, एस0 संपा0 (1962), *जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी*, जिल्द II, पृ0 259–60 ।
12. सिवाच, जे0आर0 (1992), पूर्व उद्धृत कृति,, पृ0 404–405।
13. ये राज्य हैं– आन्ध्र प्रदेश, असम, बंबई, जम्मू कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल।
14. ये संघ शासित प्रदेश हैं– अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह. दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, लक्षद्वीप, मिनीकाय तथा अमीनदिवी द्वीप ।

दिया गया। कच्छ और सौराष्ट्र रियासतों के अलावा हैदराबाद रियासत के मराठी भाषी इलाकों को बंबई राज्य में मिलाकर विस्तार किया गया।

सिफारिशों का आलोचनात्मक विश्लेषण

राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि आयोग की सिफारिशे निम्न दृष्टियों से उचित नहीं थी।

1. इस आयोग ने एक तरफ तो कुछ क्षेत्रों को पृथक राज्य बनाने की सिफारिश इसलिये नही की क्योंकि उनका क्षेत्र छोटा था, परन्तु दूसरी तरफ इसने विदर्भ जैसे छोटे राज्य स्थापित करने की सिफारिश की।
2. हालांकि आयोग ने केवल भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन का विरोध किया, परन्तु फिर भी सिवाय पंजाब और बम्बई को छोड़कर, अन्य राज्यों का केवल भाषा के आधार पर गठन करने की सिफारिश की।
3. जब अन्य राज्यों की स्थापना की सिफारिश भाषा के आधार पर की थी तब उस सिद्धान्त को पजाब तथा बम्बई में लागू न करना उनके साथ एक प्रकार का भेदभाव था जिसे न्यायसंगत नही कहा जा सकता।
4. बम्बई मे विदर्भ के विलय की इसलियें मुखालफत की गई थी क्योंकि विदर्भ की जनता को यह डर था कि ऐसा होने पर पुणे के महाराष्ट्रीयन उन पर हावी हो जायेंगे परन्तु मैसूर का कर्नाटक में विलय करने की सिफारिश करते समय इस तर्क को ध्यान मे नहीं रखा गया।
5. मध्य प्रदेश जैसे बडे राज्य की स्थापना का कोई औचित्य नहीं था।

1960 और उसके पश्चात् राज्यों का भाषायी आधार पर पुनर्गठन

हालांकि भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन 1956 मे कर दिया गया था परन्तु इस निर्णय से कुछ लोग– विशेषकर बम्बई में मराठी तथा पंजाब में सिक्ख सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि जब अन्य राज्यो का भाषा के आधार पर गठन कर दिया गया तो इन दो प्रान्तों को द्विभाषी बनायें रखने का कोई भी औचित्य नहीं था। जब महाराष्ट्र को पृथक राज्य नहीं बनाया गया तो तत्कालीन वित्त मंत्री सी0डी0देशमुख ने 'प्रॉटेक्ट' के रूप में मन्त्रि मण्डल से त्याग पत्र दे दिया। इसके पश्चात् समय–समय पर राज्यों के पुनर्गठन से सम्बन्धित आन्दोलन होते रहे और परिस्थितियों से मजबूर होकर केन्द्रीय सरकार भी विभिन्न वर्गों को सन्तुष्ट करने के लिये राज्यों का पुनर्गठन करती चली गई।

सबसे पहले 1960 में बम्बई, महाराष्ट और गुजरात में विभाजित कर दिया गया। क्योकि राज्य पुनर्गठन आयोग और विधेयक के खिलाफ सबसे ज्यादा विरोध महाराष्ट्र में हुआ था। वहां बडे पैमाने पर दंगे भड़क उठे थे और जनवरी 1956 में पुलिस फायरिंग के दौरान अकेले बंबई शहर में 80 लोग मारे गये थे। महाराष्ट्र के लोगों को यह गुस्सा था कि इतनी विशाल आबादी की आवाज अनसुनी की जा रही है। आखिरकर दबाव के सामने झुककर भारत सरकार ने जून 1956 में यह निर्णय लिया कि बंबई राज्य को दो हिस्सों में बांटकर दो भाषाई राज्य महाराष्ट्र और गुजरात बनाये जायेंगे तथा बंबई शहर केन्द्र शासित प्रदेश बनेगा। महाराष्ट्र द्वारा इस कदम का घोर विरोध किया

गया। नेहरू अब डगमगा गये। उन्होंने जुलाई मे अपने निर्णय को बदलते हुये ग्रेटर बंबई नामक द्विभाषी राज्य फिर से बना दिया। फिर इस कदम का विरोध महाराष्ट्र और गुजरात दोनो ही जगह हुआ। व्यापक आधार वाली संयुक्त महाराष्ट्र समिति और महा गुजरात जनता परिषद राज्य के दो हिस्सों में अलग–अलग आंदोलनों का नेतृत्व कर रही थी। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे वित्त मंत्री सी0डी0 देशमुख ने इस सवाल पर अपने पद से इस्तीफा दे दिया। पांच वर्षों तक व्यापक आंदोलन चलते रहे। आखिरकार 1960 में सरकार बंबई राज्य को महाराष्ट्र और गुजरात में बांटने के लिये तैयार हो गई, जिसमें बंबई सिटी महाराष्ट्र को मिला तथा गुजरात की राजधानी अहमदाबाद हो गई। 1962 में असम से अलग करके नागालैण्ड की स्थापना की गई। पंजाब एक अन्य राज्य था जहां भाषाई आधार लागू नहीं किया गया था। 1956 में पेप्सू राज्य को पंजाब में मिला दिया गया था, जिसमें पहले से ही तीन भाषाई समूह– पंजाबी, हिन्दी और पहाड़ी रहते थे। राज्य के पंजाबी भाषा बहुल इलाके में अलग पंजाबी भाषी राज्य की मांग काफी जोर पर थी। दुर्भाग्य से यह मांग साम्प्रदायिकता के साथ मिल गई। राज्य पुनर्गठन आयोग ने एक अलग पंजाबी भाषी राज्य के निर्माण की मांग को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि इससे न तो पंजाब की भाषा समस्या का समाधान होगा, न ही साम्प्रदायिक समस्या का। किन्तु संत फतेह सिंह की धमकी के कारण सन् 1966 में पंजाब का पंजाब (पंजाबी भाषी राज्य) तथा हरियाणा (हिन्दी भाषी राज्य) में विभाजन कर दिया गया एवं चण्डीगढ़ को संघ शासित क्षेत्र बना दिया गया। साथ ही कांगड़ा के पहाडी भाषी क्षेत्र और होशियारपुर जिले का कुछ हिस्सा हिमाचल प्रदेश में मिला दिया गया। इस प्रकार सन् 1966 के अन्त तक संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित 14 भाषाओं में से 12 भाषाओं (उर्दू और संस्कृत को छोड़कर) में से प्रत्येक पर आधारित एक राज्य–आसाम (असमिया भाषा किन्तु काफी बंगाली और आदिवासी अल्पसंख्यक भी है), आन्ध्र प्रदेश (तेलगू), बिहार (मुख्यतः हिन्दी), गुजरात (गुजराती), जम्मू और कश्मीर (मुख्यतः कश्मीरी)[15], केरल (मलयालम), मध्य प्रदेश (मुख्यतः हिन्दी), मद्रास (तमिल), महाराष्ट्र (मराठी), मैसूर (कन्नड़), नागालैण्ड, उडीसा (उड़िया, आदिवासी भी है), पजाब (पंजाबी और कुछ हिन्दी), पश्चिम बंगाल (बंगाली) बन चुका था। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि 1966 तक भाषायी आधार पर भारत का पुनर्गठन काफी हद तक पूरा हो गया। इसने आम जनता की राजनीतिक भागीदारी और शासक एवं शासितों के बीच संवाद के लिये एक अधिक व्यापक और अधिक तर्क संगत ढांचा मुहैया करवाया।

1956 से ही यह बात बिल्कुल साफ थी कि भाषा के प्रति वफादारी देश के प्रति वफादारी का हिस्सा और यहाँ तक कि उसका पूरक थी। भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का कार्य सम्पन्न कर राष्ट्रीय नेतृत्व ने एक बहुत बडी शिकायत को दूर कर दिया था, जो संभवतः विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दे सकता था। अतः राज्यों का पुनर्गठन एक तरह से "राष्ट्रीय एकीकरण के लिये जमीन साफ करना माना गया है। इसके अलावा यह भी महत्वपूर्ण है कि भाषायी राज्यों के पुनर्गठन ने देश के संघीय ढांचे को प्रभावित नहीं किया, न ही उसने केन्द्र को कमजोर

15. ध्यातव्य है कि कश्मीर में भूतपूर्व रियासत का सिर्फ वहीं इलाका है, जो 1949 में बनायी गई युद्ध विराम रेखा के भारत की ओर था और इन इलाकों के सम्बन्ध में भी पाकिस्तान के साथ विवाद है।

या शिथिल किया जैसा कि बहुत से लोगों को पहले डर था।[16] इस तरह इसने प्रलय के भविष्य वक्ताओं को बेहद निराश और दोस्तों के डर को दूर किया। राजनीतिशास्त्री रजनी कोठारी को यदि उद्धत किया जाय तो :

नेतृत्व की आरम्भिक हिचकों और सहानुभूतिपूर्ण प्रेक्षकों की अपशकुन भरी भविष्यवाणी के बावजूद राज्यों के पुनर्गठन का परिणाम भारत के राजनीतिक मानचित्र को बिना इसकी एकता को गम्भीरता से कमजोर किये तर्क संगत बना देने के रूप में हुआ। यदि इसका कोई असर पड़ा भी, तो यही कि झगड़े की एक जड़ ही समाप्त हो गयी और ऐसी समरूप राजनीतिक इकाइयों का निर्माण हुआ जिन पर बहुसंख्यक जनता को समझ में आने वाली भाषा के माध्यम से प्रशासन चलाया जा सकता था। अतीत का मूल्यांकन करते हुये अब यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि विभाजन वाली शक्ति साबित होने की बजाय यह एकता और समन्वय की शक्ति साबित हुयी है।[17]

राज्यों के पुनर्गठन के राजनैतिक परिणाम

राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के विश्लेषण से दो नतीजे निकलते हैं– पहला यह कि यद्यपि आयोग ने बढ़ती हुयी क्षेत्रीय चेतना को पहचान लिया फिर भी आयोग उन आयामों को पहचाननें में नाकाम रहा जिनके कारण अलग–अलग क्षेत्रीय आन्दोलन पैदा हुयें। दूसरी बात यह है कि पिछली सदी (20वीं सदी) के दूसरे दशक के मध्य से राज्यों के भाषायी आधार पर पुनर्गठन करने की मांग करके कांग्रेस भी उसकी तमाम शाखाओं, प्रशाखाओं के विस्तार को आंकने में नाकाम रही।

भारत में भाषा और राजनीति के मध्य अन्तःक्रिया का पूरी व्यवस्था पर निश्चित प्रभाव पड़ा है। इससे जनमानस की भाषायी आंकाक्षाओं को तो तृप्ति मिली, परन्तु अपने प्रकार की निम्न समस्यायें भी भाषायी राजनीति से पैदा हुयी है[18]–

1. भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने के कारण प्रत्येक राज्य में भाषाई अल्पसंख्यकों की नई समस्या पैदा हुयी है। एक विश्लेषण के अनुसार औसतन राज्यों की 18–20प्रतिशत जनसंख्या राज्य की सरकारी भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग करती है। 1971 की जनगणना के अनुसार यह प्रतिशत पृथक–पृथक राज्यों में 4 (केरल) से लेकर 34.5 (कर्नाटक) तक तथा 3.9 (आसाम) से लेकर 44.5 (जम्मू कश्मीर) तक है।[19] भाषायी आधार पर राज्यों के गठन के उपरान्त इन अल्पसंख्यकों को विदेशी जैसा माना जाता है और भाषायी बहुसंख्यकों द्वारा इनके साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया जाता है। भाषायी अल्पसंख्यकों को राज्य में कमजोर करने की दृष्टि से अनेक राज्यों में भूमिपुत्र का सिद्धान्त विकसित हुआ है।
2. इस सम्बन्ध में जो दूसरी समस्या उत्पन्न हुयी है, उसका सम्बन्ध सीमा विवाद से है। पंजाब तथा हरियाणा, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक, कर्नाटक तथा केरल, अरूणाचल तथा असम के राज्यों के बीच सीमा–विवाद इसके उदाहरण है।

---

16. चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 139 ।
17. कोठारी, रजनी (1986), *पॉलिटिक्स इन इंडिया*, नई दिल्ली, ओरियंट लाग्मैन लि0, पृ0 100 ।
18. भाषायी राजनीति की समस्या चुनाव के दिनों में और अधिक प्रज्जवलित हो जाती है ; क्योंकि विभिन्न राजनीतिक दल जनमानस की भाषायी भावनाओं को उत्तेजित करके अपना स्वार्थ पूरा करने का प्रयास करते हैं।
19. चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 140 ।

3. इससे सम्बन्धित तीसरी समस्या पानी के विवाद की है। किस बांध से कितना पानी और कितनी बिजली किस राज्य को मिलेगी, इस विषय को लेकर भी राज्यों के बीच झगडे हैं।
4. भाषायी राजनीति ने क्षेत्रीय असन्तुलन जैसी समस्या को भी जन्म दिया है। चूंकि एक ही भाषा बोलने वाले क्षेत्रों को मिलाकर भाषायी राज्यों का गठन किया गया है परन्तु इस प्रकार से बनाये गये राज्यों के अनेक क्षेत्रों की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति समान नहीं थी; उनमें से कुछ क्षेत्र उन्नत थे तथा अन्य पिछडे हुये। अनेक राज्यों में इन पिछडे हुये क्षेत्रों का विकास नहीं किया गया जिसके कारण इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों ने अपना एक पृथक राज्य बनाने की मांग उठानी शुरू कर दी। उदाहरणतया आन्ध्र में तेलांगना की, महाराष्ट्र में विदर्भ की, गुजरात में सौराष्ट्र की, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में झारखण्ड की, असम में बोडोलैण्ड, कर्वी अंगलोग तथा उत्तरी कचार की, उत्तर प्रदेश में भोजपुर, बुन्देलखण्ड तथा हरित प्रदेश की, पश्चिम बंगाल में गोरखालैण्ड की, मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़, महाकौशल तथा मध्य भारत की और जम्मू तथा कश्मीर में जम्मू एवं लद्दाख की मांगे इसका उदाहरण है।
5. इसने राज्यों के स्वायत्तता आन्दोलन को भी प्रेरित किया है। इस दिशा में तमिलनाडू में द्रमुक, केरल और पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी पार्टी तथा पंजाब में अकाली दल सर्वाधिक प्रखर रहे हैं।
6. इसने आन्दोलनों और हिंसा को जन्म दिया है। भाषायी समूहों ने केन्द्र से अपनी मांग मनवाने के लिये आन्दोलनों का सहारा लिया। इन आन्दोलनों में विद्यार्थियों ने विशेष रूप से भाग लिया और अब इस प्रकार की विचारधारा उत्पन्न हो गई है कि जब तक हिंसा का प्रयोग नहीं किया जायेगा तब तक संघीय सरकार किसी भी मांग को नहीं मानेगी जो कि बहुत ही खतरनाक है।
7. इसने सामाजिक तनावों को भी जन्म दिया है। चूंकि राज्यों का भाषा के आधार पर गठन किये जाने के पश्चात् क्षेत्रीय भावनायें अधिक शक्तिशाली हो गयी है जिसके परिणामस्वरूप भिन्न–भिन्न भाषा बोलने वाले व्यक्तियों के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक मतभेद और अधिक बढ़ गये हैं इसके कारण राष्ट्रीय एकता की भावना पर भी बुरा प्रभाव पड़ा है और जनता में संकीर्ण विचारधारा उत्पन्न हो गयी है। शिव सेना, लाचित सेना, दलित सेना जैसे संगठनों की भूमिका के कारण यह सामाजिक तनाव दिन–प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं।

उपर्युक्त से यह सिद्ध हो जाता है कि राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन किये जाने के पश्चात् सामाजिक तनाव, अन्तर्राज्यिक वाद–विवाद और अधिक बढ़ गये हैं।

वस्तुतः भारतीय राजनीति में धर्म, जाति व भाषा के आधार पर उभार इसलिये भी हुआ कि देश में राष्ट्रीय नेतृत्व शक्तिशाली नहीं है। उनमें भारत की एकता व अखण्डता की भावना कम और सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा अत्यधिक प्रबल है। इसी कारण वह इन समस्याओं को चुनाव के समय मुखरित करते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हिन्दी का विरोध तमिलनाडू में सर्वाधिक है, जबकि स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय चक्रवर्ती राजगोपालचारी ने हिन्दी को लोकप्रिय बनाने का सफल प्रयास किया था।

(ख) साम्प्रदायिक क्षेत्रीयतावाद

यह क्षेत्रवाद का वह आयाम है जिसमें क्षेत्रीयतावादी आन्दोलन एक विशेष सम्प्रदाय के लोगों द्वारा चलाया जाता है। इस श्रेणी के क्षेत्रवाद में भाषा का तत्व भी सहायक हो सकता है। परन्तु इसके बावजूद इस श्रेणी के क्षेत्रीयतावाद में सम्प्रदाय का तत्व भाषा के तत्व पर हावी रहता है। अकाली दल द्वारा पंजाब में चलाया गया आन्दोलन इसका एकमात्र उदाहरण है।

इस समस्या की जड़ 20वीं शताब्दी के दौरान और खासतौर पर 1947 के बाद से पंजाब में साम्प्रदायिकता के विकास में छुपी हुयी है जो अलगाववाद, उग्रवाद और आतंकवाद के रूप में 1980 के बाद फूट पड़ी। 1947 के पहले पंजाब में साम्प्रदायिकता मुसलमान, हिन्दू और सिक्ख सम्प्रदायवादियों के त्रिकोण के बीच चलती रही थी जिसमे एक के खिलाफ बाकी दो मिलकर लड़ते, बाद में फिर दोनो अलग होकर दूसरे के साथ मिलकर तीसरे के साथ लड़ते।[20] अगस्त 1947 के बाद पंजाब में मुस्लिम साम्प्रदायिकता के गायब हो जाने के बाद हिन्दू और सिक्ख सम्प्रदायवाद एक–दूसरे के खिलाफ खड़े हो गये।

आरम्भ से ही अकाली नेतृत्व ने कुछ साम्प्रदायिक मुद्दों को अंगीकार कर लिया था, जो सिक्ख सम्प्रदायवाद के हर चरण में इसका एक संघटक अंग बन गया। धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था के आदर्श से इन्कार करते हुये अकालियों ने इस बात पर बल दिया कि धर्म और राजनीति को अलग–अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि सिक्ख धर्म में दोनो अनिर्वायता मिले–जुले हैं। अकालियों द्वारा एक दूसरा मुद्दा यह सामने रखा गया कि सिक्खों को लगातार भेदभाव, शोषण, अपमान, दण्ड और उत्पीडन का शिकार बनाया जाता रहा है एवं उनके खिलाफ हर तरीके के षड़यन्त्र किये गये हैं। इसके अतिरिक्त 1940 के दशक के मुस्लिम लीग के सिद्धान्तों को प्रतिध्वनित करते हुये अकालियों ने भी यह नारा बुलन्द किया कि सिक्ख धर्म खतरे में है।

हालांकि अतिवादी अकाली नेता अधिक जहर उगल रहे थे, लेकिन अपेक्षाकृत नरमपंथी नेता भी इन साम्प्रदायिक शिकायतों की अभिव्यक्ति में किसी से पीछे नहीं थे। इसके अलावा, समय गुजरने के साथ–साथ उग्रवादियों का प्रभाव बढ़ता चला गया और चाहे जो भी हो, नरमपंथी अकालियों की तरफ से उनकी बहुत ही कम आलोचना अथवा अस्वीकृति की गई। हम यहां संक्षेप में 1966 के पहले हुये उनके विकास की चर्चा कर सकते हैं जब मौजूदा पंजाबी भाषी राज्य पंजाब का निर्माण किया गया।

यहाँ (पंजाब में) सिर्फ भाषा का सीधा–सादा मामला नहीं था ; पंजाबी एक बोली जाने वाली भाषा के रूप में हिन्दी के बहुत नजदीक है, लेकिन यह सिक्खों की भाषा है जिनका धर्मग्रन्थ एक पृथक गुरूमुखी लिपि में है। इसके अतिरिक्त सिक्खों को जो किसी जमाने में पंजाब के शासक थे और ब्रिटिश शासनकाल में भी राज्य के जीवन में जिनको प्रमुख स्थान प्राप्त था, भय था कि अब उनका असर और उनका पृथक अस्तित्व नष्ट हो जायेगा। अंग्रेजों और मुसलमानों के जाने के बाद अब हिन्दुओं के साथ उनकी सीधी टक्कर थी। सिक्खों का अपना राजनैतिक संगठन–अकाली दल

20. देखे इसी शोध ग्रन्थ का अध्याय चार 'भारत में क्षेत्रीय आन्दोलन' ।

काफी पुराना है और बिट्रिश कैबिनेट मिशन (1946) के समय भी सिक्खिस्तान की बात उठी थी। विशेष मान्यता न मिलने की वजह से उनमें जो निराशा थी, उसमें पाकिस्तानी इलाके से भाग कर भारत आने की मुसीबतों और बदले की भावना के कारण कटुता पैदा हो गई थी। 1950–60 के शुरू के सालों में अलग पंजाबी सूबे की मांग फिर पेश की गई, लेकिन राज्य पुनर्गठन आयोग और सरकार दोनो पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मास्टर तारा सिंह कभी बहुत गर्म हो जाते थे और कभी बिल्कुल ढुलमुल। पहले भी कई बार वह ऐसा करते रहे थें, और उनका यह व्यवहार इस मामलें में इस समुदाय की इस अस्थिरता का प्रतीक था कि उन्हें सर्वाधिक लाभ अड़े रहने से होगा या समझौता करने से होगा।[21] उदाहरण के लिये आल इण्डिया अकाली कांग्रेस को सम्बोधित करते हुये 1953 में मास्टर तारा सिंह, जिन्होंने अकाली दल के साथ सिक्ख गुरूद्वारा प्रबन्धक कमेटी (एस.जी.पी.सी.) पर भी अपना प्रभुत्व बनाये रखा था, उस समय कहा, "अंग्रेज चले गये, लेकिन हमारी आजादी नहीं आई है। हमारे लिये तथाकथित आजादी मात्र मालिकों का बदलाव है, गोरे के बदले काला। लोकतन्त्र और धर्म निरपेक्षता की आड़ में हमारे पंथ, हमारी आजादी और हमारे धर्म को कुचला जा रहा है।"[22]

मजेदार तथ्य यह है कि शिकायतों की इस लम्बी फेरहिस्त में पंजाबी सूबा की मांग को मानने से इंकार करने के अलावा और कोई दूसरा प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। सरकारी नौकरियों में सिक्खों के खिलाफ भेदभाव बरते जाने के एक मात्र ठोस आरोप को 1961 में नेहरू द्वारा नियुक्त एक समिति द्वारा आधारहीन पाया गया। राजनीतिशास्त्री बदलेव राज नायर ने 1966 में इस बात की तरफ इशारा किया कि हालांकि सिक्ख "भारतीय जनसंख्या के 2 प्रतिशत से भी कम है, परन्तु भारतीय सेना में उनका हिस्सा 20 प्रतिशत से अधिक है, भारतीय प्रशासनिक सेवाओं में अपने आनुपातिक हिस्सें से दो गुना और पंजाब में सरकारी नौकरियों, विधायिका, मन्त्रिमंडल और कांग्रेस पार्टी के संगठनों में राज्य की आबादी में अपने अनुपात से कहीं ज्यादा है।"[23]

इस काल के दौरान अकाली राजनीति की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता सिक्ख धर्म के प्रतीकों और संस्थाओं का उपयोग धार्मिक भावनाओं का फायदा उठाने और साम्प्रदायिक अपील में सरगर्मी लाने के लिये किया जाना था। इस संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण अकालियों द्वारा एस.जी. पी.सी. का उपयोग था, जो 700 से अधिक गुरूद्वारों का नियन्त्रण करता था ताकि अकाली राजनीति को प्रोत्साहन दिया जा सके। खासतौर से अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर का नियमिति रूप से उपयोग किया गया।

1947 के बाद साम्प्रदायिकता की जड़ें

1966 तक पंजाब की राजनीति में दो ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दें हावी थे, जो अपने आप में तो धर्म निरपेक्ष थे, परन्तु उसका सिक्ख एवं हिन्दू सम्प्रदायवादियों द्वारा सम्प्रदायीकरण कर दिया गया था। पहला मुद्दा राज्य की भाषा से सम्बन्धित था एवं दूसरा मुद्दा पंजाबी सूबा का था, जो कहीं

21. जौन्स, डब्ल्यू0एच0मौरिस (1970), *भारतीय शासन एवं राजनीति*, दिल्ली, सुरजीत पब्लिकेशंस, पृ0 97–98।
22. गिल, के0पी0एस0 (1997), *द नाइट ऑफ फाल्सहुड*, नई दिल्ली, पृ0 35 ।
23. नायर, बलदेव राज (1966), *सिख सेपरेटिज्म इन पंजाब, इन साउथ एशियन पालिटिक्स एण्ड रिलिजन*, डोनाल्ड इ0स्मिथ द्वारा संपादित, प्रिंसटन, पृ0 168 ।

अधिक भावनात्मक और विभाजनकारी साबित हुआ। 1955 में राज्य पुनर्गठन आयोग ने इस माग को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि हिन्दी और पंजाबी के बीच बहुत अन्तर नहीं है और पंजाब के लोगों के अन्दर इस परिवर्तन की आवश्यकता पर सहमति की न्यूनतम मात्रा मौजूद नहीं है। काफी जोर जबरदस्ती के बाद 1956 मे अकाली दल और भारत सरकार के बीच एक समझौता हुआ जिसके तहत पंजाब और पेप्सू का विलय हो गया।

1957 के चुनाव में सिक्खों के प्रमुख नेता कांग्रेस को समर्थन देने के लिये सहमत थे, परन्तु बिल्कुल ऐन वक्त पर मास्टर तारा सिंह ने फैसले को उलटने की कोशिश की। इसके फलस्वरूप पंजाब राज्य की भाषा नीति के बारे में एक ऐसा फार्मूला स्वीकार किया गया, जो दोनो पक्षों को स्वीकार था।[24] लेकिन जल्दी ही असंतोष और अविश्वास उभरकर सामने आने लगा। एक नया आन्दोलन शुरू हो गया और बड़े पैमाने पर लोग गिरफ्तार किये गये। अपनी मांग को खुल्लम खुल्ला साम्प्रदायिक चरित्र देते हुये अकाली दल ने आरोप लगाया कि इस मांग को स्वीकार न करना सिक्खों के खिलाफ भेदभाव की कार्यवाई है। इन्होंने यह तर्क दिया कि सिक्खों को अपने एक प्रदेश की आवश्यकता है, जहाँ वे एक धर्म तथा राजनीतिक समुदाय के रूप में जनसंख्या के बहुमत के आधार पर वर्चस्व बना सकें। 1961 में आन्दोलन के अन्तिम दौर में अपने पक्के समर्थकों के दबाव में आकर तारा सिंह ने पंजाबी सूबे की माग पूरी कराने के लिये आमरण अनशन व्रत रखा, लेकिन उस समय केन्द्र सरकार ने इस मांग को रद्द कर दिया।[25]

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य एक तथ्य है कि हरिजन सिक्ख, जिन्हें मजहबी सिक्ख के नाम से जाना जाता है और जो अधिकतर भूमिहीन, खेतिहर मजदूर थे, उन्होंने भी पंजाबी सूबे की मांग का विरोध किया, क्योंकि वे इस बात से भयभीत थे कि नये राज्य में उनके वर्गीय विरोधी, उन धनी किसानों का वर्चस्व स्थापित हो जायेगा, जो जाट सिक्खों के रूप में अकाली दल के मुख्य समर्थक थे।

नेहरू पंजाबी सूबे की मांग को मुख्यतः इसके साम्प्रदायिक आधार के कारण मानने से इंकार कर रहे थे।[26] वह यह महसूस करते थे कि इस साम्प्रदायिक मांग को मानने से राजसत्ता और समाज के धर्मनिरपेक्ष ताने–बाने को खतरा हो जायेगा। प्रदेश के अन्दर भी इस मांग पर कोई व्यापक सहमति मौजूद नहीं थी। हिन्दुओं के एक बड़े हिस्से के अलावा कांग्रेस के दो कद्दावर सिक्ख नेताओं प्रताप सिंह कैरो और दरबारा सिंह इस मांग के भीषण रूप से खिलाफ थे।

इस मांग को 1965 में फिर उठाया गया और संत फतेह सिंह ने यह धमकी दी कि उनकी मांग को 15 दिन के भीतर स्वीकार नहीं किया गया तो वे अपने आपको जिन्दा जला देगे और तब ही पाकिस्तान के साथ 1965 का युद्ध भी आरम्भ हो गया। इन परिस्थितियों से विवश होकर भारत

---

24 जौन्स, डब्ल्यू0एच0मौरिस (1970), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 98 ।

25 सरकार ने वायदा किया कि सिक्खों की शिकायतों की जॉच करने के लिये एक आयोग बैठाया जायेगा। इस वायदे पर तारासिंह ने अपना अनशन तोड़ दिया, जिसके कारण उनकी प्रतिष्ठा को बहुत धक्का लगा, अखबारों में ऐसे फोटो छापे गये, जिनमें उन्हें मरने के डर से अपना अनशन तोड़ने के प्रायश्चित के रूप में जूते साफ करते दिखाया गया।– तदैव, पृ0 98 ।

26. हालाकि नेहरू को इस मांग को मान लेना चाहिये था कि क्योंकि यह अंतर्निहित रूप से एक उचित मांग थी और विशेष रूप से इसलिये भी कि इसे धर्मनिरपेक्ष आधार पर सी.पी.आई., पी.एस.पी. तथा बड़ी संख्या में बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त था। साथ ही साथ इसलिये भी कि 1960 तक शेष भारत का भाषाई आधार पर पुनर्गठन किया जा रहा था।

सरकार ने संत फतेहसिंह से यह अपील की कि वह राष्ट्रीय हितों को ध्यान मे रखते हुये मरणव्रत न रखें। सरकार ने संत फतेहसिंह को यह विश्वास दिलाया कि वह उनकी मांग पर पुनः विचार करेगी। जब पाकिस्तान के साथ युद्ध समाप्त हो गया तो सरकार ने ससदीय समिति की सिफारिश पर पंजाब का पुनर्गठन करके पंजाब और हरियाणा राज्य बना दिया तथा चण्डीगढ़ को पंजाब के साथ सम्मिलित न करके केन्द्र शासित प्रदेश बना दिया गया।[27]

अकाली राजनीति और उग्रवाद

पंजाबी सूबे के निर्माण के साथ ही अकाली दल ने जितनी भी ठोस, महत्वपूर्ण मांगे उठायी थी और कई वर्षों से जिनके लिये आन्दोलन किया था, उन्हें स्वीकार और लागू कर दिया गया। कोई वास्तविक और अर्थपूर्ण मांग अब नहीं बची थी, जो इसके समर्थकों को लम्बे समय तक उत्साहित करती रहे और उन्हें इस प्रकार दीर्घकालीन रूप से बनाये रखे। अतः इसके सामने यह समस्या खडी हो गयी कि वह अब राजनीतिक रूप से कहाँ जाय। साम्प्रदायिक राजनीति छोडने और एक पूर्णतया धार्मिक और सामाजिक संगठन बनने अथवा सभी पंजाबियों को आकर्षित करने वाली धर्मनिरपेक्ष पार्टी के रूप में बदलाव को अकाली नेताओं द्वारा राजनीतिक आत्महत्या के रूप में देखा गया। इस प्रकार अकाली साम्प्रदायिकता अनिवार्य रूप से अलगाववाद की तरफ बढ़ने लगी, जैसा कि 1937 के बाद मुस्लिम लीग के मामले में हुआ था। इसलिये सिक्खों के बीच अपने समर्थन आधार को व्यापक बनाने के लिये अकालियों ने अपनी राजनीति के साम्प्रदायिक सारतत्व को बढ़ाना तथा अपनी मांगों को लगातार ऊँचा करते जाना शुरू कर दिया था। यह इस बात से भी स्पष्ट हो गया जब अकाली दल की कार्यकारिणी समिति द्वारा सरदार कपूर सिंह के नेतृत्व में अकालियों की मुख्य मांगों के सुसंजित निर्माण के लिये गठित उपसमिति की संस्तुतियों को 'आनन्दपुर साहब प्रस्ताव' के रूप में 17 अक्टूबर 1973 को स्वीकार कर लिया गया।[28] इस संकल्प में चण्डीगढ़ के अतिरिक्त हरियाणा, राजस्थान,

27. पजाबी सूबे की मांग की स्वीकृति एक सही कदम था, किन्तु इसे पंजाब समस्या के समाधान के रूप मे नहीं देखा जाना चाहिये था। इस समस्या की मूल जड़ साम्प्रदायिकता थी और जब तक इस समस्या का उन्मूलन नहीं किया जाता, वह वैसे ही बनी रहेगी, हालांकि यह हर बार नये-नये रूप लेकर सामने आ सकती है।
28. निर्विरोध रूप से स्वीकृत आनन्दपुर साहब प्रस्ताव की मुख्य बातें इस प्रकार है–
सामान्य उद्देश्य – (i) सिक्ख जीवन शैली का प्रचार एवं प्रसार करना ; (ii) ऐसे वातावरण का सृजन करना जिसमें सिक्खों की संतोषजनक राष्ट्रीय अभिव्यक्ति हो सके, तथा (iii) निरक्षरता, छुआछूत तथा सामाजिक असमानताओं को दूर करना ।
धार्मिक उद्देश्य– (i) एक नये अखिल भारतीय गुरूद्वारा कानून की स्थापना करना ; (ii) विश्व के समस्त गुरूद्वारों को एक संगठन में समाहित करना, तथा (iii) श्री ननकाना साहिब सहित अन्य पवित्र सिक्ख स्थलों में खुला प्रवेश तथा नियन्त्रण प्राप्त करना ।
राजनीतिक उद्देश्य– (i) खालसा की प्रभुता के उद्देश्य को प्राप्त करना ; (ii) जिन क्षेत्रों को जान-बूझकर पजाब के बाहर रखा गया है उन्हें पंजाब में सम्मिलित किया जाना चाहिये ताकि सिक्ख हितों की रक्षा की जा सके। इस प्रकार के कुछ प्रमुख क्षेत्र है– डलहौजी, चण्डीगढ़, पिन्जौर, कालका, अंबाला, नलगढ़ क्षेत्र, शाहबाद सिरसा, हिसार आदि , (iii) केन्द्र का अधिकार क्षेत्र मात्र प्रतिरक्षा, पर राष्ट्र सम्बन्ध, संचार रेल व्यवस्था तथा मुद्रा जैसे विषयों तक सीमित रहना चाहियें। अन्य सभी शक्तियाँ राज्य सरकार को हस्तान्तरित कर दी जानी चाहिये। संघीय वित्त में राज्य सरकार का योगदान लोकसभा में इसके सदस्यों के अनुपात में होना चाहिये, (iv) भारत का संविधान वास्तविक रूप से संघीय होना चाहिये तथा संसद में प्रत्येक राज्य को समान प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये , (v) अकाली दल भारत सरकार की वर्तमान वैदेशिक नीति को दोषपूर्ण मानता है ; (vi) सिक्ख तथा केन्द्र एवं राज्य सरकारों के अन्य कर्मचारियो को इस दिशा में प्रयास करना ; (vii) दल सिक्खों के परम्परागत स्थान को कायम रखने के लिये कार्य करना, तथा (viii) सभी स्त्रियों तथा पुरूषों को, जो नैतिक अपराध के लिये दण्डित न किये गये हों, छोटे हथियार रखने की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये।

हिमाचल प्रदेशों के सिक्ख आबादी वाले क्षेत्रों को पंजाब में मिलाने की मांग की गई थी। इसमें केन्द्र की भूमिका को रक्षा, विदेश नीति, डाक व दूरसंचार, मुद्रा व नोट और रेलवे तक सीमित रखते हुये केन्द्र राज्य सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन की मांग भी की गई थी। नवम्बर 1982 में जारी किये गये संकल्प में ऐसी प्रशासनिक इकाई बनाने पर जोर दिया गया जहां सिक्ख और सिक्ख धर्म के हितों को विशेष संरक्षण मिल सके। क्योंकि उनका मुख्य दृष्टिकोण यह था कि चूंकि पंजाब एक सिक्ख राज्य है और अकाली दल चूंकि एक 'सिक्ख' पार्टी हैं, इसलिये वह देश के राजनीतिक तौर–तरीकों और ढ़ाँचों अथवा अन्य पड़ोसी राज्यों के हितों अथवा अन्तर्राज्यीय विवादों के समाधान के लिये जनवादी और संघीय मशीनरी के दायरे से बिल्कुल ऊपर है।[29]

अकाली दल ने अपना आन्दोलन जारी रखने और सिक्खों को राजनीतिक उद्देश्य से भडकाने के लिये जनवरी 1984 में एक नई मांग जोड़ दी– यह मांग थी कि संविधान के अनुच्छेद 25(2) (ख) को रद्द किया जाय जिसके तहत मजहबी सिक्खों को अनेक सुविधायें प्राप्त है।[30] भारत सरकार ने अकालियों को बहुत समझाया कि उनकी इस मांग से सिक्खों के हितो को हानि पहुंचेगी। स्वयं तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने संत हरचन्द्र सिंह लौगोंवाल को इस हेतु पॉच बार फोन किया परन्तु अकाली दल ने एक न सुनी और सरकार के कड़े प्रबन्ध के बावजूद गुरूद्वारा रकाबगंज नई दिल्ली और पंजाब के अन्य नगरों के गुरूद्वारों में संविधान के इस अनुच्छेद की कापियां जलाई गई।[31] क्योंकि अकाली दल का एक मात्र उद्देश्य राजनीतिक लाभ और सत्ता हथियाने के लिये हिन्दुओं और सिक्खों में दरार डालना था। सन्त भिंडरावाले ने तो यहां तक कहना शुरू कर दिया कि सिक्ख हिन्दू नहीं हैं।[32]

पंजाब में आतंकवाद

अकाली उग्रवाद के समानांतर में आतंकवाद ने 1981 में पंजाब में अपनी उपस्थिति दर्ज की, जो आंशिक रूप से 1947 से चली आ रही साम्प्रदायिक राजनीति का परिणाम और कांग्रेस के नेतृत्व के द्वारा विशेषतः 1970 के दशक के काल से साम्प्रदायिक तत्वों को खुश करने की नीति का परिणाम

---

29 चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 437 ।

30 इस अनुच्छेद के अनुसार सिक्खों को हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय ही माना गया है और अकाली दल के सबसे प्रसिद्ध नेता स्वर्गीय मास्टर तारा सिंह के अनुरोध पर सरदार पटेल ने संविधान में डाला था क्योंकि हिन्दु अनुसूचित जातियों को संविधान मे नौकरियों और संसद तथा विधान मण्डलों में स्थानों का आरक्षण प्रदान किया गया था। परन्तु मजहबी सिक्खों को ऐसा कोई संरक्षण प्रदान नहीं किया गया था। सरदार पटेल ने कहा कि सिक्ख सम्प्रदाय छुआछूत को नही मानता है, अतः इस धारा की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु जब मास्टर तारा सिंह ने कहा यह सिक्खों की सर्वसम्मत मांग है, तो सरदार पटेल को उनकी बात माननी पडी और उन्होने संविधान सभा से इस बात को मनवा लिया– अग्रवाल आर0सी0 (2000), "भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन", नई दिल्ली, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, पृ0 369 ।

31 तदैव।

32 हालाकि गुरू गोविन्द सिंह के पूज्य पिता गुरू तेग बहादुर एवं उनके (गुरू गोविन्द सिंह) बच्चों ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये अपना बलिदान दिया था उन्होंने स्वयं भी खालसा पंथ की स्थापना इस हेतु की थी जो उनकी वाणी से स्पष्ट होता है।

"सफल जगत में, खालसा पंथ गाजे । जागे धर्म हिन्दू, सफल भन्ड भाजें ।।"

अर्थात् सारे संसार में खालसा पंथ की गूंज हो या यह चमके, हिन्दू धर्म जाग जाये और सारा पाखण्ड भाग जायें।

थी। आतंकवाद की शुरूआत करने वाले संत जनरैल सिंह भिडंरावाले थे, जो 1970 के दशक के अन्तिम दिनों में सिक्ख कट्टरवाद के एक शक्तिशाली अभियानकर्ता के रूप में उभरे थे। अपने इस अभियान में उन्हें ज्ञानी जैल सिंह के नेतृत्व में पंजाब कांग्रेस का मौन समर्थन प्राप्त था। जो यह आशा करते थे कि अकालियों की जड काटने के लिये भिंडरावाले का इस्तेमाल किया जा सकता है। परन्तु भिंडरावाले शीघ्र ही एक ऐसा भस्मासुर साबित हुये जो अपने संरक्षकों के खिलाफ ही मुड़ गये।[33]

भिंडरावाले तथा अमरीक सिंह के नेतृत्व में आल इण्डिया सिक्ख स्टूडेन्ट फेड़रेशन द्वारा आतंकवादी अभियान 24 अप्रैल 1980 को निरंकारी समुदाय के प्रमुख की राजनीतिक हत्या के साथ शुरू हुआ। इसके बाद अनेक निरंकारियों, विक्षुब्ध अधिकारियों और कांग्रेस कार्यकर्ताओं की हत्यायें हुयी। सितम्बर 1981 में लाला जगत नारायण की हत्या कर दी गयी, जो एक लोकप्रिय अखबार के संपादक और भिंडरावाले के प्रमुख आलोचक थे। ज्ञानी जैल सिंह ने भिंडरावाले को सरकारी कार्रवाइयों से बचाया जो 1980 में केन्द्र सरकार में गृहमंत्री हो गये थे। अपने को सुरक्षित करने के लिये भिंडरावाले जुलाई 1982 में स्वर्ण मन्दिर अहाते के अन्दर स्थित एक भवन गुरू नानक निवास में चले लगे और वहाँ से पंजाब में आतंकवादी अभियान का निर्देशन करने लगे। अब वह पंजाब की राजनीति में केन्द्रीय व्यक्तित्व के रूप में उभरे।[34]

सितंबर 1983 तक आतंकवादी हत्यायें निरंकारियो, छोटे सरकारी अधिकारियों और उन सिक्खों तक सीमित थी, जो भिंडरावाले के साथ मतभेद रखते थे। परन्तु इस आतंकवादी गतिविधि को एक नया आयाम तब मिला, जब सितंबर 1983 से उन्होंने बढ़ते हुये पैमाने पर हिन्दुओं को अपना निशाना बनाना शुरू किया और हिन्दुओं की बेपनाह हत्यायें होने लगीं। भिंडरावाले ने स्थानीय बैंकों, जेवरों की दुकानों, होमगार्डो के शस्त्रागार आदि की लूट को भी संगठित किया और साथ–साथ निरंकारियों तथा सरकारी अधिकारियों की हत्यायें और कभी–कभार बम विस्फोट भी किये जाते रहे।[35] 29 दिसम्बर 1981 को इण्डियन एयरलाइन्स के किये गये विमान अपहरण के बाद अप्रैल 1983 में एक सिक्ख पुलिस उप महानिदेशक ए0एस0 अटवाल की स्वर्ण मन्दिर से प्रार्थना कर बाहर आते समय हत्या कर दी गयी। यहाँ से एक स्पष्ट परिवर्तन आया और आतंकवादी कार्रवाइयां लगातार बढ़ने लगी और साथ–साथ सिक्खों और हिन्दुओं के बीच साम्प्रदायिक भावनायें उबलने लगी।[36] हिन्दुओं की हत्या के अतरिक्त जिन सिक्खों ने अकाली दल की नीति के विरूद्ध आवाज उठायी उनकी भी हत्या कर दी गई। उदाहरण स्वरूप दिल्ली सिक्ख गुरूद्वारा कमेटी के अध्यक्ष श्री एम0एस0 मनचन्दा की 28 मार्च 1984 को[37] तथा अकाल तख्त के भूतपूर्व प्रमुख ज्ञानी प्रताप सिंह की 10 मई, 1984 को[38] हत्या कर दी गई।

---

33. चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), पूर्व उद्धत कृति,, पृ0 437 ।
34. तदैव ।
35. 4 अगस्त 1982 से जब अकाली मोर्चा शुरू हुआ था और 2 जून 1984 तक 1200 से अधिक हिंसक घटनायें हुयी। जिनमें 410 व्यक्ति मारे गये और 1180 से अधिक घायल हुए। इस दौरान 24 बैंकों को लूटा गया एवं 15 अप्रैल 1984 को पंजाब में भिंडरावाले के अकाली आतंकवादियों ने 31 रेलवे स्टेशनों को जला दिया।–अग्रवाल, आर0सी0 (2000), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 370 ।
36 चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 437–38 ।
37. स्टेट्समैन, 29 मार्च, 1984 ।
38. स्टेट्समैन, 11 मई, 1984 ।

पृथक स्वतन्त्र सिक्ख राज्य 'खालिस्तान' की स्थापना का प्रयास और विदेशों से सहायता

खालिस्तान की स्थापना के लिये जहॉ भिण्डरावाले भारत में प्रयत्नशील थे और इस हेतु पाकिस्तान से निरन्तर गुप्त रूप से सहायता प्राप्त कर रहे थे वहीं विदेशों में– नेशनल कौसिंल ऑफ खालिस्तान, दल खालसा, बब्बर खालसा और अखण्ड कीर्तिनी जत्था जैसे पृथकतावादी संगठन खालिस्तान की स्थापना हेतु क्रियाशील थे।

1977 में अनिवासी सिक्ख एवं नेशनल कौंसिल ऑफ खालिस्तान के स्वयंभू नेता डॉ0 जगजीत सिंह चौहान ने यूनाइटेड किंगडम में सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से भारत से पृथक स्वतन्त्र खालिस्तान राज्य की मांग की थी– जिसका पृथक झण्डा, संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता सहित पृथक अन्तर्राष्ट्रीय पहचान हो।[39] इस हेतु इसके नेताओं द्वारा अमेरिका[40], कनाड़ा[41], पाकिस्तान[42], एवं कश्मीर[43] में सम्मेलन आयोजित किये गये। वे विदेशों में भारत विरोधी भावनायें भड़काने, प्रदर्शन आयोजित करने, भारतीय राष्ट्रीय ध्वज को जलाने और भड़काने वाले वक्तव्य देने का काम करते रहे। यहॉ तक कि 1980–81 में आनन्दपुर और 1983 में स्वर्ण मन्दिर में खालिस्तान के नारों के साथ एक ध्वज फहराया गया जिसे उन्होंने खालिस्तान का झण्डा बतलाया।[44] डॉ0 चौहान मुख्य रूप से अमेरिका में नेताओ के साथ खालिस्तान की लाबी बनाते रहे हैं। उन्होंने खालिस्तानी पासपोर्ट, डाक टिकटें और करेंसी नोट जारी करने जैसे देश विरोधी हथकण्डे अपनायें।

भिण्डरावाले ने अब भारतीय राजसत्ता के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष तथा अलगाव का नारा भी दिया एवं सिक्खों की सम्प्रभुता एवं भिन्नता पर जोर दिया। भिण्डरावाले ने गन एवं मोर्टार के साथ सीधी कार्रवाई के द्वारा और अकाली पार्टी द्वारा स्वयंसेवकों के आत्मघाती दस्तों की सहायता से खालिस्तान के लिये ''धर्मयुद्ध'' के नाम से शक्ति प्राप्त की गई[45], जिसका उद्देश्य खालिस्तान योजना के साथ 'आनन्दपुर प्रस्ताव' की स्वीकृत और इस प्रकार अलग राष्ट्र के रूप में सिक्खों की स्वतन्त्रता के लिये लड़ना था।[46] भिण्डरावाले ने जुलाई 1984 में घोषित किया कि ''सिक्ख एक अलग राष्ट्र है'' और प्रत्येक सिक्ख को ''एक अलग राष्ट्र के रूप में अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़ना चाहियें।'' एवं यह कि ''स्वतन्त्रता किसी भी कीमत पर प्राप्त की जानी चाहियें'' और कि इस 'युद्ध' के लिये प्रत्येक सिक्ख को गन और मोटर साइकिल से लैस होना चाहियें।[47]

दिसम्बर 1983 में गिरफ्तारी के डर से भिण्डरावाले स्वर्ण मन्दिर के अन्दर स्वर्ग की तरह सुरक्षित अकाल तख्त के अन्दर चले गये और उसे अपना मुख्यालय, शस्त्रागार तथा अपने

---

39. Cf. Akbar, (1984), "India : The Siege within ; white paper on Punjab Agitation", Para 5, 13, 38 ff.
40. आनन्द बजार पत्रिका, दिनांक 30.07.1984
41. स्टेट्समैन, दिनांक 24.08.1984
42. स्टेट्समैन, दिनांक 13.08.1984, 30.08.1984, 18.09.84, 22.09.1984, 27.09.1984, 08.10.1984, 09.10.1984, 27.10.1984 ; टेलीग्राफ दिनांक 06.09.1984, 03.10.1984 ।
43. स्टेट्समैन, दिनांक 24.08.1984 ।
44. पंजाब विद्रोह पर श्वेतपत्र, पृ0 37, 110 ; स्टेट्समैन दिनांक 03.09.1984, 04.10.1984 ।
45. पंजाब विद्रोह पर श्वेतपत्र, पैरा 9 एण्ड 13 ।
46. पंजाब विद्रोह पर श्वेतपत्र, पैरा 47 एण्ड 56 ।
47. स्टेट्समैन, दिनांक 11.07.1984, 13.07.1984, 23.07.1984 ।

आतंकवादी अनुयायियों के लिये शरणस्थली बना लिया। उन्होंने बडे पैमाने पर स्वर्ण मन्दिर के अन्दर हल्के मशीनगन तथा अन्य अत्याधुनिक हथियार चोरी–छुपे जमा किये तथा मन्दिर के अहाते में स्टेनगन, हथगोले एवं अन्य हथियारों को बनाने का कारखाना भी स्थापित कर लिया।[48] उन्होंने अकालतख्त एवं अन्य भवनों के अन्दर उसके चारो तरफ कंकरीट का किलानुमा ढाँचा तैयार किया, जहाँ वे अपने नये रंगरूटों को हथियारों का प्रशिक्षण देते थे और मौत के दस्तों को हत्याओं, लूटों और बमबारी का अभियान चलाने के लिये वे बाहर भेजते थे।[49]

भिण्डरावाले के नेतृत्व में खालिस्तानी, उग्रवादियों, आतंकवादियों– चाहे जिस नाम से उन्हें पुकारा जाय– को यह आशा थी कि धीरे–धीरे वे आतंकवाद को एक आम विद्रोह तथा हथियारबंद बगावत में बदल देंगे। वे पंजाब के लोगों पर राजनीतिक और विचारधारात्मक वर्चस्वता के लिये लड़ाई लड रहे थे। उनकी सभी गतिविधियाँ यह साबित करने के लिये बनाई गई थी कि भारतीय राजसत्ता पंजाब पर शासन करने की स्थिति में नहीं है और इसीलिये भारत से अलगाव,एक प्राप्त किया जाने लायक लक्ष्य है। अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उन्होंने हिन्दुओं और सिक्खों के बीच कोई फर्क नहीं किया। 1981 से 3 जून 1984 के बीच मारे गये लोगों में करीब 55 प्रतिशत सिक्ख थे।[50]

जून 1984 तक आतंकवादी गतिविधियाँ इतनी बढ गई थी कि स्थिति विस्फोटक बिन्दु तक पहुंच चुकी थी। पंजाब और पूरे देश मे राष्ट्र की एकता और शांति के प्रति खतरे की गहरी भावना फैल गई थी। पंजाब के हिन्दुओं में डर और आतंक फैल रहा था और बढती हुयी संख्या में वे राज्य छोडकर जाने लगे थे। ज्यादा से ज्यादा गुरूद्वारों की किलेबन्दी हो रही थी और उन्हें शस्त्रागारों में बदला जा रहा था। स्पष्टतया पंजाब में बगावत की स्थिति तैयार हो रही थी। साथ ही, सरकार अपनी प्रतिष्ठा और साख खोती जा रही थी।

इस परिस्थिति की एक सबसे चिन्ताजनक विशेषता यह थी कि पंजाब में हिन्दुओं और सिक्खों के बीच दरार बढ रही थी और शेष भारत विशेषतः उत्तर भारत में हिन्दू साम्प्रदायिकता का तेजी से प्रसार हो रहा था। हरियाणा से उस समय एक चेतावनी प्राप्त हुयी जब फरवरी में वहाँ सिक्ख दंगे भड़क उठे।

मई के अन्त तक यह बिल्कुल साफ हो गया कि आतंकवादियों के खिलाफ निर्णायक कार्रवाई को अब और नहीं टाला जा सकता तथा स्वर्ण मन्दिर एवं अन्य गुरूद्वारों में छिपे बैठे आतंकवादियों को निर्णायक बल प्रयोग द्वारा निकालना आवश्यक हो गया है। अतः भारत सरकार ने सैनिक कार्रवाई, जिसका छद्म नाम 'आपरेशन ब्लू स्टार' था, करने का निर्णय लिया।[51]

हालांकि अपने कई नकारात्मक परिणामों के बावजूद आपरेशन ब्लू स्टार में कुछ सकारात्मक विशेषतायें थी। इसने यह साबित कर दिया कि भारतीय राजसत्ता अलगाववाद और आतंकवाद से

48. नवभारत टाइम्स, दिनांक 11 जुलाई 1984, पृ0 5 कालम–7 ।
49. चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 438 ।
50. तदैव, पृ0 439 ।
51 आपरेशन ब्लू स्टार ने पूरे देश में सिक्खो के बीच असतोष और नाराजगी की गहरी भावना पैदा की। उनमें से ज्यादातर लोगों ने इसे धर्म विरोधी तथा अपने समुदाय के खिलाफ एक अपमान के रूप में लिया न कि भिण्डरावाले और आतंकवादियों से निबटने के लिये एक अरूचिकर परन्तु आवश्यक कदम के रूप में देखा।

निबटने के लिये पर्याप्त शक्तिशाली है : इसने करिश्माई भिण्डरावाले और उसके गिरोह का अन्त कर दिया और इसने एक न्यूनतम कानून और व्यवस्था की स्थिति पैदा की जिसने कांग्रेस, पी0पी0एन0 और सी0पी0आई0 जैसी धर्न निरपेक्ष पार्टियों को क्रुद्ध जनता के बीच जाने और साम्प्रदायिकता का विरोध करने के लायक बनाया और उन्हें बताया कि पंजाब की मौजूदा के लिये भिण्डरावाले, आतंकवादी और अकाली सम्प्रदायवादी ही मुख्य रूप से जिम्मेदार है।

आतंकवाद और अकाली

आतंकवादियों की तरफ अकाली नेतृत्व का रवैया दोमुंहा था। एक तरफ तो वे उनके साथ शामिल नहीं थे, वही दूसरी तरफ जरूरत पड़ने पर उन्हे अपना समर्थन भी प्रदान करते थे। नरमपंथी अकाली नेता भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आतंकवादी कार्य के आरोपियो का बचाव ही करते थे। उन्होंने आतंकवादियों के खिलाफ पुलिस द्वारा लिये गये ठोस कदमो की सदैव आलोचना की। वे सरकार द्वारा भिण्डरावाले के खिलाफ की जाने वाली किसी भी सरकारी कार्रवाई का विरोध करते थे। मिसाल के लिये 1981 में लोगोंवाल ने कहा था, 'सम्पूर्ण सिक्ख समुदाय भिण्डरावाले का समर्थन करता है'।[52] उन्होंने गुरूद्वारों और स्वर्ण मन्दिर पर आतंकवादियों द्वारा कब्जा किये जाने और अपवित्र किये जाने के खिलाफ कोई कदम नहीं उठाया। वस्तुत: यह महसूस करते हुये कि सिक्ख जनता पर उनके नेतृत्व के लिये खतरा है, वे भिण्डरावाले के साथ सम्बन्ध बनाए रखने की कोशिश कर रहे थे और जैसे-जैसे वे भिण्डरावाले के हाथों अपनी जमीन खो रहे थे, वैसे-वैसे वे अधिक से अधिक अतिवादी दृष्टिकोण अपनाते हुये अपनी मांगों और आक्रामक राजनीतिक और विचारधारात्मक रवैय्ये के साथ भिण्डरावाले से प्रतियोगिता करने लगे। उदाहरणतया, संत लोगोंवाल ने उन सैकडों सेना के भगोड़े सिक्खों की पुनर्नियुक्ति की मांग की जो सैन्य विद्रोह के बतौर परीक्षण हेतु भाग गये थे[53] या अपने कैम्प से पलायन कर गये थे।[54] यह भी कम गम्भीर बात नहीं है कि उन्होंने सिक्खों के कृपाण रखने के अधिकार को आधुनिक आग्नेयास्त्र रखने के अधिकार में तब्दील करने एवं स्वर्ण मन्दिर से सैन्य कार्यवाही के दौरान जब्त किये गये आग्नेयास्त्रों को वापस करने की मांग की।[55]

वास्तव में जब अकाली नेताओं ने जोर दिया कि वे आनन्दपुर प्रस्ताव स्वीकृत करने के लिये सरकार को विवश करने हेतु सभी साधनों का आश्रय लेगें तो इसमें संत भिण्डरावाले के शब्दों की केवल प्रतिध्वनि ही गूंजती है।[56]

आनन्दपुर साहब प्रस्ताव के परिप्रेक्ष्य में पंजाब का राजनैतिक इतिहास

जहाँ तक आनन्दपुर साहब प्रस्ताव के परिप्रेक्ष्य में पजाब के राजनैतिक इतिहास का प्रश्न है तो पंजाब वैदिक समय से भारत का एक भाग और वैदिक सभ्यता का मूल केन्द्र स्थल था जो पाँच नदियों की भूमि ब्रह्मवर्त के रूप में जाना गया।[57] 15 वीं शताब्दी में सिक्ख सम्प्रदाय के उदय के

52. गिल, के0पी0एस0 (1997), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 35 ।
53. स्टेट्समैन, दिनाक 08.09.1984, 30.09.1984 ।
54. आनन्द बाजार पत्रिका, दिनांक 13.03.1985 , स्टेट्समैन दिनाक 31.12.1984 ।
55. बसु, डी0डी0, (1985), "कान्सटीट्यूनल आसपेक्ट्स आफ सिक्स सेपराटिज्म", नई दिल्ली, प्रेन्टिस इण्डिया प्रा0लि0, पृ0 17 ; स्टेट्समैन, दिनांक 19.01.1985 ।
56. तदैव, पृ0 15 ।
57. मनुस्मृति ।

बाद इसके गुरूओं ने मुगल और उसके बाद अंग्रेज क्रुरताओं के विरूद्ध लड़ाई लडी। पंजाब राज्य 1799 में रंजीत सिंह द्वारा स्थापित किया गया था, जो 1849 में ब्रिटिश इण्डिया से जोडा गया और भारत की स्वतन्त्रता तक भारत सरकार के अधिकारी चीफ कमिश्नर के प्रशासन के अधीन क्षेत्र था।[59] सिक्ख सम्प्रदाय के उदय के बाद भी पंजाब प्रान्त में एक वास्तविक हिन्दू जनसंख्या सम्मिलित थी जिसमे वे लोग भी शामिल थे जो पंजाबी या गुरूमुखी भाषा नही बोलते थे। वर्तमान पंजाब राज्य 1966 के पंजाब पुनर्गठन अधिनियम के अधीन एक पुनर्गठित राज्य है, जिसे संविधान के अन्तर्गत सभी राज्यों के पुनर्गठित भाषा विज्ञान के आधार पर स्थापित किया गया और हरियाणा राज्य के लिये हिन्दी बोले जाने वाले क्षेत्रों को अलग किया गया।

इस प्रकार पंजाब के संदर्भ में कोई इतना वास्तविक या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दा नहीं है जितना कि एक मुस्लिम बहुल क्षेत्र को स्थापित करने के तर्क पर पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर आक्रमण के द्वारा उठाया गया था ; और इस प्रकार जम्मू और कश्मीर के सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 370 की समानता पंजाब के संदर्भ में संगठन की शक्तियों के अधीन करने के पक्ष में नहीं की जा सकती।

फिर भी यह कल्पना करना गहरी भूल होगी कि कश्मीर के रूप में पंजाब के स्वराज की मांग इतनी अधिक निरीह (अहानिकारक) है[59] जितनी कि संविधान के उन प्रान्तों की जिन्हें 1949 के मूल संविधान में जोडा गया ताकि विशिष्ट राज्यों की कुछ विशेष रूचियां वास्तविक रूप से अनुच्छेद 371, 371ए, 371बी, 371सी, 371डी, 371एफ द्वारा सुरक्षित रहे। वास्तव में कुछ विशेष प्रावधान केवल सिक्खों के लिये बनाये जा सकते हैं ; यदि वे भारतीय संविधान से अस्तित्व में आये संघीय संरचना को नष्ट करने और अलग राष्ट्रीयता के लिये अपनी शिकायतें त्याग दें जो अनुच्छेद 248 व 248 के साथ पढ़ी गयी अनुसूची VII की सहमति और संगठन के ऊपर संगठित अधिकार क्षेत्र देता है।

बाद में संत लोगोंवाल ने अपने मुक्त होने के पश्चात् घोषित किया[60] कि उनके और भिण्डरावाले के मध्य कभी कोई भिन्नता नहीं थी और उनका साधारण उद्देश्य "आनन्दपुर साहब प्रस्ताव की स्वीकृति पर दबाव डालना था।" यदि इसके स्थान पर उसी समय वह यह कहते[61] कि इसका उद्देश्य 'खालिस्तान' घोषित करना नहीं था, बल्कि भारतीय संविधान की रूपरेखा के अन्दर एक स्वायत्तशाषी सिक्ख राज्य के लिये लड़ाई करना था ; तो सरकारिया कमीशन के परिप्रेक्ष्य में उसका परीक्षण करना सरल हो जाता और सिक्खों की विशेष रूचियों को देखते हुये पंजाब के लिये कुछ विशेष प्रावधान (सेफगार्डस) संविधान में जोड़े जा सकते थे।

आपरेशन ब्लू स्टार और उसके बाद

आपरेशन ब्लू स्टार के बाद आतंकवादियों ने इन्दिरा गांधी और उनके परिवार के खिलाफ स्वर्ण मन्दिर को अपवित्र करने के लिये बदला लेने की कसम खाई। 31 अक्टूबर 1984 की सुबह इन्दिरा गांधी की अपने ही सुरक्षा गार्डों के दो सिक्ख सदस्यों द्वारा हत्या कर दी गई।

58. गजेटियर ऑफ इण्डिया (1973), खण्ड II पृ0 517 ।
59. स्टेट्समैन, दिनांक 19.07.1984 ।
60. स्टेट्समैन, दिनांक 20.03.1985 ।
61 स्टेट्समैन, दिनांक 07.11.1984 ।

1981–84 के दौरान उत्तर भारत के बिगडे हुये साम्प्रदायिक माहौल में एक लोकप्रिय प्रधानमंत्री की हत्या ने खौफ, डर, क्रोध और साम्प्रदायिक असंतोष की आंधी पूरे देश की जनता, विशेषतः गरीबों के बीच पैदा की। इस गुस्से ने दिल्ली तथा उत्तर भारत के अन्य हिस्सों में एक भद्दा और साम्प्रदायिक रूप ले लिया ; खासतौर पर 31 अक्टूबर की शाम से लेकर तीन दिनों तक दिल्ली की सडकों को भीड़ ने अपने कब्जे में ले लिया और सिक्खों को लूट एवं अपनी हिंसा का निशाना बनाया। दिल्ली में तीन दिनों की हिंसा के परिणामस्वरूप 2500 लोग मारे गये, जिनमें ज्यादातर सिक्ख थे एवं दिल्ली की पुर्नवास कॉलोनियां इस हत्याकाण्ड की मुख्य स्थल बनी।[62] नवम्बर के इन दंगों ने बड़ी संख्या में सिक्खों को सरकार से और दूर कर दिया।

राजीव गॉधी जिन्होंने 1 नवम्बर 1984 को प्रधानमंत्री के रूप में इन्दिरा गांधी की जगह ली, ने दिसम्बर 1984 के आम चुनाव के बाद पंजाब समस्या को निपटाने में तेजी से कदम आगे बढ़ाये। जनवरी 1985 में सभी प्रमुख गिरफ्तार नेताओं को अकाली दल के अध्यक्ष एच0एस0 लोंगोवाल सहित रिहा कर दिया गया और राजीव गांधी ने शीघ्र ही अकाली नेताओं के साथ बातचीत भी शुरू कर दी ताकि किसी समझौते से पंजाब समस्या का एक दीर्घकालीन समाधान प्राप्त किया जा सके। लेकिन इस नीति का नतीजा यह हुआ कि आपरेशन ब्लू स्टार से प्राप्त हुआ फायदा भी खो गया। आतंकवाद और साम्प्रदायिकता के खिलाफ संघर्ष का वस्तुतः परित्याग कर दिया गया और इन ताकतों को नई जिन्दगी मिल गई।

अपनी रिहाई के बाद अकाली नेता विभाजित, दिग्भ्रमित और असमंजस में पड़ गये थे। एक तरफ लोगोंवाल सहित उनमें से कइयों ने आतंकवादियों के मुकाबले अपनी स्थिति मजबूत करने के लिये उग्रवादी स्वर में भाषणबाजी का रास्ता अपनाया। दूसरी तरफ ज्यादातर अकाली नेताओं को यह स्पष्ट हो गया कि न तो कोई जन आन्दोलन पुनर्जीवित किया जा सकता है और न ही उग्रवादी राजनीति आगे चलाई जा सकती है। इसलिये लोगोंवाल ऊपर से कठोर बातें करते हुये भी गुप्त रूप से सरकार के साथ समझौता वार्ता में शरीक हुयें।

अन्ततः अगस्त 1985 में राजीव गांधी और लोंगोवाल ने पंजाब समझौते पर हस्ताक्षर किये। सरकार ने प्रमुख अकाली मांगे मान ली और यह वादा किया कि दूसरी मागों पर पुनर्विचार किया जायेगा। खासतौर पर इस बात पर सहमति हो गई कि चंडीगढ़ पंजाब को हस्तान्तरित कर दिया जाएगा और एक आयोग इस बात का निर्धारण करेगा कि कौन से हिन्दी भाषी इलाके पंजाब से हरियाणा को हस्तान्तरित किये जायेगे तथा एक स्वतन्त्र ट्रिब्यूनल द्वारा नदी जल के विवाद का निर्णय कराया जाएगा।

20 अगस्त 1984 जिस दिन लोंगोवाल ने यह घोषणा की कि अकाली चुनाव में हिस्सा लेंगे, उसी दिन आतंकवादियों द्वारा उनकी हत्या कर दी गई। किन्तु चुनाव नियत समय पर हुये। जिसमें अकालियों को पहली बार पूर्ण बहुमत मिला और सुरजीत सिंह बरनाला मुख्यमंत्री बने। इस सरकार ने बडी संख्या में उन लोगों को रिहा कर दिया, जिन पर आतंकवादी अपराधों का आरोप

62. स्टेट्समैन, दिनांक 01.11.1984, 02.11.1984, 03.11.1984, 04.11.1984 ।

था और उनमें से ज्यादातर आतंकवादी कतारों में फिर शामिल हो गये और आतंकवाद को भारी बल पहुंचाया।

अकाली सरकार ने यह पाया कि वह पंजाब के किसी भी भूभाग को चण्डीगढ़ के घाटे के लिये मुआवजे के तौर पर हरियाणा को हस्तान्तरित करने के लिये सहमत नहीं है और हरियाणा सरकार इसके बगैर चण्डीगढ़ को हस्तान्तरित करने के लिये तैयार नहीं होती। अकाली नेतृत्व नदी जल विवाद के सम्बन्ध में भी ट्रिब्यूनल के फैसले को मानने से पीछे हट रही थी, अतः पंजाब समझौते की सभी महत्वपूर्ण शर्तें एक बार फिर विवादास्पद बन गई।

बरनाला सरकार की नरम नीतियों का फायदा उठाते हुये उग्रवादी समूह फिर से इकट्ठा होने लगे। समय के साथ आतंकवादी गतिविधियों में फिर से वृद्धि हुयी तथा गुटबाजी की शिकार राज्य सरकार उन पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ हो गई। परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार ने बरनाला मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर 1987 में राष्ट्रपति शासन को लागू कर दिया। राष्ट्रपति शासन के बावजूद पंजाब में आतंकवाद बढ़ता ही चला गया और खासतौर से 1985 के बाद जैसे–जैसे यह पाकिस्तान द्वारा खुलेआम पैसा, समर्थन और यहाँ तक कि निर्देशन प्राप्त करने लगा, वैसे–वैसे उत्थान और पतन के विभिन्न दौरों से गुजरने लगा।[63] यद्यपि राजीव गांधी सरकार कई बार आतंकवादियों के ऊपर जीत हासिल करने के बिल्कुल नजदीक आ गई थी, परन्तु इसमें पूरा रास्ता तय करने के लिये दृढ़ निश्चय का अभाव था।

1987 से उन्होंने लोगों के ऊपर राजनीतिक और विचारधारात्मक वर्चस्वता बनाने के लिये सुनियोजित अभियान चलाना शुरू किया। मांस, शराब, तम्बाकू और महिलाओं द्वारा साड़ी के उपयोग पर प्रतिबन्ध, उनके द्वारा स्कूली बच्चों की पोशाकों को निर्धारित करने की कोशिश, वैवाहिक रीति–रिवाजों पर उनकी पाबन्दी, सार्वजनिक स्थानों पर उनके द्वारा खालिस्तानी झण्डों को लहराना, समानान्तर कर उगाहना, ये सभी इस तरह रेखांकित किये गये थे, ताकि लोगों को यह समझा दिया जाय कि वे ही आने वाले कल के शासक हैं। समय–समय पर अच्छा मनोभाव रखने वाले लोगों और कभी–कभी स्वयं प्रधानमंत्री द्वारा दोहराये जाने वाले समझौते की वकालतों एवं केन्द्र सरकार तथा विभिन्न आतंकवादी समूहों के बीच सशर्त या बिना शर्त बातचीत आदि सभी का परिणाम यही हुआ।[64]

बातचीत और आतंकवादियों तथा चरमपंथी सम्प्रदायवादियों के तुष्टीकरण के माध्यम से पंजाब समस्या के 'समाधान' की नीति का इसके बाद आयी वी0पी0 सिंह और चन्द्रशेखर सरकारों द्वारा 1990 और 1991 के दौरान और अधिक जोरदार तरीके से पालन किया गया। इस बीच आतंकवाद के शिकार लोगों की संख्या बढ़ती चली गई।

राजसत्ता ने अन्ततः कठोर कार्रवाई की। ऐसी एक कार्रवाई की एक भूमिका आपरेशन ब्लैक थंडर में देखने को मिली, जिसे पंजाब पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों ने मई 1988 में चलाया था और इसे स्वर्ण मन्दिर से आतंकवादियों को खींचकर बाहर निकालने में सहायता मिली थी। 1991 के

63. 1985 के बाद पंजाब में आतंकवाद और लूटपाट में वृद्धि कैसी हुयी, इसे विस्तार से जानने के लिये के0पी0एस0 गिल की पुस्तक 'पंजाब द नाइट्स ऑफ फाल्सहुड' देखें।

64. चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 446 ।

मध्य में आतंकवाद के खिलाफ एक कठोर नीति की पालन केन्द्र में नरसिंह राव सरकार द्वारा तथा फरवरी 1992 के चुनावों में बनी पंजाब की बेअंत सिंह के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार द्वारा उठाया गया। परिणामस्वरूप 1993 के अन्त तक पंजाब आतंकवाद से लगभग मुक्त हो गया। हालांकि भारी संख्या में पुलिस को इन कार्रवाइयों में अपनी जान देनी पड़ी।[65]

किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की राजनीतिक व्यवस्था के व्यवहारिक विकास को दृष्टिगोचर रखते हुये यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि हाल ही में पंजाब में खालिस्तान आन्दोलन के कर्ताधर्ता पहले वासन सिंह जफरवाल और फिर जगजीत सिंह चौहान के भारत वापस लौटने से, लम्बे अरसे के बाद शान्त हुये पंजाब में पुनः खालिस्तान आन्दोलन को बल मिलने और आतंकवादी गतिविधियों के बढ़ने की आशंका बलवती होने लगी है।[66] पंजाब के मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल काफी समय से केन्द्र सरकार पर सिक्खों की बनी काली सूची पर दोबारा विचार करने की मांग कर रहे हैं। इस पक्षघर में वे गृहमंत्री लालकृष्ण आड़वाणी से 15 बार मिल चुके हैं।[67] उन्होंने विदेशों में भाग गये सिक्ख आतंकवादियों से वापस लौटने का आग्रह किया है। इसलिये वे चाहते हैं कि केन्द्र सरकार काली सूची पर फिर से विचार करें। इससे राज्य में एक बार पुनः आतंकवाद के दिन लौटने के अंदेशे जरूर पैदा हो गये हैं। कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता क्षेत्रीयतावाद के समक्ष एक बडी आन्तरिक चुनौती है, केवल हमारे धर्म निरपेक्ष और संघीय व्यवस्था के क्रियान्वयन और स्थायित्व की दृष्टि से ही नहीं वरन् राष्ट्रीय जीवन और पहचान को निर्धारित करने वाले मौलिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी। इस अर्थ में यह विभाजनकारी प्रवृत्ति रांष्ट्र और समाज के समक्ष सबसे शक्तिशाली वास्तविक खतरा है।

(ग) भूमिपुत्र सिद्धान्त पर आधारित संरक्षणात्मक या सामाजिक–आर्थिक क्षेत्रीयतावाद

क्षेत्रीयतावाद का एक विशिष्ट और खासतौर पर भद्दा स्वरूप 1950 के दशक में 'धरती का बेटा' या 'भूमिपुत्र सिद्धान्त' के रूप में सामने आया। यह एक राज्य से दूसरे राज्य में आने वाले प्रवासी मजदूरों और अल्पसंख्यक समुदायों की हैसियत से सम्बन्धित रहा है। इस सिद्धान्त के आधार पर कई राज्यों में ऐसे आन्दोलन आयोजित किये गये है कि सरकार अपने हस्तक्षेप द्वारा 'स्थानीय' निवासियों के लिये रोजगार और नौकरियों की गारन्टी करें और बाहरी लोगों को इसमें प्रवेश करने से रोकें।

इस 'भूमिपुत्र सिद्धान्त' के दर्शन के पीछे मूल विचार यह है कि एक राज्य उस खास भाषाई समूह का है जो वहां के निवासी है अर्थात एक राज्य और उसके शहर उस राज्य के मुख्य भाषाई समूह के लोगों की अपनी अलग 'गृहभूमि' है और ये 'स्थानीय' या 'धरतीपुत्रों' की खास जमीन है। बाकी जितने भी लोग वहां रहते हैं या बस गये हैं और जिनकी मातृभाषा वहां की राजभाषा से भिन्न है, वे सभी 'बाहरी' घोषित कर दिये जाते हैं। चाहे ये बाहरी लोग काफी लम्बे समय से उस राज्य

---

65. 1988 से 1992 के दौरान ही इन कार्रवाइयों में 1550 से ज्यादा पुलिसकर्मी मारे गये।
66. दैनिक जागरण, 4 जुलाई 2001, द्विवेदी, अजित कुमार (6 जुलाई 2001) का आलेख, *"बादल खेल रहे है खतरनाक खेल"*, कानपुर, दैनिक जागरण, पृ0 8 ।
67. तदैव ।

में रह रहे हो या निकट अतीत में ही वहां आयें हो, पर उन्हें उस 'धरती का बेटा' नहीं माना जाता। यह दर्शन मूलतः शहरों में ही प्रचलित रहा है हालाकि प्रत्येक शहर इसकी चपेट में नहीं रहा है।

1952 के बाद नियोजन और आर्थिक विकास के परिणाम स्वरूप खासकर शहरों में आर्थिक अवसर बडे पैमाने पर विकसित होने लगे। परन्तु देश के विभिन्न भागों में इन आर्थिक अवसरों का विकास असमान तरीके से हुआ। इसलिये उन तक पहुंच भी असमान तरीके से हुयी। तब उन राज्यों के 'स्थानीय' लोगों और 'भूमिपुत्रों' के लिये 'बाहरी' लोगों के मुकाबले रोजगार एवं शैक्षणिक अवसरों में प्राथमिकता देने की बात उठाई जाने लगी, जहॉ ये अवसर उपलब्ध हुये थे। आर्थिक ससाधनों और अवसरों के लिये यह संघर्ष अक्सर साम्प्रदायिकता जातिवाद और भाई-भतीजावाद का रास्ता अपना लता है । साथ ही साथ, भाषा के प्रति वफादारी और क्षेत्रीयतावाद का योजनाबद्ध दुरूपयोग भी 'बाहरी' लोगों को उस राज्य या नगर के आर्थिक जीवन से बाहर करने के लिये किया जाता रहा है।

यह समस्या तब और भी गम्भीर हो जाती है जब कई शहरों और इलाकों में राज्य की बहुसंख्यक भाषा बोलने वाले लोग अल्पमत या बहुत क्षीण बहुमत मे होते हैं। उदाहरण के लिये 1961 के दौरान बंबई में मराठी भाषी मात्र 42.8 प्रतिशत थे। बंगलौर में कन्नड बोलने वाले 25 प्रतिशत से भी कम हो गये थे। कलकत्ता में बंगाली लोग किसी तरह जोडकर बहुमत बनाते थे। आसाम के शहरी क्षेत्रों में मुश्किल से 33 प्रतिशत असमी लोग रहते थे। 1951 के बाद शहरों में बसने की प्रक्रिया जोर पकड़ने लगी।

सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह है कि 'भूमि पुत्र' आन्दोलन केवल कुछ ही शहरों और राज्यो मे पैदा हुये और बाकी में नहीं ? क्यों इसका निशाना कुछ खास प्रवासियों और भाषायी समूहों को बनाया गया बाकी को नहीं ? तकनीकी और पेशेवर शिक्षा में ही क्यों, बाकी शिक्षा या कला विभाग की शिक्षा में नहीं ? यह भी याद रखना चाहियें कि प्रवासी और गैर-प्रवासियो और भाषाई अल्पसंख्यकों एव बहुसंख्यकों के बीच संघर्ष अनिवार्य और अंतर्निहित नहीं है। आमतौर पर दोनो सौहार्दपूर्ण तरीके से ज्यादातर राज्यों में रहते रहे हैं। इसलिये सिर्फ खास परिस्थितियों में ही ऐसे संघर्ष पनपते रहे हैं।

'भूमिपुत्र' आन्दोलन मुख्यतः तभी उठा है और ज्यादा आक्रामक बनकर उभरा है जब औद्योगिक एवं मध्यवर्गीय रोजगारों के लिये प्रवासी और स्थानीय शिक्षित मध्यवर्गीय नौजवानो के बीच प्रतियोगिता हुयी है या होने की सम्भावना रहती है। ये आन्दोलन मुख्यतः मध्यवर्गीयों द्वारा संचालित रहा है और उनका लक्ष्य अर्थव्यवस्था और प्रशासन में मध्यवर्गीय स्थानों पर केन्द्रित होना है। यह आन्दोलन उन राज्यों और शहरों में अधिक पैदा हुआ है और गहरा रहा है जहाँ 'बाहरी' लोगों की उच्च शिक्षा तक अधिक पहुंच रही है या सरकारी नौकरियों, पेशों, उद्योगों और छोटे व्यापारों, जैसे-लघु उद्योगों और दुकानदारी आदि में वे ज्यादा प्रखर हों। इन आन्दोलनों में सबसे सक्रिय भागीदारी आमतौर पर निम्न-मध्यवर्गीय मजदूरों और समृद्ध मध्यवर्ती किसानों का रहा है जिन्हें अपनी हैसियत पर कोई खतरा नहीं दिखता है, परन्तु जो धीरे-धीरे मध्यवर्गीय हैसियत प्राप्त करने और खुद नहीं तो अपने बच्चों को उस जगह पर पहुंचाने की तीव्र आकांक्षा रखते हैं। ये सभी सामाजिक वर्ग अपने बच्चों को उच्च शिक्षा विशेषकर तकनीकी शिक्षा-जैसे इंजीनियरिंग, मेडिकल और कॉमर्स जैसे

क्षेत्रों में पहुंचाने की मंशा रखते हैं। 1950 के दशक मे जनसंख्या में तीव्र विस्तार और हाईस्कूल एवं कॉलेज स्तरीय शिक्षा का भारी प्रसार हुआ। परन्तु उसकी तुलना में अर्थव्यवस्था रोजगार के उतने अवसर पैदा नहीं कर सकी कि सभी नवशिक्षितों को आसानी से जगह मिल जाय। नौकरियों की भारी कमी हो गयी और 1960 एवं इसके बाद के दशकों में उपलब्ध नौकरियों के लिये गहरी प्रतियोगिता हो गई।

चूंकि अभी भी अविकसित भारतीय अर्थव्यवस्था में मध्यवर्गीय नौकरियो के लिये सबसे ज्यादा अवसर नौकरियों और सार्वजनिक उपक्रमों में ही मौजूद है, इसलिये व्यापक जनादोलन तथा जनवादी राजनीतिक प्रक्रिया का उपयोग बहुसंख्यक भाषाई समूह द्वारा करवाकर सरकार पर दबाव डाला जा सकता है, ताकि रोजगार और शैक्षणिक अवसरों और सम्भावनाओं को हथियाया जा सके। इसलिये कुछ समूह 'भूमिपुत्र' की भावना का इस्तेमाल राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिये करते हैं या करते थे।

किसी इलाके में प्रवासी विरोधी आन्दोलन के पैदा होने या न होने के पीछे एक अन्य महत्वपूर्ण कारण उस इलाके में पहले से प्रवासियों की परम्परा की उपस्थिति या अनुपस्थिति भी पायी गई है। जब किसी राज्य के लोग, खासकर मध्यवर्ग खुद ही बाहर से आया प्रवासी होता है, तो इस प्रवृत्ति का विरोध काफी कम होता है। यह मामला खासतौर पर पश्चिम बंगाल, केरल, पजाब, बिहार और उत्तर प्रदेश में देखा जा सकता है। दूसरी तरफ 'भूमिपुत्र' आन्दोलन ज्यादातर महाराष्ट्र, आसाम और आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना इलाकों में देखा जा सकता है जहाँ के लोगों में प्रवास की खुद कोई परम्परा नहीं रही है।

दुर्भाग्य से भारतीय संविधान कई मामलों में काफी हद तक अस्पष्ट है। कुछ खुदगर्ज भारतीय राजनीतिज्ञों ने संविधान की इस अस्पष्टता का लाभ 'भूमिपुत्र' सिद्धान्त को विकसित करने और इसका प्रसार कर राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति चाही है। जब संविधान निर्माताओं ने संविधान का निर्माण किया तब उन्होंने यह सोचा भी नहीं होगा कि उनके द्वारा निर्मित संविधान के कुछ विशेष उपबन्ध 'भूमिपुत्र सिद्धान्त' की व्यवस्था कर रहे हैं। संविधान के जिन उपबन्धों से भूमिपुत्र के सिद्धान्त को समर्थन मिलता है, वे निम्नलिखित है–

(प) शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश तथा नौकरी की शर्त–राज्य का निवास होना

भारतीय संविधान धर्म, जाति, नस्ल, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर किसी भेदभाव पर प्रतिबन्ध लगाता है।[68] किन्तु यह निवास स्थान के आधार पर भेदभाव करने पर पाबन्दी नहीं लगाता है जिसके आधार पर अधिकांश राज्यों में निवास स्थान के आधार पर शिक्षा संस्थानों के दाखिले में भेदभाव किया जाता है। यद्यपि संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, जन्म स्थान तथा निवास के आधार पर राज्य की नियुक्तियों में कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। परन्तु इसी के साथ संसद को यह शक्ति भी दे दी गयी है कि वह, हालांकि राज्यों की विधान सभा नहीं, किसी राज्य में राजकीय नियुक्तियों के लिये उस राज्य में निवास की आवश्यकता का प्रावधान बनाते

68. भारतीय संविधान, अनुच्छेद 15 ।

हुये कानून स्वीकृत कर सकता है।[69] राजनीतिक दबावों के अन्दर संविधान की अस्पष्टता का फायदा उठाते हुये कई राज्यों ने दरअसल नौकरियां आरक्षित कर दी है या राज्य की नौकरियों तथा शैक्षणिक संस्थाओं में भर्ती के लिये राज्य के निवासियों को प्राथमिकता देते हैं। ऐसे मामलों में निवास की न्यूनतम् अवधि निश्चित या प्रस्तावित कर दी जाती है। इतना ही नहीं जहॉ संविधान कुछ हद तक निवास के आधार पर राज्य की नौकरियों में आरक्षण या प्राथमिकता देने की अनुमति देता है, वहीं भाषा के आधार पर ऐसा करने की छूट बिल्कुल नहीं देता। फिर भी कई राज्य सरकारों ने आगे बढ़कर ऐसे स्थानीय निवासियों को प्राथमिकता देना घोषित कर रखा है जिनकी मातृभाषा उस राज्य की प्रमुख भाषा हों। इस प्रकार दीर्घकाल से उन राज्यों में बसे हुये प्रवासियों और उनक वंशजों और यहां तक कि ऐसे निवासियों के विरूद्ध भेदभाव किया गया है जो उस राज्य की भाषा तो बोल सकते हैं, परन्तु उनकी मातृभाषा उस राज्य की अल्पसंख्यक भाषा है। जोकि संविधान की भावना का सरासर उल्लंघन है।

वैसे राज्य के पिछडे निवासियों के लिये राज्य प्रशासन की नौकरियों और उच्च शिक्षण संस्थानों में आरक्षण, राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से अस्वागत योग्य होते हुये भी इनका एक तर्क समझा जा सकता है। लेकिन प्रवासी विरोधी आन्दोलनों के लिये ऐसी कोई दलील नहीं मानी जा सकती है। 1960 के दशक में चलने वाले इन आन्दोलनों ने दूसरे राज्यों से आने वाले प्रवासियों को रोकने के लिये खुलेआम विरोध की घोषणा की और उनके खिलाफ दुश्मनी को भड़काया। ये उग्रवादी, प्रवासी–विरोधी 'भूमिपुत्र' आन्दोलन ज्यादातर शहरों के इर्द–गिर्द, विशेषरूप से आसाम, आन्ध्र में तेलंगाना, कर्नाटक, महाराष्ट्र और उड़ीसा में फैले । इन्होंने प्रवासियों को परेशान किया और यहां तक कि उनके खिलाफ हिंसात्मक कार्यवाहियां की।

(ii) जम्मू तथा कश्मीर के लिये विशेष उपलबन्ध

जम्मू तथा कश्मीर के संविधान में भूमिपुत्र सिद्धान्त को स्पष्टतया शामिल किया गया है। जम्मू तथा कश्मीर के संविधान के अनुच्छेद 35 (ए) में स्पष्टतया यह व्यवस्था की गई है कि वहाँ का विधानमण्डल यह निश्चित करेगा कि वहाँ के स्थायी निवासी कौन हैं। इन स्थायी निवासियों को यह विशेष अधिकार दे सकती है और जो वहाँ के निवासी नहीं हैं उन पर वह –(i) सरकारी नौकरियों, (ii) राज्यों में अचल सम्पत्ति खरीदने, (iii) राज्य में बसने तथा (iv) राज्य में विद्यार्थियों को दिये जाने वाले वजीफों तथा अन्य सहायता के बारे में बन्धन लगा सकती है।

इस अनुच्छेद के अधीन राज्य की विधान पालिका ने एक कानून भी बनाया है जिसके अनुसार अस्थायी निवासियों को राज्य में अचल सम्पत्ति खरीदने का अधिकार नहीं है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कश्मीर केवल कश्मीरियों के लिये है। यहाँ तक कि जो शरणार्थी देश के विभाजन के समय पाकिस्तान से आकर वहां पर बस गये थे और जो 50 वर्ष से अधिक समय से वहां पर बसे हुये हैं, उन्हें भी केन्द्रीय सरकार के कहने पर भी वहाँ की नागरिकता नही दी गयी है जिससे भूमिपुत्र सिद्धान्त को बढ़ावा मिला है।

---

69. भारतीय संविधान, अनुच्छेद 16 ।

(iii) नागालैण्ड, असम, मिजोरम, मेघालय, अरूणाचल, सिक्किम तथा आन्ध्र के लिये विशेष उपबन्ध

उपरोक्त राज्यों के लिये भी संविधान में विशेष उपबन्ध किये गये है। उदाहरणतया नागालैण्ड के बारे में संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि वहाँ की भूमि तथा उसके सम्पत्ति स्रोतों का अन्तरण वहाँ की विधान सभा द्वारा पारित संकल्प के बिना नहीं किया जा सकता।[70] इसके अतिरिक्त वहां पर विधानसभा के 60 स्थानों में 59 स्थान (दीमापुर को छोड़कर) अनुसूचित जनजातियों के लिये आरक्षित कर दिये गये हैं।[71]

संविधान के 51 वें संशोधन अधिनियम 1984 में नागालैण्ड, मेघालय, मिजोरम तथा अरूणाचल में रहने वाली जनजातियों के लिये भी लोकसभा में स्थान आरक्षित किये गये। बाद में 57वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 330 तथा 332 में संशोधन करके नागालैण्ड तथा मेघालय की विधान सभाओं में भी अनुसूचित जनजातियों के लिये स्थान आरक्षित किये गये। अब मेघालय में भी यह मांग की गयी है कि नागालैण्ड के समान मेघालय की विधान सभा में भी सारे स्थान जनजातियों के लोगों के लिये आरक्षित कर देने चाहियें। इस समय वहाँ की विधान सभा के 60 स्थानों में से 52 स्थान जनजातियों के लिये आरक्षित है।

संविधान के अनुसार संसद, सिक्किम विधान सभा में अनेक सामाजिक वर्गों के लिये स्थान बांट सकती है। इस सम्बन्ध में संसद ने एक कानून पास किया है जिसके अनुसार 32 स्थानों में से 12 स्थान लैपचास तथा 12 स्थान भुटियास को और एक स्थान सिक्किम के बौद्धों को दिया गया है। यह भी भूमिपुत्र सिद्धान्त का ही एक रूप है क्योंकि इस कानून के द्वारा सिक्किम में रहने वाले दूसरे लोगों को विधान सभा में उनके प्रतिनिधित्व से बहुत हद तक वंचित कर दिया गया है।

आन्ध्र प्रदेश में भी संविधान में संशोधन करके भूमिपुत्र सिद्धान्त को अन्तः स्थापित किया गया था। संशोधन द्वारा संविधान में 371 डी शामिल करके यह व्यवस्था की गयी थी कि असैनिक सेवाओं को अनेक श्रेणियों में बांटकर राज्य के विभिन्न स्थानीय काड्रस में बांट दिया जाय परन्तु 1969 में उच्चतम न्यायालय ने इस संशोधन को असंवैधानिक घोषित कर दिया था।[72]

धरती के बेटों के लिये विशेष उपबन्धों की व्यवस्था करने का संविधान निर्माताओं का इरादा चाहे कुछ भी हो परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इसके दूरगामी परिणामों की गम्भीरता के बारे में हमें अभी अनुभव हुआ है। यहां तक कि संविधान में संशोधन करके इस सिद्धान्त को नागालैण्ड तथा सिक्किम में भी किसी न किसी रूप में लागू कर दिया गया है और केन्द्रीय सरकार ने भी केन्द्रीय व्यवसायों में नौकरियाँ देते समय इस सिद्धान्त पर अमल किया है।[73]

---

70. भारतीय संविधान, अनुच्छेद 371ए (1) ।
71. ऐसा संविधान मं 57वाँ संशोधन करके 1987 में किया गया था। संविधान के 57वें संशोधन अधिनियम 1987 में यह व्यवस्था की गयी है कि जिस तिथि को यह संविधान संशोधन अधिनियम लागू किया गया है, यदि उस तिथि को अरूणाचल प्रदेश, मिजोरम मेघालय तथा नागालैण्ड राज्य में यदि विधान सभा के सारे स्थान अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के पास है तो एक स्थान को छोड़कर बाकी सभी स्थान अनुसूचित जनजातियों के लिये आरक्षित होगें और जहाँ पर ऐसा नहीं है वहाँ पर जनजातियों के विधान सभा में स्थान उनकी जनसंख्या के अनुपात के अनुसार होगें। परन्तु वे स्थान वर्तमान विधानसभा में उनके पास जो स्थान है, उनसे कम नहीं होगे।
72. इण्डियन एक्सप्रेस, अप्रैल 21, 1980 पृ0 4 ।
73. *इण्डिया* 1992, पृ0 296 ।

अरस्तु ने ठीक ही कहा है कि जो किसी के अधीन है वे इसलिये विद्रोह करते है ताकि वे समान हो जाय और जो लोग समान होते है वे इसलिये विद्रोह करते है कि उनका स्थान दूसरों की अपेक्षा अधिक उच्च हो जाय। इस प्रकार के सोच के कारण ही क्रान्ति होती है। भारत में ऐसा होने की सम्भावना और भी अधिक है क्योंकि यहा पर बेरोजगारी बढती जा रही है। उदाहरणतया 1952 में पंजीकृत बेरोजगारों की संख्या 4.37 लाख थी 1981 में बढ़कर 178.3 लाख और 1991 में 363.0 लाख हो गयी।[74] इन परिस्थितियों में वे पढे लिखे नौजवान जिनके पास नौकरियॉ नहीं है और जिन लोगों का आर्थिक शोषण किया जा रहा है या जिनके सांस्कृतिक अस्तित्व को खतरा है, वे अवश्य ही विद्रोह कर सकते हैं। अनेक राज्यों में ऐसा भी हो रहा है जिसके कारण राज्यो के मूल निवासियों ने बाहर वालों को डराना, धमकाना शुरू कर रखा है ताकि वे वहां से चले जाय। उनके द्वारा ऐसा किये जाने के पीछे निम्नलिखित कारण है–

(क) राजनैतिक कारण

भूमिपुत्र से सम्बन्धित आन्दोलन फैलने के कुछ तो राजनैतिक कारण है। उदाहरणतया उत्तर–पूर्वी क्षेत्रों में केन्द्रीय सरकार ने एक तरफ तो असम का बंटवारा करके नागालैण्ड, मेघालय, अरूणाचल प्रदेश तथा मिजोरम जैसे छोटे–छोटे राज्यों की स्थापना कर दी है और दूसरी तरफ अनेक अनुसूचित जनजातियों से सम्बन्धित वर्गों ने अपनी पृथक पहचान बनाये रखने के लिये बाहर वालों को, उन राज्यों में बसने से रोक दिया है। जनजातियो के आन्दोलन के आधार पर शक्ति हथियाने के पश्चात् इन राजनीतिज्ञों ने अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिये इन क्षेत्रों की देश के दूसरे भागों से सामाजिक तथा सांस्कृतिक भिन्नता का प्रचार शुरू कर दिया है। जिन राजनीतिज्ञों के पास राजनैतिक सत्ता नहीं है वे और भी बढ–चढकर बातें करते हैं जिसके परिणामस्वरूप जो लोग सत्ता में है वे भी राष्ट्रीय मुख्य धारा में शामिल नहीं हो सकते है। अरूणाचल, मिजोरम तथा नागालैण्ड में (दीमापुर शहर को छोड़कर) अन्दरूनी सीमा विनिमय लागू है जिसके अनुसार दूसरे राज्यों से आने वाले व्यक्तियों को इन राज्यों की सरकारों की इजाजत के बिना वे वहां पर कोई सम्पत्ति नहीं खरीद सकते। मेघालय के मुख्यमंत्री विलियमसन सांगम्मा ने भी इस अन्दरूनी नियन्त्रण रेखा के नियम को मेघालय में भी लागू करने की मांग की है। यहॉ तक कि मेघालय सरकार बाहर वालों को मेघालय में आने से रोकने के लिये वहां पर उद्योग लगाने तथा रेल की पटरी बिछवाने का भी विरोध कर रही है।[75] आसाम सरकार भी दूसरे राज्यों के लोगों को आसाम में जाने से रोकने के लिये इसी प्रकार की मांग कर रही है। यहां पर यह ध्यातव्य है कि मेघालय में कोई भी व्यक्ति राज्य सरकार से इजाजत लिये बिना 6 महीने से अधिक नहीं ठहर सकता।[76] त्रिपुरा में त्रिपुरा उपजाति जुब्बा समिति भी राज्य के उन क्षेत्रों में जहॉ अनुसूचित जनजातियों के लोग रहते हैं वहां पर बाहर वालों को जाने से रोकने के लिये मेघालय

74. चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखजी (2002), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 178 ।
75. इण्डियन एक्सप्रेस, जनवरी 18, 1987, पृ0 7 ।
76. तदैव, मई 17, 1986, पृ0 6 ।

की तरह का ही प्रबन्ध करने एवं अनुसूचित जनजातियों के लिये विधान सभा के 50 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने की मांग कर रही हैं।[77]

मणिपुर में भी मणिपुर नेशनल फ्रण्ट ने मेटीज पर अनुसूचित जनजातियों के प्रभुत्व को देखते हुये उनके विरूद्ध नारे लगाये है।[78] बाहर वालों को डराने के लिये वहाँ के विद्यार्थियों ने विदेशियों के विरूद्ध बिल्ले लगाये और आसामी, बंगाली, पंजाबी, नेपाली, बिहारी तथा खासी दुकानदारों से चावल, तेल, गेहूँ और आटा जबरदस्ती इकट्ठा किये। उन्हें मणिपुर छोड़कर चले जाने को भी कहा और इस धमकी के परिणामस्वरूप उनमें से बहुत से मणिपुर छोडकर चले भी गये।[79]

(ख) सांस्कृतिक पहचान के लोप होने का डर

सांस्कृतिक पहचान के लोप होने के डर के कारण भी भूमिपुत्र के सिद्धान्तों का आन्दोलन फैला है। उदाहरणतया असम में रहने वाले अपने राज्य में ही राजनैतिक दृष्टि से यतीम हो गये है क्योंकि अब राज्य विधान सभा में गैर असमियों की संख्या भी काफी अधिक है। असमियों का कहना है कि जिस गति से बांग्लादेश के मुसलमान असम में आकर बस रहे है। उससे राज्य में मुसलमानों की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है और यदि इसी तरह से उनकी जनसंख्या बढती रही तो कुछ समय पश्चात असम में मुसलमानों का बहुमत होगा और मूल असमी वहाँ पर अल्पसंख्यक हो जायेंगे। ये मुसलमान कल बांग्लादेश में भी शामिल होने की मांग कर सकते हैं। इसलिये असमियों ने मतदाता सूची में विदेशियों के नाम शामिल किये जाने के विरूद्ध आन्दोलन किया था। उन्होंने बंगाल से आये हुये लोगों के विरूद्ध भी हिंसात्मक कार्यवाही इसीलिये की थी ताकि वे बाहर वालों को डरा धमका सकें। यहां पर यह चर्चा करना आवश्यक है कि विद्यार्थियों तथा अन्य संगठनों ने कई महीनों तक स्कूलों तथा कालेजों को बन्द रखा। बरौनी को जाने वाले तेल की पाइप लाइनों को भी बन्द कर दिया था और 1980 में लोकसभा के चुनाव भी नहीं होने दिये थे। क्योंकि उनकी दृष्टि में बंगाली उनकी भूमि तथा अन्य प्राकृतिक स्रोतों को कब्जाना चाहते हैं। असमगण संग्राम परिषद ने इन्हीं कारणों से दीवारों पर निम्नलिखित पोस्टर लगाये थे।

(क) भारतीय कुत्तों आसाम से बाहर चले जाओं।

(ख) भारत माता को भूल जाओं आसाम माता को प्यार करों।

(ग) आसाम मातृभूमि की विजय हो।

(घ) यदि तुम सांप और बंगाली को एक साथ देखो तो सांप की बजाय बंगाली को पहले मार दो।

यूनाइटेड लिब्रेशन फ्रण्ट ऑफ असम भी अब गैर असमियों को असम छोड़कर चले जाने के लिये कह रहा है ; जो कि एक पृथकतावादी संगठन है।

त्रिपुरा में भी स्थिति इससे बेहतर नहीं है क्योंकि वहां पर भी बाहर वालों के आगमन के कारण अनुसूचित जनजातियों के लोगों की जनसंख्या केवल एक तिहाई रह गई है। त्रिपुरा में वहां के मूल निवासियों की अपेक्षा बंगालियों की जनसंख्या अधिक है। त्रिपुरावासी नहीं चाहते कि उनकी भी वही

---

77. द टाइम्स ऑफ इण्डिया, अगस्त 24, 1984, पृ0 6 ।

78. तदैव, मई 6, 1980, पृ0 6 ।

79. द हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 4, 1980 पृ0 1 ।

दशा हो जो असम के मूल निवासियों की असम में है। इस प्रकार की स्थिति को देखते हुये भूमिपुत्र का सिद्धान्त इन राज्यों में जोर पकड़ता जा रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में त्रिपुरा के मूल निवासियों के हितों की रक्षा करने के लिये त्रिपुरा उपजाति जुब्बा समिति संगठित की गयी है जो यह मांग कर रही है कि जो लोग अक्टूबर 1948 के पश्चात् त्रिपुरा में आये है वे त्रिपुरा छोड़कर चले जाय।

इसीलिये त्रिपुरा उपजाति जुब्बा समिति तथा अमार बंगाली गुटों के बीच खींचातानी चल रही है। लेकिन यहाँ पर यह जानना बहुत जरूरी है कि बाहर वालों को राज्य छोड़कर चले जाने का नारा ईसाई धर्म से सम्बन्धित अनुसूचित जनजातियों के लोगों ने ही दिया है और त्रिपुरी तथा रेंग कबीले के लोग जो हिन्दू है, वे इस सम्बन्ध में बहुत उत्साही नहीं है। लेकिन फिर भी राज्य सरकार को विधानसभा में अनुसूचित जनजातियों को यह आश्वासन दिलाना पड़ा कि 1971 के पश्चात् जो लोग बांग्लादेश से आये हैं, उन्हें वापिस भेज दिया जाएगा।[80]

लगभग इसी प्रकार का डर अरूणाचल के लोगों में पाया जाता है जिसके कारण उन्होंने भी 1980 में टीराप तथा सुबानसिरी जिलों में बसे हुये चकमा शरणार्थियों को वहाँ से हटाये जाने की मांग की है। तत्कालीन मुख्यमंत्री गैगांग अपंग ने सदन को स्पष्ट शब्दों में यह आश्वासन दिलाया कि उसकी सरकार अरूणाचल में पड़ोसी राज्यों असम, मेघालय तथा मणिपुर जैसी स्थिति उत्पन्न नहीं होने देगी।[81]

मिजोरम में भी मिजो नेशनल फ्रण्ट ने उन लोगों को जो मिजो नहीं है, मिजोरम छोड़कर चले जाने को कहा है। इस सम्बन्ध में आइजौल में जो कि मिजोरम की राजधानी है, 1980 में पोस्टर भी लगाये गये थे, जिन्हें पुलिस ने उतार दिया था। परन्तु जनवरी तथा मार्च 1980 के बीच मिजो नेशनल फ्रण्ट ने 16 व्यक्तियों का कत्ल कर दिया था।[82] मिजो नेशनल फ्रण्ट की गतिविधियाँ पृथकतावादी है। मणिपुर में भी सांस्कृतिक पहचान के लोप होने का डर मेट्टी राष्ट्रवाद के फैलने का कारण है। इसीलिये वहां पर मातृभूमि सिद्धान्त के नारे लगाये जा रहे हैं।[83] मेट्टीज तथा बंगालियों और नेपालियों में तनावपूर्ण सम्बन्ध होने का भी यही कारण है। मेट्टीज तो मिजोज, कुकीज को भी पसन्द नहीं करते।[84]

मेघालय में भी स्थिति इससे बेहतर नहीं है। मेघालय जिसे असम का पुनर्गठन करके 1972 में पृथक राज्य बनाया गया था, वहां पर भी अनुसूचित जनजातियों तथा गैर अनुसूचित जनजातियों में झगड़ा है और 1979 में वहां पर गैर अनुसूचित जनजातियों के विरूद्ध विस्तृत स्तर पर हिंसात्मक कार्यवाही की गयी थी। अनुसूचित जनजातियों के लोग यह नही चाहते कि वहां अन्य राज्यों के लोग

---

80. इण्डियन एक्सप्रेस, अप्रैल, 1980, पृ 1 ।
81. द टाइम्स ऑफ इण्डिया, सितम्बर 25, 1980, पृ0 2 ।
82. तदैव, मार्च 30, 1980, पृ0 1 ।
83. मेट्टीज का मानना है कि शेष भारत हमें नहीं देखता और यदि देखता है तो शिकायतों को ध्यान से सुनता नहीं। उत्तर पूर्वी भारत में रहने वाले असमी, नागा, मिजो, मेट्टी, खासी तथा गारो और अन्य वर्गों को भी इसी तरह की शिकायत है। मणिपुर के मुख्यमंत्री राजकुमार दौरेन्द्र सिंह का विचार यह है कि मेट्टी लोगों की सांस्कृतिक पहचान के लोप होने के डर के कारण वहां पर भूमिपुत्र का सिद्धान्त फैला है।– इण्डियन एक्सप्रेस, मार्च 14, 1980, पृ0 5 ।
84. द हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 9, 1980, पृ0 1 ।

विशेषकर नेपाली तथा बंगाली आकर बसें। वे उन सबको विदेशी समझते है तथा वे विदेशियों और भारत के अन्य राज्यों से आये हुये लोगों मे फर्क नहीं समझते। वे उन्हें मेघालय में रहने वाले जयन्तीया, खासी तथा गारो कबीलों की कबायली विरासत के लिये खतरा समझते है। इन कबीलों ने इसाई धर्म को अपना लिया है और वे चाहते है कि वे गैर कबायली जो 1954 के पश्चात् यहां आकर बसे है उन्हें मेघालय छोडकर चला जाना चाहिये। वे गैर कबायलियों को डराने का प्रयत्न भी कर रहे है और खासीपुर नेशनल काउन्सिल ने 1980 में एक पोस्टर निकाला था जिसमें लोगों को विदेशी शासन से सशस्त्र आन्दोलन के माध्यम से स्वतन्त्र कराने के लिये आह्वान किया था।[85] पब्लिक डिमाण्ड इम्पलिमेंटेशन कन्वैशन ने सरकार से यह मांग की है कि मेघालय अनुसूचित जनजातियों की सीटों के लिये आरक्षण लागू किया जाय।[86] उनकी यह मांग भी है कि संसद के दो स्थान और विधानसभा के कुछ स्थान कबायलियों के लिये आरक्षित किये जाय।[87] यह संदेह किया जाता है कि वहां पर गडबड कराने में ईसाई धर्म प्रचारकों का हाथ है। यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि कबायलियों के भूमि से सम्बन्धित अधिकारों की पूरी तरह से रक्षा की गई है और उस राज्य में अन्य कोई भूमि खरीद नही सकता।[88] यहॉ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि 1987 में खासी स्टूडेन्ट्स यूनियन ने नेपालियों के विरूद्ध विस्तृत स्तर पर हिंसात्मक कार्यवाहियां की थी जिसके परिणामस्वरूप लगभग 7000 गैर कबायली शिलांग में अपने घरों को छोडकर भाग गये थे।[89]

(ग) आर्थिक शोषण–

भूमिपुत्र सिद्धान्त के फैलने का एक कारण यह भी है कि कुछ राज्यों के प्राकृतिक साधनों का प्रयोग अन्य राज्यों के व्यक्तियों द्वारा किया जाता है और ऐसा करते समय वे राज्य के मूल निवासियों को नौकरियों में उनका उचित भाग भी नहीं देते। उदाहरणतया बिहार जो हर दृष्टि से पिछडा हुआ है, वहां के युवकों का यह नारा है कि बिहार बिहारियों के लिये। इसलिये बिहार बचाओं मोर्चा जनता का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से यह मांग कर रहा है कि सार्वजनिक तथा निजी उद्योग जो बिहार में खनिज पदार्थों का व्यापार कर रहे हैं, उन सबके मुख्य कार्यालय बिहार में होने चाहिये।[90] क्योंकि इन उद्योगों के मुख्य कार्यालय साधारणतया कलकत्ता, बम्बई तथा दिल्ली में है जिसके कारण बिहार वालों को उनमें नौकरियॉ देने से वंचित रखा जाता है।

इसी प्रकार की विचारधारा हिमाचल के लोगों में भी पायी जाती है। विलासपुर, मंडी, सुन्दरनगर शिमला तथा कुल्लू में पहाड़ी समाज के समर्थकों द्वारा वे पोस्टर लगाये गये जिनमें गैर हिमाचलियों को हिमाचल छोड़कर चले जाने को कहा गया था। पहाड़ी समाज ने उन लोगों को जिनके वहां बाग है, उन्हें स्थानीय लोगों को बेचने के लिये कहा है।[91] हिमालय के भूतपूर्व उद्योग

85. द टाइम्स ऑफ इण्डिया, अगस्त 25, 1980, पृ0 8 ।
86. तदैव, जून 7, 1980, पृ0 7 ।
87. 1970 मे पहले जब मेघालय पृथक ,राज्य नहीं बना था तब कबायलियों के लिये इस प्रकार का आरक्षण था।– द हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 18, 1980, पृ0 14 ।
88. द टाइम्स ऑफ इण्डिया, अगस्त 25, 1980, पृ0 8 ।
89. तदैव, जुलाई 21, 1987, पृ0 4 ।
90. सईद, एस0एम, (1998), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 370 ।
91. द ट्रिब्यून, सितम्बर 4, 1980, पृ0 1 ।

मंत्री रणजीत सिंह ने वहा के उद्योगपतियों को यह सलाह दी थी कि वे हिमाचल वालों को ही नौकरियाँ दे। राज्य में एक कानून भी पास किया गया है जिसके अनुसार शहरों मे प्लाट्स को छोड़कर अन्य भूमि खरीदने पर बंधन लगा दिये गये है।[92] सिक्किम सरकार ने भी उन लोगों को जो वहाँ पर पुश्तों से व्यापार करते आ रहे थे, को व्यापार करने के लाइसेस देने से इकार कर दिया है। अधिकतर यह लोग हरियाणा और उत्तर प्रदेश के रहने वाले हैं।[93]

(घ) नौकरियों में भेदभाव

भूमिपुत्र सिद्धान्त के फैलने का एक कारण यह भी है कि कुछ वर्गों के साथ नौकरियों में भेदभाव किया जाता है। उदाहरणतया मारवाडी समुदाय के लोगों ने बंगाल मे अपनी मेहनत के कारण जो उद्योग लगायें, देश के विभाजन के पूर्व से वे उन उद्योगों में बंगालियों को छोटी–मोटी नौकरियों को छोड़कर अन्य नौकरी नहीं देते थे। जिसके कारण वे उन्हें पसन्द नहीं करते थे। परन्तु देश के विभाजन के पश्चात्, उन्होंने व्यापार में बंगालियों को भी हिस्सेदार बना लिया जिसके परिणामस्वरूप मारवाड़ियों तथा बंगालियों के सम्बन्धों मे काफी सुधार आया है। परन्तु इसके विपरीत बम्बई में दक्षिण भारत से आये व्यापारियों ने ऐसा नहीं किया जिसके कारण शिवसेना के लोग उनके विरूद्ध हो गये और उन्होंने केरल, कर्नाटक तथा तमिलनाडु के व्यापारियों को महाराष्ट्र छोड़कर जाने को कहा।[94] 1996 में बाल ठाकरे के नेतृत्व में स्थापित शिव सेना ने मांग की कि नौकरियों और छोटे व्यापारों में महाराष्ट्रीयन लोगों को प्राथमिकता दी जाय और महाराष्ट्रीयन उन्हें माना गया जिनकी मातृभाषा मराठी हो। यह घोषित किया कि तमिल लोग ऑफिस की नौकरियों जैसे क्लर्क और प्राइवेट कम्पनियों के टाइपिस्टों तथा चाय की दुकानों और रेस्तरां जैसे छोटे व्यापारों में बहुत ज्यादा संख्या में मौजूद है। 1969 में शिवसेना ने बम्बई शहर में दक्षिण भारतीयों के खिलाफ विशेषकर तमिलों के विरूद्ध हिंसा और आगजनी का नंगा नाच किया, उनकी चाय की दुकानों और रेस्तराओं को लूटकर बर्बाद कर दिया गया, तमिल लोगो की कारे उलट दी गई और दुकानों पर से तमिल साइन बोर्ड नोच डाले गये।[95] मार्च 1981 में महाराष्ट्र में दक्षिण भारतीयों के विरूद्ध पुनः हिंसात्मक कार्यवाहियां की गई।[96] कर्नाटक में भी मलियाली भाषी लोगों के विरूद्ध हिंसात्मक कार्यवाहियां की गई थी जिसके परिणामस्वरूप बहुत से व्यापारी केरल वापस चले गये।[97] कर्नाटक में कन्नड़ साहित्य परिषद के अध्यक्ष ने यह धमकी दी थी कि यदि कर्नाटक के लोगों के साथ नौकरियों में भेदभाव नहीं समाप्त किया गया तो वह कर्नाटक को दूसरा असम बना देंगे। उन्होंने यह भी शिकायत की है कि केन्द्रीय उद्योगों में छोटी–छोटी नौकरियां भी बाहर वालों को ही दी जाती है। और ऊँचे पदों की स्थिति तो और भी खराब है। कोलार के क्षेत्र में जहां पर केन्द्रीय सरकार द्वारा सोना निकालने का कारखाना स्थापित किया गया है, वहां पर

---

92. द टाइम्स ऑफ इण्डिया, नवम्बर 20,, 1985, पृ0 4 ।
93 तदैव, अप्रैल 3, 1987, पृ0 7 ।
94 तदैव, मार्च 24, 1981, पृ0 7 ।
95 द टाइम्स ऑफ इण्डिया, मार्च 14, 1981, पृ0 9 ।
96. चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 178–179 ।
97 द हिन्दुस्तान टाइम्स, दिसम्बर 19, 1986, पृ0 6 ।

भी कर्नाटक के लोगों की स्थिति यतीमों जैसी है।[98] कर्नाटक के पूर्व मुख्यमंत्री गुण्डुराव ने 1980 में यह कहा था कि जब यहा के उद्योगों में कर्नाटक की भूमि, कर्नाटक का पानी तथा कर्नाटक की बिजली प्रयोग की जाती है तो इन उद्योगों में शत–प्रतिशत नौकरिया भी कर्नाटक के लोगों को ही दी जानी चाहिये।[99]

यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि कर्नाटक मे विहल नागराज के नेतृत्व मे 'कन्नड, भालू वलीगर्स' नाम का एक सगठन बनाया गया है जो यह चाहता है कि गैर कन्नाडिगास कर्नाटक से चले जाएं। बम्बई में शिवसेना की तरह से यह संगठन भी हिसात्मक कार्यवाही करता है। कर्नाटक मे भी इस संगठन ने दीवारों पर ऐसे पोस्टर लगाये जिनमें केरल तथा तमिलनाडू के लोगों को कर्नाटक छोडकर चले जाने को कहा था।

उड़ीसा में भी मावाड़ियों पर कुछ हमले किये गये थे और बेलागीर में उनकी सम्पत्ति को जला दिया गया तथा कुछ अन्य शहरों में उन्हें उड़ीसा छोडकर जाने को कहा गया था।

उपरोक्त से यह सिद्ध हो जाता है कि भूमिपुत्र का सिद्धान्त देश के अनेक भागों में कैंसर के रोग की तरह फैल गया है और यदि इस पर नियन्त्रण नहीं रखा गया तो यह देश की एकता और अखण्डता के लिये खतरनाक सिद्ध हो सकता है क्योंकि इस सिद्धान्त (भूमिपुत्र सिद्धान्त) के आधार पर देश के कई भागों में पृथक राज्य आन्दोलन चल रहें हैं। ये आन्दोलन म0प्र0 में छत्तीसगढ, उ0प्र0 में उत्तरांचल, बिहार, उड़ीसा, पं0 बंगाल और मध्य प्रदेश के कुछ इलाकों में झारखण्ड, असम में बोडोलैण्ड एवं पं0 बंगाल में गोरखालैण्ड है, जिनका अध्ययन अगले अध्याय, अध्याय 5 'भारत में क्षेत्रीय आन्दोलन' के अन्तर्गत किया गया है।

फिर भी, समकालीन भारत में जहाँ 1960 के दशक से ही जारी पक्षपातपूर्ण और प्राथमिकता पर आधारित नियन्त्रण अब तक चल रहे हैं, वही प्रवासियों के खिलाफ दुश्मनी और हिंसा हाल के वर्षों में काफी कम हुयी है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि देश के अन्दर प्रवासियो की आवाजाही कभी नहीं रूकी है बल्कि अन्तर्राज्यीय गतिशीलता पहले से काफी बढ़ी है। परन्तु समस्या अगले आने वाले लम्बे समय तक बनी ही रहेगी खासकर तब तक तो जरूर, जब तक कि आर्थिक विकास, बेरोजगारी, विशेष रूप से मध्यवर्गीय तबकों में बेरोजगारी तथा क्षेत्रीय असमानताओं का समाधान नहीं कर लिया जाता।

वस्तुतः आर्थिक धरातल पर, स्वतन्त्र भारत की पूंजीवादी विकास प्रणाली ने दो प्रकार से क्षेत्रीयतावाद में वृद्धि की है। पहला तो यह है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था तीव्र रूप से बढ़ती जनसंख्या की तुलना में काफी धीमी गति से विकसित हुयी है। दूसरे, यद्यपि कृषि एवं उद्योगों के क्षेत्रों में पूंजीवादी विकास प्रणाली ने अधिक आमदनी एवं खुशहाली को उत्पन्न किया है, परन्तु इसका वितरण असमान रहा है। एक ओर तो गरीबी और असमानता बढ़ी है दूसरी ओर नये सामाजिक समूह भी प्रकट हुये है, जिनसे शक्ति सम्बन्धों के नये समीकरण भी बनें।

---

98. इण्डियन एक्सप्रेस, अप्रैल 21, 1980, पृ0 4 ।
99. द ट्रिब्यून, मार्च 18, 1981, पृ0 4 ।

राजनीतिक स्तर पर भी क्षेत्रीयतावाद के लिये दो प्रमुख उत्तरदायी कारक है : प्रथम भारतीय राज्य स्वतन्त्रता के पश्चात् जनमानस की आकांक्षायें पूरा करने में ये न्यूनाधिक रूप से असमर्थ होने के कारण वैधता के गम्भीर संकट से गुजर रहा है। इसी के साथ ही भारतीय राज्य संस्थागत व्यवस्था एवं उसको विनियमित करने वाले मानदण्डों को बरकरार रखने और प्रोन्नत करने में असफल रहा है। इस असफलता ने एक ओर नेताओं को राष्ट्रीय एकता को आर्थिक संस्कृति और क्षेत्रीय एकता के संदर्भों में परिभाषित करने का अवसर दिया है और दूसरी ओर, ऐसे नेतृत्व ने आत्मरक्षा के लिये इस संस्थागत व्यवस्था, जिसने सदैव व्यक्ति एवं राज्य के बीच एक मध्यवर्ती का काम किया है, की संरचना एवं क्रियाओं को कमजोर करने का भी प्रयास किया है। चूंकि नेतागण अपने निर्वाचन मण्डलों को सफलतापूर्वक संजोकर नहीं रख पाये हैं, इसलिये सत्ता में बने रहने की अनिवार्यता ने उन्हें लोगों को अपने संकीर्ण राजनीतिक स्वार्थों की परिपूर्णता हेतु इतर संस्थान तरीके अपनाने पर बाध्य कर दिया है। स्पष्ट है कि राजनीतिक आवोहवा की ऐसी अधोगति क्षेत्रीयतावाद के पनपने के लिये एक आदर्श वातावरण पैदा करती है।

पंचम् अध्याय
क्षेत्रीय आन्दोलन

भारत में क्षेत्रीय आन्दोलन

भौगोलिक स्थिति, ऐतिहासिक परम्पराओं, जातीय, धार्मिक और भाषाई सम्बन्धों तथा आर्थिक मांगों ने भारत में क्षेत्रीयतावाद को जन्म दिया है। स्वाधीनता संग्राम के दौरान भी यद्यपि अलगाव की भावना विद्यमान थी, परन्तु क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति स्वतन्त्रता के बाद ज्यादा तीव्र हुयी क्योंकि इस दौरान हुये असमान आर्थिक विकास की वजह से यह अधिक तेजी से उभरकर सामने आयी, किन्तु इसकी उत्पत्ति के मूल स्वतन्त्रता पूर्व के भारत में ही खोजे जा सकते है।

स्वतन्त्रता पूर्व भारत में क्षेत्रीय आन्दोलन

स्वतन्त्रता पूर्व औपनिवेशिक शासन के अधीन होने के कारण, भारत में कई क्षेत्रों के आर्थिक स्वरुप की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से नहीं हुयी, वरन् क्षेत्रीय आन्दोलनों ने जाति, धर्म या भाषा का चोंगा पहन लिया। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासको ने पुनः इन सामाजिक मतभेदो का पोषण तेजी से बढते हुये राष्ट्रवाद और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रभाव को रोकने के लिये किया। इसके कारण कुछ आन्दोलनो ने राष्ट्र विरोधी शक्ल अख्तियार कर ली। मद्रास प्रान्त में जातीय चेतना और पंजाब मे धर्म पर आधारित क्षेत्रीय राजनीति ऐसे ही तत्व थे जिन्होंने स्वतन्त्रतापूर्व भारत में क्षेत्रीयतावाद की नींव डाली।

मद्रास प्रान्त में क्षेत्रीय आन्दोलनों के उत्स तत्कालीन जातीय संघर्षों में खोजे जा सकते हैं। 1914 के आस–पास गैर ब्राह्मणों के हितों को सुरक्षित करने के उद्देश्य से जातीय आधार पर कुछ संगठनों का निर्माण हुआ। इनमें से एक प्रमुख संगठन 'द्रविड़ संघ' था, जो कि दक्षिण भारत में जातीय मिश्रण का सूचक था और यह विचार फैला रहा था कि ब्राह्मण जाति आर्य मूल की है तथा ब्राह्मणों की संस्कृति वास्तव में उत्तर भारत से सम्बन्धित और सर्वथा भिन्न है ; एवं उनका उद्देश्य द्रविड़ लोगों के राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक हितों की रक्षा करना तथा ब्रिटिश राज्य के तहत एक 'द्रविड़ राज्य' का निर्माण करना था। 1916 में 'द्रविड सघ' में से ही 'साऊथ इण्डियन लिबरल फेडरेशन' का जन्म हुआ जिसने गैर ब्राह्मणों की सामाजिक, शैक्षणिक तथा रोजगार सम्बन्धी स्थिति का सर्वेक्षण किया था। इसमें ब्राह्मणों को सिर्फ एक जातीय श्रेणी ही नहीं अपितु एक वर्ग भी बताया गया था। साथ ही इन्हें बाह्य आक्रामक और साम्राज्यवादी प्रभुता के रूप में पेश किया गया था, जिन्होंने कुछ शताब्दियों पूर्व दक्षिण भारत पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

वस्तुतः इस संस्था का उद्देश्य न तो आम जनता का सामाजिक विकास एवं उन्नति करना था और न ही क्षेत्रीय संस्कृति का पुनरूद्धार करना था। वरन् इसका वास्तविक उद्देश्य स्थानीय जनता के कुछ विशिष्ट वर्गों के हितों का संरक्षण करना था, जिससे वे औपनिवेशिक शासकों को प्रसन्न करके और ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी वफादारी दिखाकर सामाजिक सम्मान तथा राजनीतिक प्रभाव हासिल कर सके। इसका प्राक् पूंजीपति चरित्र इस तथ्य से और भी स्पष्ट हो जाता है कि इसके संस्थापक यां तो अवकाश प्राप्त आई0सी0एस0 अफसर थे या फिर शहरी व्यवसायी और बड़े भू स्वामी। इसने शुरू से ही एक दबाव गुट के रूप में शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्र में और साथ ही राजनीतिक संरक्षण प्राप्त करने के लिये अपने सरकार समर्थक हाव–भाव द्वारा

सरकारी रियायतें एवं विधायी और कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति प्राप्त करने का प्रयास किया। वस्तुतः इस प्रकार यह एक क्षेत्रीय आन्दोलन के स्थान पर क्षेत्रीय संस्था अधिक रह गयी। इस प्रकार क्षेत्रीय सांस्कृतिक और आर्थिक विकास में इसका योगदान बिल्कुल शून्य रहा और सांस्कृतिक उद्धार का यह कार्य इसने एक अन्य आन्दोलन जो 'आत्म सम्मान आन्दोलन' के नाम से जाना जाता है, के लिये छोड़ दिया।

'आत्म सम्मान आन्दोलन' ने तमिल अखबारो और भाषायी लेखों द्वारा तमिल संस्कृति और इसके गौरवशाली अतीत को उन्नत करने का एक बडा एवं सफल प्रयास किया। इसने संस्कृत भाषा और ब्राह्मणों में समरूपता स्थापित कर इसे आर्य संस्कृति का हिस्सा बतलाया। इस प्रकार एक ऐसे द्रविड़ आन्दोलन का आविर्भाव हुआ जो तमिल चेतना का पर्याय और ब्राह्मणों तथा ब्राह्मणवाद का विरोधी था। इसने अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को 'आर्य' 'उत्तर' और 'संस्कृत' के समरूप माना। इस प्रक्रिया में इसने जस्टिस पार्टी के साथ भी गठजोड़ किया। यद्यपि 'आत्मसम्मान आन्दोलन' जातिवाद विरोध और तर्क बुद्धिवाद पर आधारित था तथा इसने निम्न जातियों और निम्न वर्गों में नवीन चेतना जगायी थी। तथापि, इन दोनो के आपस में मिल जाने से 1944 में द्रविड़ कजगम का जन्म हुआ जिसने पृथक द्रविड़नाडू (द्रविडों के राष्ट्र) की मांग की। इसी के प्रभाव के तहत पेरियार ने, जिन्होंने 20वीं सदी के तीसरे दशक में अपने राजनीतिक जीवन की शुरूआत एक राष्ट्रवादी कांग्रेसी के रूप में की थी, ने 15 अगस्त 1947 को भारत की आजादी मनाने का विरोध किया और इसे 'काला दिवस' अर्थात 'दुःख ओर सुख का दिन' कहा क्योंकि उनकी दृष्टि में इस दिन से उत्तर भारत के आर्यों, ब्राह्मणों और कांग्रेस का दक्षिण भारत के द्रविड़ एवं गैर–ब्राह्मणों पर शासन प्रारम्भ हो जायेगा।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस उग्रवादी रवैये के कारण द्रविड़ कजगम में दरार पड़ गयी और द्रविड़ मुनेत्र कजगम राजनीतिक रूप से अधिक लोकप्रिय साबित हुयी जिसने 1967 में अपनी सरकार बनायी। लेकिन, द्रविड़ कजगम की मांगे अब समाप्त नहीं हो गई है, वरन् अब वह क्षेत्रीय दल के स्थान पर क्षेत्रीय आन्दोलन बन गया ; जो क्षेत्रीय स्वतन्त्रता तथा बेहतर आर्थिक विकास की मांग रट लगायें हुये था। जातीय चेतना अन्य दलों के साथ–साथ कांग्रेस में भी फैल गई जो कि अब मद्रास की राजनीति का व्यवहारिक ढर्रा हो गयी है।

जबकि, पंजाब की राजनीति में बहुत से तत्वों के संयोजन के कारण एक विशेष प्रकार के ढाँचे का जन्म हुआ। धार्मिक विभाजन, आर्थिक विषमताओं और क्षेत्रीय विभिन्नता के कारण पंजाब के क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति में धर्म एक विशिष्ट तत्व के रूप में उभरा है। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ के समय पंजाब में तीन धार्मिक समूह थे– हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख। इनकी तीन भाषायें क्रमशः हिन्दी, उर्दू और पंजाबी तथा तीन लिपियां क्रमशः नागरी, अरबी और गुरूमुखी थी। जनसंख्या अथवा साम्प्रदायिकता किसी भी दृष्टि से कोई भी समूह विशेष राज्य पर नियन्त्रण करने की स्थिति में नहीं था। राज्य में हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख जनसंख्या का प्रतिशत क्रमशः 55प्रतिशत, 30 प्रतिशत और 13 प्रतिशत था। पंजाब के पश्चिमी क्षेत्र में जहां मुसलमानों का पूर्ण बहुमत था, वहीं पूर्वी हिस्से में

हिन्दुओं की प्रधानता थी और मध्य पंजाब मे तीनो धार्मिक सम्प्रदाय लगभग बराबर–बराबर बटे हुये थे। इस धार्मिक विभाजन के साथ–साथ यहां आर्थिक असमानता भी विद्यमान थी। असमान आर्थिक विकास ने पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों में धार्मिक वैमनस्य को बढावा दिया। जहा पश्चिमी और मध्य पजाब (जहाँ अधिकतर मुस्लिम जनसंख्या थी) आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। वही पूर्वी पजाब का क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से पिछडा था। इन आर्थिक विषमताओं को धर्म और जातिवाद के प्रभाव ने नया रग दे दिया। अंग्रेजों के आने के बाद एक नई प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा का जन्म हुआ जिसके कारण साम्प्रदायिकता केवल विकसित ही नहीं संगठित भी हुयी। व्यापारी तथा खेतिहर[1] जनता के बीच की इस खाई का शोषण करते हुये सरकार ने "फूट डालो और शासन करो" की नीति अपनायी। जातीय विभाजनों को बढाया गया और राजनीति को धार्मिक रंग में रंग दिया गया। सिक्ख और मुसलमान खेतिहर समूहों के प्रति क्षमाशीलता की नीति द्वारा सरकार ने हिन्दू व्यापारी समूहों के बीच यह विश्वास उत्पन्न कर दिया कि अंग्रेज धर्म के आधार पर विभिन्न समूहों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार कर रहे है। इस विश्वास के कारण हिन्दुओं के "आर्य समाज ने 'गोरक्षा' की अपील की तथा हिन्दी भाषा का देवनागरी लिपि में समर्थन किया।" इस प्रवृत्ति ने सिक्खों को हिन्दू सम्प्रदाय से और अधिक दूर करने का कार्य किया।

शहरी हिन्दू व्यापारी वर्ग और ग्रामीण मुस्लिम भू स्वामी वर्ग के बीच सिक्ख खेतिहर वर्ग के हित विभाजित हो जाने के कारण बींसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक साम्प्रदायिक शत्रुता तथा ग्रामीण–शहरी आर्थिक हित एक दूसरे से मेल खाने लगें फलस्वरूप पंजाब में साम्प्रदायिक हिसा पनपने लगी। ब्रिटिश सरकार ने 1890 मे 'भूमि अपहरण नियम' पास किया जिसने साम्प्रदायिक वैमनस्य को और बढ़ावा दिया। इसका सिक्ख किसानों ने जहाँ विरोध किया वहीं हिन्दू बुर्जुआजी के एक समूह ने ऐसा महसूस किया कि सरकार की नीतियां मुसलमान भूस्वामी और सिक्खों (किसानो) को अपने पक्ष में रखने की है। क्योंकि वह (सरकार) कांग्रेस के बढते प्रभाव को रोकना चाहती है तथा यह भी चाहती है कि ये सिक्ख और मुसलमान दोनो ही कांग्रेस में शामिल न होने पाये। इसका उन्होंने सीधा सा यह निष्कर्ष निकाला कि वह ब्रिटिश सरकार का सहयोग करें। फलतः हिन्दुओं के इस मध्य वर्ग ने हिन्दू सभा का निर्माण किया जिससे सार्वजनिक सेवाओं में हिन्दुओं के लिये अधिक भाग प्राप्त किया जा सके। किन्तु इसकी वजह से आर्थिक एवं राजनीतिक विकास में तथा कांग्रेसी कार्यकलापों में साम्प्रदायिकता पुनर्जीवित हो गई। कांग्रेसी अथवा अन्य वामपंथी नेतृत्व की अनुपस्थिति के कारण पीड़ित सिक्ख कृषकों की आवाज उठाने वाला पंजाब में लगभग कोई दल न था, इससे ब्रिटिश नीतियों के कारण गरीब हुये ये कृषक मध्यवर्गीय साम्प्रदायिक संगठनों की राजनीति का मोहरा बन गयें।

1909 के बाद साम्प्रदायिक आधार पर मतदान, स्थानीय संस्थाओं के क्रियाकलापों में वृद्धि, विधायी कौसिंलों के विस्तार तथा धार्मिक अल्पमतों की मान्यता ने सिक्खों को पृथक प्रतिनिधित्व की मांग के लिये उकसाया। 1919 के माण्टेंग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों में सिक्खों की इस मांग को स्वीकार

---

1. शहरी व्यापारी जातियों में अग्रवाल, अरोड़ा और खत्री मुख्य थे और खेती करने वालों में मुख्य सम्प्रदाय मुस्लिम और सिक्ख जातियों के थें।

कर लिया गया और उन्हें पंजाब में 18.3प्रतिशत सीटें प्राप्त हो गई, यद्यपि चीफ खालसा दीवान ने 30प्रतिशत सीटों की मांग की थी। परिणामों की निराशा तथा अपने प्रति एक समूह विशेष की भावना ने उग्र सिक्ख आन्दोलन को जन्म दिया जिसके कारण 1919 में "सेन्ट्रल सिक्ख लीग' का जन्म हुआ। लीग ने शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबन्धक कमेटी का निर्माण 1920 में किया, जिसका उद्देश्य गुरूद्वारों का प्रबन्ध करना था। इसी समय अकाली पार्टी का गठन भी हुआ जिसने गुरूद्वारों को महन्तों के प्रभुत्व से छुड़ाने के लिये अहम् भूमिका अदा की। इसके अलावा इसके राजनीतिक उद्देश्य भी थे। इसने कांग्रेस द्वारा "स्वराज के लिये संघर्ष" का न केवल समर्थन किया बल्कि सिक्ख कृषक वर्ग का संगठन भी किया। इसने सिक्ख मध्यवर्ग को राजनीति के नजदीक ला कांग्रेस के समानान्तर पंक्ति में खड़ा कर दिया। इसने धार्मिक राजनीतिक और गुरूद्वारा सुधारों पर विशेष बल दिया। इससे हिन्दुओं और सिक्खों के बीच खाई बढती गई और इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर साम्प्रदायिक राजनीति का आधार तैयार हो गया।

1906 में मुस्लिम लीग का आर्विभाव हुआ जिसने अपनी पृथकतावादी नीति के द्वारा साम्प्रदायिक राजनीति को बढ़ावा दिया। सिक्खों ने पाकिस्तान निर्माण के भय के कारण राष्ट्रवादी नेतृत्व और सरकार से भविष्य के लिये प्रचुर संरक्षण की मांग की। राजगोपालचारी प्रस्ताव के प्रति कांग्रेसी रवैये को देखते हुयें सिक्ख, संघवादियों और मुस्लिम लीग के साथ वार्तालाप के लिये उत्साहित हुये, क्योंकि राजगोपालचारी फार्मूले के द्वारा पंजाब का विभाजन इस प्रकार होना था कि मुस्लिम बहुमत वाले भाग को पाकिस्तान में शामिल होना था, जबकि अन्य जिले हिन्दुस्तान में रहने वाले थें। सिक्खों को यह बंटवारा सिक्ख समुदाय रूपी जीते जागते प्राणी के अंगों का बंटवारा लगा। अतः अकाली नेता हर प्रकार से सिक्खों को एक सूत्र में पिरोना चाहते थे जिससे बंटवारा न हो। संघवादियों और मुसलमानों के साथ सिक्खों के मतभेद का आधार वर्गीय था। उन्होंने सिक्खिस्तान की मांग की जिसमें आजाद पंजाब का क्षेत्र और विभिन्न सिक्ख शासित राज्यों को मिलाने की बात कही। इसके पीछे तर्क यह रखा गया कि जिन्ना की यदि मुसलमानों के लिये पृथक राज्य की मांग को माना जा सकता है तो सिक्खों के लिये वैसे ही अलग स्वतन्त्र राज्य का निर्माण क्यों नहीं किया जा सकता ? कैबिनेट मिशन के समय 1946 में 'अकाली दल' ने सिक्ख राज्य की मांग की। जब वे अपने इस मिशन में नाकामयाब रहे तो इन्होंने अतंरिम सरकार के समय कांग्रेस के विरूद्ध सावधानी बरतने की मांग शुरू कर दी। इस प्रकार पंजाब में धर्म और राजनीति एक दूसरे में बिल्कुल गड्ड–मड्ड हो गया और धार्मिक सम्प्रदायों के अविभाजित और संगठित सकेन्द्रण ने साम्प्रदायिक राजनीति को जन्म दिया। इसके कारण भारत में आजादी के पूर्व ही क्षेत्रीयतावाद की नींव रख गई, जो दुर्भाग्यवश आजादी के बाद के भारत की भी कहानी है। एक औद्योगिक पूंजीपति वर्ग एवं कांग्रेस की अनुपस्थिति के कारण पंजाब में राष्ट्रीय आन्दोलन शहरी हिन्दू व्यापारी और व्यावसायिक वर्ग के समर्थन पर आश्रित रहा। जो नवोदित बुर्जुआजी, भू–स्वामी और कृषक वर्ग के अन्तर्गत उभरी वह प्रान्तीय राजनीति को साम्प्रदायिक दलदल में फंसाने में व्यस्त हो गई। आजादी की प्राप्ति ने और अन्य राजनीतिक

आन्दोलनों ने इस धार्मिक आधार को राजनीति में और मजबूत कर दिया जिसके कारण राष्ट्रीय राजनीति और पंजाब की राजनीति पृथक हो गई।

स्वाधीन भारत में क्षेत्रीय आन्दोलन

1947 में जब भारत स्वतन्त्र हुआ तब देश में सैकडों की संख्या में छोटी–छोटी देशी रियासतें थी जिनकी अलग सार्वभौमिकता थी।[2] सरदार बल्लभ भाई पटेल की राजनीतिक सूझ–बूझ के परिणामस्वरूप देशी रियासतों के भारत संघ में विलय की समस्या आसानी से सुलझ गई। स्वतन्त्र भारत के इतिहास में यह प्रथम अति महत्वपूर्ण कार्य था जिसके बिना देश में प्रजातान्त्रिक संस्थाओं का विकास सम्भव नहीं था। देशी रियासतों का एकीकरण करते हुये संघ के राज्यों को चार श्रेणी में विभाजित किया गया।[3] भाग 'ए' में 216 देशी रियासतों तथा भाग 'बी' में 275 रियासतों का समामेलन किया गया।[4] हैदराबाद, मैसूर एवं जम्मू कश्मीर को भाग बी में स्थान दिया गया। भाग 'सी' में 61 देशी रियासतों को शामिल किया गया, जिन्हें संघ शासित क्षेत्र घोषित किया गया। भाग 'डी' में अण्डमान निकोबार द्वीप समूह को शामिल किया गया और इस प्रकार भारत के भौगोलिक मानचित्र का नया स्वरूप गठित हो सका। इतना ही नहीं, इस नीति ने सम्पूर्ण राष्ट्र को एक राजनीतिक संरचना के रूप में एकीकृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इससे सारी प्रशासनिक कमियां और वित्तीय जटिलतायें दूर हो गई और भारत एक सम्प्रभु, प्रजातान्त्रिक तथा कल्याणकारी राज्य घोषित हुआ।

भारत संघ में देशी रियासतों के विलय के बाद का गठन एक अस्थाई व्यवस्था थी। भारत संघ की इकाइयों के संघीकरण की दिशा में शीघ्र ही एक नये दृष्टिकोण की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। देश की राजनीतिक स्थितियों में भी नये परिवर्तन नजर आने लगे थे। आजादी के बाद भाषा के आधार पर उठा आन्ध्र आन्दोलन काफी व्यापक बना। आन्दोलन की परिणति वहां के नेता श्री रामुलु की अनशन के दौरान मृत्यु और तत्पश्चात् जे0वी0पी0 आयोग की रिपोर्ट के आधार पर 1953 में हैदराबाद और मद्रास राज्य के तेलगू भाषी क्षेत्र को मिलाकर भाग 'क' के आन्ध्र प्रदेश राज्य के गठन के रूप में हुयी। आन्ध्र प्रदेश के निर्माण के साथ ही सम्पूर्ण राष्ट्र की इकाइयों के पुनर्गठन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।[5] दिसम्बर 1953 में केन्द्र सरकार द्वारा राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की गई। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अपनी अनुशंसा में राज्यों की इस प्रकार की श्रेणियों को अनावश्यक बताया और इन 29 राज्यों को 16 राज्य और 3 केन्द्र शासित प्रदेशों में विभाजित करने की संस्तुति की।

---

2. भारत का जो भाग अंग्रेजों के सीधे शासन में था उसे ब्रिटिश भारत कहा जाता था इसके अलावा देशी राजाओं के शासन में करीब 500 छोटी बड़ी रियासतें थी। ये स्वतन्त्र राज्य नहीं; ब्रिटिश अधिपत्य के अन्तर्गत थे। किन्तु अंग्रेजों के हटने से भारत और पाकिस्तान को अपने आप इनके ऊपर अधिपत्य नहीं मिला। इसलिये देशी रियासतों को शेष देश में मिलाने की टेढ़ी समस्या पैदा हुयी। देशी रियासतों के भारत में विलय के लिये देखे– चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), *आजादी के बाद का भारत, 1947–2000*, दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृ0 94–101 ।
3. देखे इसी शोध ग्रन्थ का परिशिष्ट 'ड.'।
4. भाग 'ए' में वे राज्य थें जो ब्रिटिश काल में प्रान्त कहलाते थे और यहां के प्रमुख गर्वनर कहलाते थे। जबकि भाग 'बी' में देशी राज्यों को एकीकृत कर बनाये गये राज्य थे।
5. भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के विषय में विस्तार से जानने के लिये देखे इसी शोध ग्रन्थ का अध्याय तीन।

राज्य पुनर्गठन आयोग के प्रतिवेदन को कतिपय संशोधनो के साथ स्वीकार करते हुये संसद ने 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत चौदह पूर्ण राज्य और 6 केन्द्र शासित प्रदेशों का गठन किया गया।[6] राज्य पुनर्गठन अधिनियम 1956 के अस्तित्व में आने के बाद इस समस्या के स्थाई समाधान का दावा भले ही सरकार द्वारा किया जाता रहा है तथापि पुनर्गठन से सम्बन्धित नई–नई समस्यायें आती गई। 1954 मे फ्रास से हस्तान्तरण के बाद फ्रांसीसी उपनिवेश चन्द्रनगर, माहे, यनाम तथा कारेकल को भारतीय राज्यो में मिलाकर 1962 मे पाण्डिचेरी नाम से सघ शासित क्षेत्र का दर्जा दिया।[7] दिसम्बर 1961 मे पुर्तगाली उपनिवेश को एक सैन्य कार्यवाही द्वारा मुक्त कराकर गोवा, दमन दीव नामक संघ शासित क्षेत्र की रचना की गई।[8] इन्हीं दिनों गुजराती एवं मराठी भाषी क्षेत्र बम्बई राज्य में भाषायी आधार पर विवाद के कारण 1960 मे गुजरात का गठन किया गया।[9] 1970 के प्रारम्भिक वर्षों में मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में अकाली दल ने सिक्खिस्तान की मांग रखी। यद्यपि यह मांग तो नहीं स्वीकार की गई तथापि 1966 में पंजाब से हरियाणा को अलग कर दिया गया और चण्डीगढ को संघ शासित क्षेत्र का दर्जा प्रदान करते हुये दोनों राज्यों की संयुक्त राजधानी बनाई गई।[10] 1985 में राजीव गांधी लोगोंवाल समझौते के अन्तर्गत पंजाब को चण्डीगढ़ तथा हरियाणा के जुड़े पंजाब के हिन्दी भाषी क्षेत्र हरियाणा को देने पर सहमति हुयी[11] लेकिन आज तक इसे अमली जामा न पहनाया जा सका।[12] संघ शासित क्षेत्र हिनाचल प्रदेश को कांगड़ा के कुछ क्षेत्र दिये गये। 1963 में असन्तुष्ट नागाओं को शान्त करने के लिये असम राज्य के अधीन स्थित "नागा पहाड़ी एवं त्युएनसांग क्षेत्र को मिलाकर नागालैण्ड राज्य का गठन किया गया।[13] 1969 में असम को पुनः विघटित कर मेघालय नामक स्वशाषी उप राज्य का गठन किया गया।[14] 1971 में हिमाचल प्रदेश

---

6. देखे इसी शोध ग्रन्थ का परिशिष्ट 'ड.' ।
7. पांडिचेरी की फ्रांसीसी बस्ती (करायल, माहे और यनाम सहित) जिसे 1954 में फ्रांसीसी सरकार ने भारत को अध्यार्पित किया था, 1962 तक 'अर्जित राज्यक्षेत्र' के रूप में प्रशासित किया जा रहा था क्योकि अध्यर्पण सन्धि को फ्रांसीसी संसद ने अनुमोदित नहीं किया था। अनुमोदन के पश्चात् फ्रांसीसी बस्तियों का यह राज्य क्षेत्र दिसम्बर 1962 में संघ राज्य क्षेत्र बन गया– बसु, डी0डी0, (1994), *भारत का संविधान एक परिचय,* नई दिल्ली, प्रेस्टिस हाल आँफ इण्डिया प्रा0लि0 पृ0 66 । संविधान (चौदहवां संशोधन) अधिनियम, 1962 ।
8. संविधान (बारहवाँ संशोधन) अधिनियम, 1962 ।
9. बम्बई पुनर्गठन अधिनियम, 1960 ।
10. पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 ।
11. स्टेट्समैन, 26.07.1985 ।
12. पंजाब करार से पंजाब समस्या का हल नहीं निकला कारण यह था कि–
    (क) मुख्यमंत्री (सुरजीत सिंह बरनाला) सरकारिया आयोग के समक्ष राज्य का पक्ष प्रस्तुत नहीं कर सके।
    (ख) चण्डीगढ़ के बदले में पंजाब के जो हिन्दी भाषी क्षेत्र हरियाणा को दिये जाने थे उनकी पहचान करने के लिये जो आयोग बना था वह अपना कार्य पूरा नहीं कर सका क्योंकि पंजाब सरकार ने उसके समक्ष बार–बार आक्षेप उठाये।
    (ग) नवम्बर 1989 के निर्वाचन में मान ग्रुप के जो लोग संसद के लिये निर्वाचित होकर आये थे वे नित्य नई–नई मांगे प्रस्तुत करते थे। इसके कारण राष्ट्रीय मोर्चा सरकार से कोई भी मैत्रीपूर्ण समझौता नहीं हो पाया।
    (घ) आतंकवाद यथावत् चलता रहा।– बसु, डी0डी0, (1994), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 392 ।
13. नागालैण्ड राज्य अधिनियम, 1962 ।
14. असम पुनर्गठन (मेघालय) अधिनियम, 1969 ।

को राज्य का (पंच राज्य) स्तर प्रदान किया गया[15] तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र को पुनर्गठित कर मेघालय को पूर्ण शासित क्षेत्र के रूप मे मिजोरम एवं अरूणाचल प्रदेश का आविर्भाव हुआ।[16] 1986 में केन्द्र सरकार का लालडेंगा से समझौता हुआ जिसके परिणामस्वरूप मिजोरम को देश के 23वें राज्य के रूप में मान्यता मिली।[17] 1986 में अरूणाचल प्रदेश[18] एव 1987 में गोवा को राज्य का दर्जा प्रदान किया गया।[19] 1974 में सिक्किम को सहयोगी राज्य का दर्जा प्रदान किया गया था[20] जिसे बाद में पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया।[21]

फिर भी राज्यों का भाषायी और दूसरे आधार पर पुनर्गठन हो जाने के बाद उन क्षेत्रो मे जो पुनर्गठन के वक्त अपने मूल राज्यों से जुड़े थे, वहां अलग राज्य की मांग हो रही है। राज्यों के पुनर्गठन एवं पृथक राज्य की स्थापना की मांग के समर्थन मे देश में उत्तरांचल, छत्तीसगढ एवं झारखण्ड के अलावा विदर्भ, गोरखालैण्ड, बोडोलैण्ड, तेलगाना, मराठवाड़ा, रूहेलखण्ड, महाकौशल, कोडागू, मिथिलाचल, सीमांचल, भोजपुरी, हरित प्रदेश, गारोलैण्ड, रूहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड आदि आन्दोलन चल रहे हैं।

सारणी 4.1

प्रस्तावित पृथक राज्य आन्दोलन एवं उनकी वर्तमान स्थिति

आन्दोलन	सम्बन्धित क्षेत्र/प्रदेश	आन्दोलन	सम्बन्धित क्षेत्र/प्रदेश
लद्दाख	लद्दाख	तेलंगाना	आन्ध्र प्रदेश
विदर्भ	म0प्र0एवं महाराष्ट्र	मराठवाड़ा	महाराष्ट्र
कोडागू	कर्नाटक	महाकौशल	उड़ीसा
पांडिचेरी	पांडिचेरी	रूहेलखण्ड	उ0प्र0
मिथिलाचंल	बिहार	बुन्देलखण्ड	उ0प्र0 एवं म0प्र0
गोरखालैण्ड	पं0बंगाल	बघेलखण्ड	उ0प्र0
बोडोलैण्ड	असम	मालवांचल	म0प्र0
ग्रेटर नागालैण्ड	मणिपुर	मध्यांचल	बिहार
गारोलैण्ड	मेघालय	मारूच	राजस्थान
मालवा	म0प्र0	सीमांचल	बिहार
किसान/हरित प्रदेश	उ0प्र0	भोजपुरी	बिहार

वर्तमान में इन आन्दोलनों की गति कुछ स्थिर हो चली थी। परन्तु केन्द्र की राज्य सरकार द्वारा उत्तराचंल, वनांचल एवं छत्तीसगढ़ को राज्य का दर्जा दिये जाने से इन आन्दोलनों की गति पुनः कुछ तीव्र हुयी है। इनमें से कुछ प्रमुख आन्दोलनों यथा–बुन्देलखण्ड, पूर्वांचल, विदर्भ, बोडोलैण्ड

15. हिमाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1970 ।
16. पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 ।
17. मिजोरम राज्य अधिनियम, 1986 ।
18. अरूणाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1986 ।
19. गोवा दमन दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 ।
20. पैतीसवाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1974 ।
21. छत्तीसवां संविधान संशोधन अधिनियम, 1975 ।

एवं गोरखालैण्ड का नवीन राज्यों वनांचल एवं छत्तीसगढ सहित अध्ययन निम्नवत् है। नवगठित राज्य उत्तराचंल का विस्तृत अध्ययन अध्याय–पाँच में किया गया है।
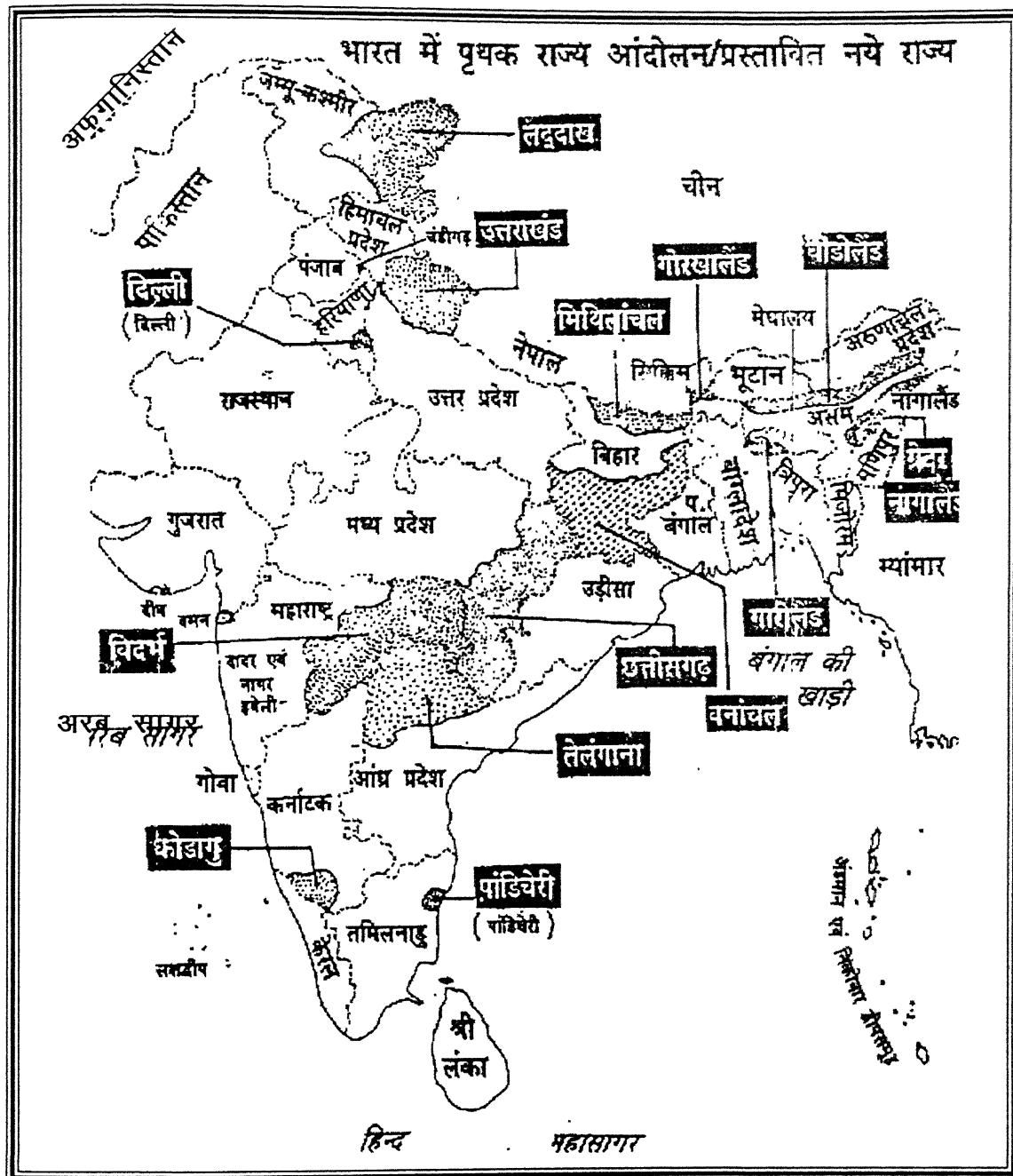
(मानचित्र– 4.1)

झारखण्ड / वनांचल–

झारखण्ड राज्य का उदय बिहार के विभाजन से हुआ है। 15 नवम्बर 2000 को झारखण्ड राज्य अस्तित्व में आया। झारखण्ड आन्दोलन का सूत्रपात 1920 में 'छोटा नागपुर उन्नत समाज' की स्थापना के साथ ही हो गया था। 1928 में इस संगठन ने साइमन कमीशन से आदिवासियों को विशेष अधिकार दिये जाने की मांग की। 1939 में जयपाल सिंह मुण्डा ने 'आदिवासी महासभा' नामक संगठन का नेतृत्व सम्हाला तथा झारखण्ड क्षेत्र को पूर्ण राज्य का दर्जा दिये जाने की मांग की।[22]

22. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, फरवरी 1996, पृ0 23 एवं नवम्बर 1996, पृ0 14 ।

1948 में जमशेदपुर अधिवेशन में संयुक्त झारखण्ड पार्टी की स्थापना हुयी, जिसने 1952 के चुनाव में पृथक राज्य की मांग को लेकर चुनाव लड़ा।[23] 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग ने पृथक झारखण्ड की मांग को इस दृष्टि से अस्वीकृत कर दिया कि राज्यों का पुनर्गठन भाषायी आधार पर हो रहा है और झारखण्ड को भाषायी आधार पर राज्य नहीं माना जा सकता।[24] तब से लगातार झारखण्ड आन्दोलन से जुड़े विभिन्न संगठन पृथक राज्य की मांग करते रहे हैं। 1975 में शिबू शोरेने, ए0के0राय व विनोद बिहारी महतो ने झारखण्ड मुक्ति मोर्चा का गठन किया जिससे इसमें फिर उभार आया। 1986 में ऑल झारखण्ड स्टूडेन्ट्स यूनियन का गठन हुआ तो इसकी गति तेज हो गई है। 1989 में केन्द्र सरकार ने राजीव गांधी की अध्यक्षता में झारखण्ड मामले पर एक समिति बनाई जिसकी सिफारिश पर राज्य विधानमण्डल ने 1991 में झारखण्ड क्षेत्र स्वशाषी परिषद की स्थापना के लिये सर्वसम्मति से विधेयक पारित किया।[25] अन्ततः अप्रैल 2000 में विधान मण्डल ने और 2 अगस्त 2000 को लोकसभा ने बिहार पुनर्गठन विधेयक– 2000 पारित कर दिया।

हालांकि झारखण्ड राज्य की मूल परिकल्पना में बिहार के मौजूदा 18 जिलों के क्षेत्रों के अलावा पं0 बंगाल के पुरूलिया, बाकुंरा एवं वीरभूमि, म0प्र0 के रायगढ़ सरगुजा और उडीसा के मयूरगंज, क्योंझर, सुन्दरगढ एवं सम्भलपुर जिले थे पर झारखण्ड राज्य का निर्माण केवल बिहार के 18 जिलों को मिलाकर ही हो रहा है। स्वप्न की इस खण्डित पूर्ति के बावजूद यह निर्विवाद झारखण्ड क्षेत्र की जनता की उम्मीदों की एक नई शुरूआत है।
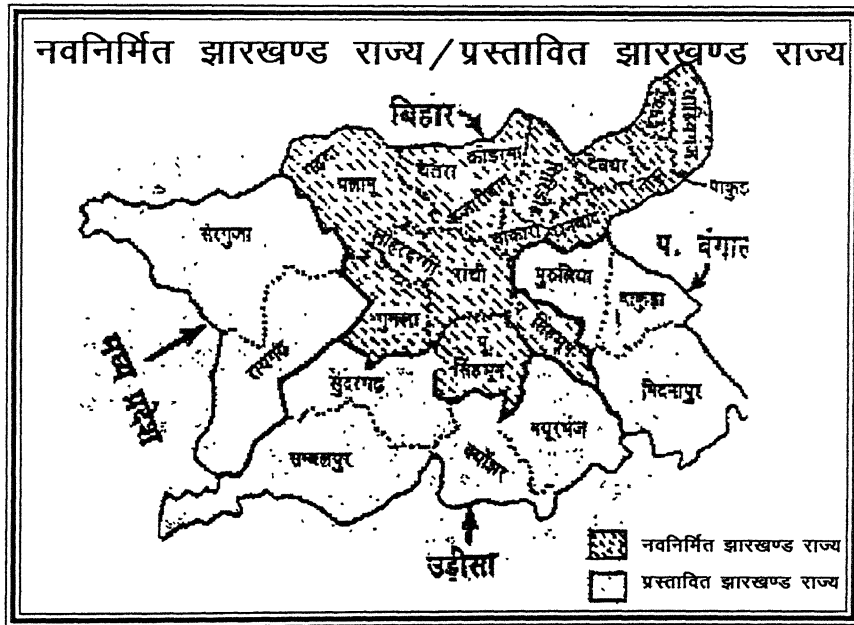
(मानचित्र–4.2)

वास्तव में झारखण्ड राज्य की आकांक्षा आकस्मिक रूप से नहीं फूट पड़ी थी। इसके ठोस ऐतिहासिक कारण रहे है। झारखण्ड के मूल निवासियों का अस्तित्व और सांस्कृतिक पहचान ने ही

23. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, फरवरी 1996, पृ0 23 एवं नवम्बर 1996, पृ0 14 ।
24. तदैव
25 इण्डिया टूडे, 16 अगस्त 2000, पृ0 30 ।

झारखण्ड के आन्दोलन को जन्म दिया है। अंग्रेजीराज कायम होने के बाद से झारखण्ड में वहॉ के मूल निवासियों, मुख्यतः संथाल, मुंडा उरांव, खरिया और कोरबा जैसी आदिवासी जातियां और इन्हीं के साथ बाद में आकर बस गई कुर्मी–महतो तथा कई सदान और दलित जातियों के हाथों से उनकी जमीन छीनी जाने और जंगल से इनके अधिकार हडपे जाने की समस्या उठ खड़ी हुयी थी जो लगातार बढती ही गई है।[26] फलस्वरूप कई जगहों पर स्थानीय विद्रोह हुये जमीन और जंगल के सवाल पर ही आजादी के बाद भी वहां जनान्दोलन जारी रहे। इस पूरी समस्या के पीछे झारखण्ड में लगातार बाहरी लोगों का आना था जिन्होंने वहॉ के मूल निवासियों की जमीनों पर कब्जा कर लिया।[27] जंगल काटने का ठेका लेकर जंगलात को तहस–नहस किया। सबसे ज्यादा बाहरी आबादी तो खदानों, कारखानों और सरकारी कार्यालयों के खुलने से वहां पहुंची। फलस्वरूप झारखण्ड की परम्परागत अर्थव्यवस्था तो छिन्न–भिन्न हो ही गयी, वहां की जनसंख्या का अनुपात और संतुलन भी बिगड गया। इससे एक सांस्कृतिक संकट पैदा हुआ। यहाँ के आदिवासियों ने अनुभव किया कि अपने ही क्षेत्र में वे बेगाने बनते जा रहे हैं। इस इलाके के तमाम संशाधनों पर 'बाहरी लोगों, जिन्हें आदिवासी 'दिकू' कहते हैं का कब्जा होता जा रहा है। यह प्रक्रिया आजादी के पहले और बाद में भी जारी रही है। नतीजतन, स्थानीय आदिवासी आबादी काम–धन्धे की तलाश में बड़ी संख्या में बाहर जाने को मजबूर होती रही है। इसका इस क्षेत्र की जनसांख्यकीय संरचना पर जर्बदस्त प्रभाव पड़ा है। इस क्षेत्र की आबादी में कभी बहुमत संथाल, मुंडा, ओराव खरिया आदि जनजातियों का था। पर आज हालात यह हैं कि एक तरफ बाहरी लोगों के आ बसने एवं दूसरी तरफ खुद आदिवासियों के बाहर जाने पर बाध्य होने से अब अपने ही इलाके में आदिवासी आबादी अल्पसंख्यक हो गयी हैं। आज झारखण्ड राज्य बनाने के साथ ऐसी कोई शर्त जुड़ी नहीं दिखाई देती जो वहाँ की आबादी के बिगड़ते स्वरूप के प्रति संवेदनशील हो।

संविधान में जनजातीय इलाकों के लिये प्रयुक्त धारा में जनजातीय इलाकों की आबादी के परम्परा से चले आ रहे अनुपात और संतुलन को बनाये रखने के लिये कुछ प्रावधान तय है ताकि, आदिवासी मूल निवासी अल्पसंख्यक स्थिति में न चले जाएं।[28] इन प्रावधानों को केन्द्र सरकार ने उत्तर–पूर्व के नागालैण्ड, अरूणाचल, मिजोरम जैसे राज्यों में लागू भी किया हुआ है। सच पूछा जाए तो इन प्रावधानों की सबसे ज्यादा जरूरत झारखण्ड में है क्योंकि पिछले सौ वर्षों से यहाँ के मूल निवासियों की आबादी का अनुपात लगातार घटता गया है। जिसकी सम्भावना आगे भी दिखाई देती है। जिन राजनीतिक दलों के हाथ में झारखण्ड राज्य जाता दिख रहा है उनका मुख्य आधार वास्तव में झारखण्ड के बाहर है। इनकी निष्ठायें बाहरी लोगों के प्रति अधिक है इसलिये यह समस्या अपने आपमें जस की तस खडी है कि ये दल क्या झारखण्ड की आबादी के सवालों को सुलझा भी पायेंगे या नहीं?

आबादी के दृष्टिकोण से देखा जाय तो वास्तव में झारखण्ड राज्य बनने का उद्देश्य पूरा हुआ ही नहीं है। झारखण्ड की मांग वहाँ के मूल निवासियों की राजनीतिक स्वायत्तता की मांग है। यह

26. तलवार, वीर भारती (19 अगस्त 2000), *"असली झारखण्ड अभी बाकी है"*, राष्ट्रीय सहारा, हस्तक्षेप, पृ0 3 ।
27. तदैव ।
28 भारतीय सविधान, भाग–10, अनुच्छेद 244, 244 क ।

स्वायत्तता आज झारखण्ड के सिर्फ एक हिस्से को दी गई है और उसके मूल निवासी अब भी पहले की तरह चार अलग राज्यों में विभाजित हैं। झारखण्ड राज्य की मांग इन सबको मिलाकर बनाने की थी जो पूरी नहीं की गई है। इसलिये यह समस्या आगे फिर उठेगी।[29]

आदिवासियों की घटती आबादी केवल इस बात का प्रतीक नहीं है कि उनकी पारम्परिक सांस्कृतिक पहचान के 'दिक् सांस्कृतिक पहचान' में समाहित हो जाने का खतरा पैदा हो गया है, बल्कि यह भी कि इस क्षेत्र के तमाम उपलब्ध रोजगारों में उनके लिये कोई जगह नहीं रही है। कहने को तो सारी दुनिया जानती है कि झारखण्ड एक अत्यन्त खनिज सम्पदा सम्पन्न क्षेत्र हैं। यहाँ देश का 37.5 प्रतिशत कोयला भण्डार, 90 प्रतिशत कोकिंग कोल भण्डार, 40 प्रतिशत ताँबा भण्डार, 22 प्रतिशत लौह अयस्क भण्डार और 90 प्रतिशत अभ्रक, बाक्साइट आदि मौजूद है। इस पृष्ठभूमि में इस इलाके में अनेक बड़े उद्योग–धन्धे शुरू हुये। पर इनसे स्थानीय आबादी को नगण्य लाभ ही हुआ। इस इलाके के उद्योगों में श्रम की स्थिति पर एक अध्ययन में कहा गया है– "इस क्षेत्र में शुरू हुये बडे पैमाने के उद्योग कुल मिलाकर बिहार के 65 प्रतिशत औद्योगिक मजदूरों को काम देते हैं। लेकिन महज 5 प्रतिशत आदिवासी यहाँ की औद्योगिक शहरी इकाइयों में मौजूद है। इसलिये, ये औद्योगिक इकाइयां स्थानीय आदिवासी आबादी को लाभकारी रोजगार मुहैया करने में मद्दगार साबित नहीं हुयी है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों सहित इन उद्योगों में भर्ती प्रक्रिया का पक्षपात स्थानीय लोगों को इस बहाने बाहर रखने की ओर है कि वे उस काम के लिये जिसकी जरूरत है, पर्याप्त योग्यता नहीं रखते। चूंकि यें इकाइयां उस जमीन पर पनपी हैं जो परम्परागत रूप से आदिवासियों की रही है, इसलिये उन्हें बेदखली का सामना करना पड़ता है और खेत– मजदूरों की कतारों में शामिल होना पड़ता है। इन उद्योगों में बाहरी लोगों के आने से आदिवासी आबादी की ताकत और घटी है।" कहने की जरूरत नहीं कि इन स्थितियों में जहाँ आर्थिक लूट–खसोट के प्रति आदिवासियों में एक आक्रोश पैदा हुआ, वहीं जनजातीय अस्मिता पर घिरते संकट के प्रति उनमें एक गहरी बेचैनी का एहसास जगा। पूरा झारखण्ड आन्दोलन अपने विभिन्न रूपों एवं पड़ावों के दौरान इन्हीं भावनाओं की अभिव्यक्ति था।

मौजूदा राजनीतिक शक्तियों से उन स्वप्नों के पूरा होने की कोई उम्मीद नहीं बंधती जो स्वप्न झारखण्ड आन्दोलन का लक्ष्य था। फिर भी इस बात की उम्मीद की जा सकती है कि शोषण की यह व्यवस्था जल्द ही अपने प्रतिरोध को जन्म देगी जो राज्य को विकास पथ पर ले जाने जाने के लिये प्रकाश किरण का कार्य करेगी।

छत्तीसगढ़–

> "एक विशाल सुखी व गौरवशाली प्रान्त के लिये यहाँ सभी साधन उपलब्ध है। मालवा, छत्तीसगढ़, नर्मदा क्षेत्र इस प्रदेश के अन्न भण्डार हैं और छत्तीसगढ़ एवं विंध्यक्षेत्र खनिज भण्डार ... हर तरह से यह प्रदेश कामधेनु है। यहाँ का सांस्कृतिक वैभव देश की अमूल्य सम्पदा है।"

29. जैसा कि झारखण्ड पार्टी (होरो) के अध्यक्ष एन0ई0होरो का कहना है, "हमारा सपना तो बिहार, पं0 बंगाल, उड़ीसा और म0प्र0 के 26 जिलों को मिलाकर झारखण्ड राज्य बनाना था, यह तो केवल बिहार विभाजन है।" – इण्डिया टूडे, 16 अगस्त 2000, पृ0 31 ।

1 नवम्बर 1956 को मध्य प्रदेश के पितामह व प्रथम मुख्यमंत्री पं0 रविशंकर शुक्ल के उक्त उद्गारों के साथ मध्य प्रदेश ने अपनी विकास यात्रा शुरू की किन्तु दुर्भाग्य से स्वतन्त्र भारत का यह सबसे विराट प्रदेश एक असफल प्रयोग साबित हुआ। मध्य प्रदेश को छत्तीसगढ व शेष मध्य प्रदेश में विभाजित करने की राजनीतिक महत्वाकांक्षा इस असफलता का उद्घोष करती प्रतीत होती है। पूर्व राष्ट्रपति डॉ0 शंकर दयाल शर्मा के अनुसार आधुनिक भारत के निर्माता प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने विशाल मध्य प्रदेश का मानचित्र देखकर इसकी रंचना को असंगत व बेतुका बताया था। वर्तमान में पृथक छत्तीसगढ राज्य के निर्माण से पं0 नेहरू की यह आशंका सत्य साबित हुयी है।

पौराणिक कथाओ के मुताबिक जरासध के समय कर्मकारों के छत्तीस परिवार उसके राज्य के दक्षिणी हिस्सें में चले गये थे जहा उन्होने पृथक राज्य की स्थापना की। तब उसे 'छत्तीस घर' का नाम दिया गया था, जो बाद में छत्तीसगढ हो गया। जनश्रुति में वर्णित वही छत्तीसगढ आज नये राज्य के रूप में अस्तित्व में है। यों तो साहित्य परम्परा में छत्तीसगढ का उल्लेख सर्वप्रथम खैरागढ के राजा लक्ष्मीनिधि राय के चारण कवि दलपत राय द्वारा 1497 में किया गया था। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद 1964 में छत्तीसगढ की मांग पहली बार स्पष्ट रूप से मुखरित हुयी। छत्तीसगढ क्षेत्र 1818 तक मराठों के हाथ में रहा। 1818 में मराठों पर विजय प्राप्त कर अंग्रेजों ने इस पर अपना अधिपत्य जमाया और अंग्रेज सुपरिडेट एग्न्यू को इस क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त किया। एग्न्यू के काल में ही छत्तीसगढ क्षेत्र की राजधानी रतनपुर से रायपुर स्थानान्तरित की गई। 1861 में सेन्ट्रल प्रोविन्सेस में छत्तीसगढ़ को शामिल किये जाने के साथ ही पृथक छत्तीसगढ राज्य की जनभावना का उदय हुआ तथा 1924 में पहली बार रायपुर जिला कांग्रेस कमेटी द्वारा छत्तीसगढ राज्य के गठन की मांग की गई। इसके बाद जबलपुर के त्रिपुरी सम्मेलन (1939) में भी यह मांग उठी। 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग के समक्ष भी पृथक छत्तीसगढ राज्य के लिये प्रतिवेदन प्रस्तुत किय गयें ; परन्तु मध्य प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री रविशंकर शुक्ल से किसी भी तरह का सहयोग न मिलने के कारण वह मांग दब गई। बाद में उनके उत्तराधिकारियो विद्याचरण शुक्ल एवं श्यामाचरण शुक्ल द्वारा भी इस कार्य में कोई रूचि नहीं दिखाई गई। राज्यसभा सदस्य डॉ0 खूबचन्द्र बहेल ने 1967 मे पृथक छत्तीसगढ़ की विचारधारा को सर्वप्रथम अभियान एंव जन आन्दोलन का रूप दिया तथा छत्तीसगढ़ भ्रात संघ का गठन किया। बाद में पवन दीवान द्वारा छत्तीसगढ़ की मांग दोहरायी गई। परन्तु कांग्रेसी सांसद बन जाने के कारण उन्होंने स्वयं को इस आन्दोलन से अलग कर लिया। पवन दीवान द्वारा पृथक छत्तीसगढ पार्टी का भी गठन किया गया था जिसका अस्तित्व समाप्त हो चुका है।[30]

1977 तक शेष मध्य प्रदेश व छत्तीसगढ का विकास समान रूप से होता रहा अतः पृथक छत्तीसगढ की मांग सीमित रही किन्तु इसके पश्चात् असमान विकास के चलते यह मांग पुनः जोर पकड़ने लगी। फलस्वरूप कांग्रेस ने 1993 के विधानसभा चुनाव में इस मुद्दें को अपने घोषणा पत्र में शामिल किया।[31] 4 मार्च 1994 को मालवा अंचल की आगर विधान सभा सीट के प्रतिनिधि भाजपा विधायक श्री गोपाल परमार ने पृथक छत्तीसगढ राज्य का संकल्प पत्र प्रस्तुत किया, जिसे 18 मार्च 1994 को विधानसभा

30. परीक्षा मंथन (1998–99), भाग–3, इलाहाबाद, पृ0 178 ।
31. इण्डिया टूडे, 15 अक्टूबर 1996, पृ0 36 ।

द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। तत्पश्चात 1998 के लोकसभा चुनाव मे भाजपा ने भी नये राज्य के गठन को अपने घोषणा पत्र में शामिल किया था। अन्ततः राजग सरकार द्वारा प्रस्तुत मध्य प्रदेश पुनर्गठन विधेयक 2000 के लोकसभा तथा राज्य सभा मे पारित होने और [illegible] द्वारा अनुमति दिये जाने के बाद 1 नवम्बर 2000 को छत्तीसगढ राज्य अस्तित्व मे आ गया।

किसी राज्य के पृथक्करण के पीछे दीर्घकालीन आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक शोषण होता है, जिससे शनैः–शनैः क्षेत्रीय असन्तोष जन्म लेता है। जिसका सामयिक [illegible] न होने पर जन आक्रोश के फलस्वरूप पृथक राज्य की कामना का उदय होता है। छत्तीसगढ राज्य की माग जो अपनी भाषा, बोली, रहन–सहन, विशिष्ट संस्कृति के संरक्षण, धीमा औद्योगिक विकास, क्षेत्रीय विषमता, निम्न सामाजिक आर्थिक स्थिति, म0प्र0 की प्रशासनिक राजधानी भोपाल से क्षेत्र की अधिक दूरी, स्थानीय लोगों में बढ़ती बेरोजगारी, अशिक्षा आदि के कारण उपजी है ; इसी मूल बिन्दु को स्पष्ट करते हैं। विशाल भू क्षेत्र एवं अत्यधिक आबादी इस पृथक राज्य की माग के अन्य कारण रहे हैं।

नयें छत्तीसगढ़ राज्य में 16 जिले–बस्तर, बिलासपुर, दडेवाडा, धमतरी, दुर्ग, जांजगीर–चापा, जशपुर, काकेंर, कवर्धा, कोरबा, कोरिया, महासमुन्द, रायगढ, रायपुर, राजनादगांव और सरगुजा स्थित है। छत्तीसगढ़ की जनसंख्या 1,76,14,928 और क्षेत्रफल 1,46,361 वर्ग किमी0 है। छत्तीसगढ में 146 विकासखण्ड, 95 शहर तथा 20378 गांव है जिनमे से 19,720 आबाद है। छत्तीसगढ मे शहरी साक्षरता की दर 79.23 प्रतिशत तथा ग्रामीण साक्षरता का प्रतिशत 36.56 है। म0प्र0 की लोकसभा
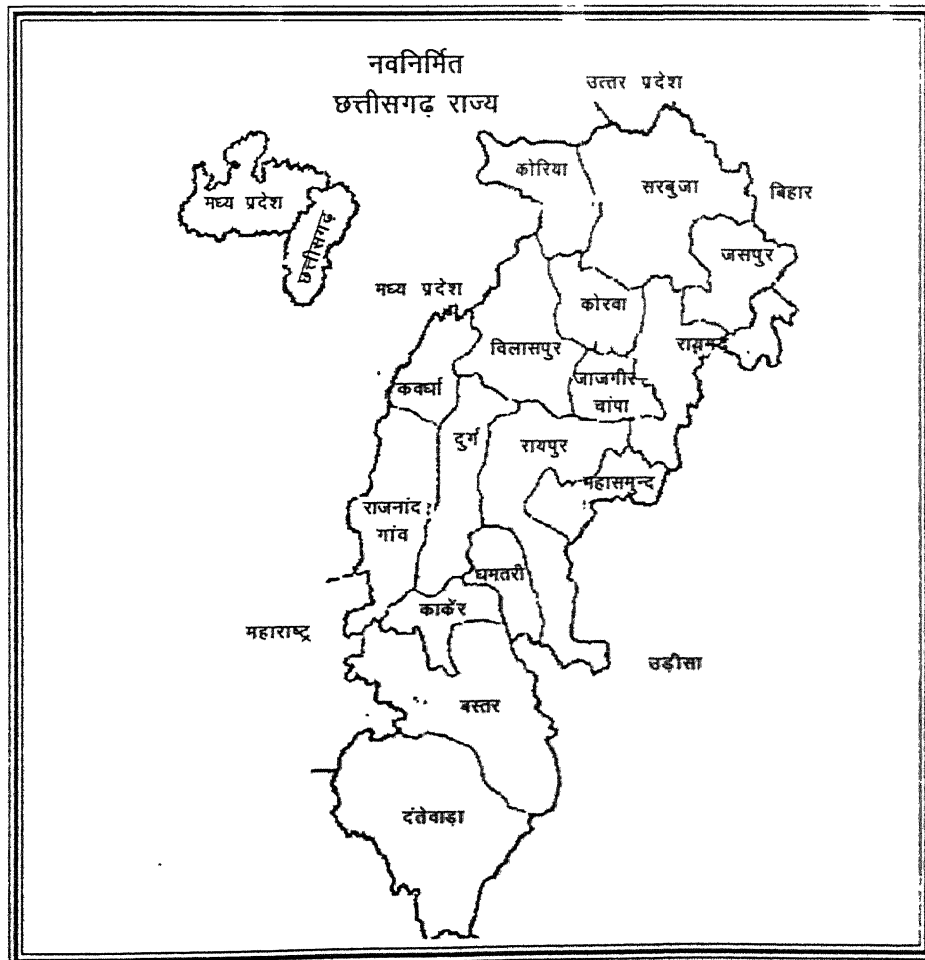
(मानचित्र–4.3)

की 40 सीटों, राज्य सभा की 12 सीटों और विधानसभा की 320 सीटों में से छत्तीसगढ के हिस्से में लोकसभा की 11 सीटे, राज्य सभा की 5 सीटे और विधानसभा की 90 सीटे आयी है।

छत्तीसगढ अपने जन्म के साथ ही एक कर्जदार प्रदेश हैं जिसे लगभग 6 हजार करोड रूपये का कर्ज विरासत में मिला है। इसकी कुल राजस्द प्राप्ति 1,343 करोड रू0 हैं जबकि नये राज्य को अपना कामकाज तत्काल शुरू करने के लिये 2000 करोड रू0 की और आवश्यकता होगी।

देश का धान का कटोरा कहा जाने वाला छत्तीसगढ अतुल प्राकृतिक सम्पदाओं, खूबसूरत वनों, प्राचीन आदिवासी संस्कृति और अद्वितीय पुरातात्विक वैभव के लिये जाना जाता है। हीरे, कोयले और पत्थर की अनगिनत उत्कृष्ट किस्मों से छत्तीसगढ की धरती भरी पडी है। बस्तर का हीरा, ग्रेनाइट और संगमरमर दुनिया मे मशहूर है तो कोरबा के लोहे पर जापान के कई कल–कारखाने निर्भर करते हैं। यह एक ऐसा अकेला इलाका है जिसकी नदी के रेत में कभी–कभी स्वर्णकण मिल जाता है। साल सागौन के वृक्षों पर तो पूरे भारत की नजर रहती है। यह क्षेत्र 1,500 से अधिक किस्म के चावल पैदा करता है, जिस पर आधारित 600 चावल मिले हैं।[32] यहां की 85 प्रतिशत जनता कृषि पर आधारित हैं। यह भिलाई इस्पात सयन्त्र, भारत एल्युमिनियम कम्पनी जैसे भारी उद्योगों, कई ताप बिजलीघरों और सीमेन्ट कारखानों का घर भी है। मध्य प्रदेश के कुल वन क्षेत्र का 43.85प्रतिशत इसी इलाके में है।[33] छत्तीसगढ के जंगल देश में तेंदू (बीडी) पत्ते की कुल जरूरत का 70 प्रतिशत से अधिक पूरा करते हैं।[34]

इसके बावजूद यह इलाका पिछड़ा और गरीब है और अज्ञानता के अन्धेरे में दो तिहाई आबादी डूबी हैं । इसकी कुल सडकों का महज 20 प्रतिशत हिस्सा पक्का है और केवल 32 प्रतिशत घरों में बिजली है।[35] हकीकत यह है कि खनिजों से मिलने वाले राजस्व का बडा हिस्सा केन्द्र की झोलीं में चला जाता है।

ऐसा नहीं है कि स्वतन्त्रता बाद के पचास वर्षों में छत्तीसगढ ने विकास यात्रा पर एक भी पग नही बढी हैं। समय के साथ उन्नति हुयी है, वहा भी सड़कों का जाल बिछा है, रेल की पटरियॉ **बढ़ी** और नगरीय क्षेत्रों में आसमान छूती भव्य इमारतों के जंगल खड़े हो गये। देश का शायद ही ऐसा कोई औद्योगिक घराना हो, जिसने छत्तीसगढ़ में अपना कारखाना न खोल रखा हों, फिर भी छत्तीसगढ आज भी उपेक्षित और अविकसित है। लाखों करोड़ों टन लोहा, कोयला और लकड़ी कट जाने के बाद भी छत्तीसगढ़ के मूल निवासी के तन पर लंगोटी हैं, जो विकास हुआ है, वह या तो बाहरी लोगों का हुआ है अथवा स्वार्थी और भ्रष्ट अफसरों का। व्यापारियों और बिचौलियों के बीच छत्तीसगढ़ का मूल निवासी आज भी दीन–हीन अवस्था में घूमता मिल जाता है। नगर भोपाल हो अथवा राष्ट्रीय राजधानी महानगर दिल्ली हो मजदूरी करता अर्धनग्न छत्तीसगढ़ का आदमी अलग से दिख जाता है।

---

32. इण्डिया टूडे, 16 अगस्त 2000, पृ0 32 ।
33. इण्डिया टूडे, 15 अक्टूबर 1996, पृ0 33 ।
34. तदैव ।
35. तदैव ।

उपेक्षा, अवहेलना और अविकास से मुक्ति की इसी छटपटाहट की कोख से फूटा है– पृथक छत्तीसगढ राज्य के गठन का स्वप्न। छत्तीसगढ़ के लोगों ने विकास का यह स्वप्न पहली बार नहीं देखा यह अनेक बार जुडा और टूटा है। छत्तीसगढ के श्रमिकों का शोषण, रोजगार की तलाश में श्रमिकों का पलायन, कुपोषण, महामारी से होने वाली मौतें, प्राकृतिक संसाधनों की छीना–झपटी और चिकित्सा शिक्षा का अभाव; ऐसी स्थिति में वहाँ अज्ञान का अंधेरा कैसे दूर होगा। जो नागरिक दो रूपये के नमक के लिये तीस रूपये की इमली, चिरौंजी या गोंद दे देता हो अथवा नमक के अभाव में लाल चींटी से काम चला लेता हो उस नागरिक के लिये यह समझ भी एक पहाड़ जैसी है, कि विकास की प्रारम्भिक परिकल्पना का स्वरूप कैसा होगा। छत्तीसगढ़ जिसकी 60 प्रतिशत से ज्यादा आबादी की जरूरत आज भी पेट भर रोटी और साफ पानी है, में वह स्वयं कैसे भागीदार होगा, अपने विकास का स्वयं कैसे नियामक बन सकेगा।

अभी एक भी ऐसा पैकेज सामने नहीं आया है जिससे आभास हो सके कि छत्तीसगढ़ की सम्पदा का दोहन छत्तीसगढ़ के नागरिकों के लिये ही हो सकेगा और क्षेत्र अपनी सामर्थ्य के अनुरूप सम्पन्न भी हो सकेगा और यदि सम्पन्न बनेगा तो उसका रास्ता क्या होगा? रणनीति कैसे बनेगी?

लगभग समूचा छत्तीसगढ नक्सली समस्या से आतंकित है। नक्सली प्रभाव बढने के भी लगभग वहीं कारण है। जो छत्तीसगढ़ के अविकास और शोषण के कारक रहें है। छत्तीसगढ़ ने अतीत के उतार–चढ़ावों को अपनी आंखों से देखा है। अंग्रेजों के चले जाने, मध्य प्रदेश बन जाने अथवा कांग्रेस या भाजपा के रूप में राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद प्रशासन में परिवर्तन नहीं हो पाया। अब नक्सली समस्या के उन्मूलन के तौर–तरीकों में बदलाव आयेगा, इसमें संदेह है। सरकार की आय का एक चौथाई भाग तो नक्सली समस्या के मुकाबलें पर जाना आशंकित है। जो बचेगा वह बढ़े हुयें प्रशासनिक व्यय भार में समा जायेंगा। ऐसी स्थिति में, अतुल, अनंत, प्राकृतिक और भरपूर सम्पदा वाले इस नवीन प्रान्त के केन्द्र के अनुदान का अपेक्षाकृत अधिक मोहताज होने की आशंका अभी से ही उभरने लगी है। हीरा खदान में काम के बहाने विदेशियों की आवाजाही, जंगलों की अवैध कटाई पर रोक, सामाजिक वानिकी के नाम पर कदाचार, आदिवासियों को बेदखल कर उनकी जमीन हथियाने के कुचक्र और कारखानेदारों पर अंकुश कैसे लगेगा ? इस समस्या का समाधान किसी राजनीतिक दल अथवा छत्तीसगढ को पृथक राज्य बनवा देने के अभियान के पास नहीं है।

बुन्देलखण्ड

पृथकता की आग मध्य प्रदेश के सिर्फ छत्तीसगढ़ क्षेत्र में ही नहीं अन्य भागों में भी प्रविष्ट हो चुकी है। उत्तर प्रदेश के सात व मध्य प्रदेश के 23 जिलों को मिलाकर 30 जिलों वाले बुन्देलखण्ड राज्य की मांग भी विगत पांच दशकों से की जा रही है। इस मांग के पीछे बुन्देली भाषा को कसौटी बनाया जा रहा है। पृथक बुन्देलखण्ड की मांग सर्वप्रथम टीकमगढ़ के पूर्व नरेश वीरेन्द्र सिंह जूदेव व पं0 बनारसी दास चतुर्वेदी ने पाँच दशक पूर्व चलायी थी।[36] 1949–50 में तत्कालीन पन्ना महाराज व बाद में रविशंकर शुक्ल और द्वारिका प्रसाद मिश्र ने भी इस मांग को उठाया।[37] राज्यों के पुनर्गठन

---

36. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, फरवरी 1996, पृ0 23 ।
37. तदैव ।

के पूर्व भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरू व तत्कालीन गृहमंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल के समक्ष यह मांग रखी गई थी। बाद में इस मांग को राज्य पुनर्गठन आयोग के समक्ष भी रखा गया, परन्तु आयोग ने इस मांग को ठुकरा दिया। कुछ समय बाद 1970 के दशक में बुन्देलखण्ड के समर्थकों द्वारा एक संघर्ष समिति का गठन आन्दोलन को बल देने के लिये किया गया। साथ ही क्षेत्र के सांसदों व विधायकों द्वारा सामूहिक इस्तीफें भी दिये गयें।[38]

यह आन्दोलन अभी तक न तो हिंसक हुआ है और न ही इसमें विशेष तीव्रता है परन्तु भारतीय जनता पार्टी द्वारा कुछ बडे राज्यों को विभाजित कर नयें राज्यों के गठन को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लेने के बाद अब पृथक बुन्देलखण्ड आन्दोलन के तीव्र होने के आसार है। वर्तमान में इस आन्दोलन की बागडोर वरिष्ठ पत्रकार महेन्द्र कुमार मानव के हाथों में है। गंगाचरण राजपूत एवं विठ्ठल भाई पटेल भी इस आन्दोलन से सक्रिय रूप से जुडे हुये हैं। बुन्देलखण्ड समर्थकों के अनुसार इस क्षेत्र की ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक व भाषाई संस्कृति एक है लेकिन वह दो राज्यों में बंटी हुयी है तथा इससे क्षेत्र की विकास योजनाओं में समन्वय नहीं हो पाता है। दोनों राज्यों के हित इन समस्याओं को खोजने में बाधक बने हुये हैं।

बुन्देलखण्ड समर्थकों के अनुसार यह देखते हुये कि मध्य प्रदेश देश का तीसरा सबसे बड़ा राज्य है। इसलिये इसे दो भागों–बुन्देलखण्ड तथा मालवांचल में विभाजित करना जरूरी है।

भौगोलिक दृष्टि से पूरी तरह भिन्न तथा प्राकृतिक एवं वन सम्पदा से परिपूर्ण बुन्देलखण्ड राज्य के लिये मध्य प्रदेश के 23 जिले– सागर, दमोह, पन्ना, छतरपुर, टीकमगढ, सतना, रींवा, जबलपुर, नरसिंहपुर, छिदंवाड़ा, सिवनी, मंडला, बालाघाट, होशंगाबाद, रायसेन, विदिशा, ग्वालियर, शिवपुरी, मुरैना, बैतूल, दतिया, भिंड तथा गुना के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के 7 जिलें– ललितपुर, झॉसी, हमीरपुर, बॉदा, महोबा, चित्रकूट तथा जालौन का नाम प्रस्तावित किया जा रहा है। इस क्षेत्र में विकास के नाम पर स्वतन्त्रता के बाद से कुछ विशेष नहीं किया गया है। शासन द्वारा लगातार की जा रही उपेक्षा इस आन्दोलन का मुख्य कारण है।

पूर्वांचल अथवा भोजपुर राज्य

पूर्वांचल अथवा भोजपुर राज्य की यह मांग तीन दशक से भी ज्यादा पुरानी है। दस्तावेजों के मुताबिक नियोजित ढंग से सबसे पहले 2 जून 1962 को स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी तथा तत्कालीन सांसद विश्वनाथ सिंह गहमरी ने लोकसभा में पूर्वांचल की दयनीय दशा का ऐसा कारूणिक चित्रण किया था जिसे सुनकर प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू की ऑंखे नम हो गई थी। गहमरी जी ने क्षेत्रीय असन्तुलन का इतना प्रभावशाली उल्लेख किया कि पं0 नेहरू ने योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष अशोक मेहता को आदेश दिया कि एक अध्ययन दल का गठन कर इस विषय में आवश्यक कार्यवाही की जाय।[39]

प्रधानमंत्री के इस निर्देश पर वी0पी0पटेल की अगुवाई में गठित अध्ययन दल ने 13 जनवरी 1964 को सरकार को प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में इस अंचल के तीव्रगामी विकास हेतु अनेक कार्यक्रमों और योजनाओं को सुझाव दिया था[40], लेकिन ये संस्तुतियाँ तब से लेकर आज तक ठण्डे बस्ते में

38. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, फरवरी 1996, पृ0 23 ।
39 राष्ट्रीय सहारा, 26 सितम्बर 1998, पृ0 11 ।
40. तदैव ।

पड़ी हुयी है ; ऐसा ही हुआ है। वस्तुतः इसके पीछे ठोस तार्किक आधार और पिछड़ेपन के दर्द से निजात पाने की कातार पुकार का मिला जुला स्वर भी है।

पूर्वांचल आन्दोलन के रणनीतिकारों का सबसे बड़ा तर्क यह स्थापित तथ्य है कि बड़े राज्यों की तुलना में छोटे राज्यों का विकास ज्यादा तेजी से होता है। उत्तर प्रदेश की तुलना में देश के अधिकांश छोटे–छोटे राज्य आर्थिक और शैक्षणिक प्रगति के मामलें में बहुत आगे जा चुके हें, मसलन पंजाब में कुल 14 जिले तथा जनसंख्या 24,289,296 है। प्रति व्यक्ति आय 12319 रूपया है तथा साक्षरता 63.55 प्रतिशत है। इसी तरह हरियाणा में 16 जिलें हैं। वहां की जनसंया 21,082,989 हैं वहां प्रति व्यक्ति औसत आय 10,390 रूपये है तथा साक्षरता का प्रतिशत 56.31 है। यहां तक कि घोषित निवर्तमान उत्तरांचल राज्य की आबादी 84.79 लाख, साक्षरता का प्रतिशत 60.26 तथा प्रति व्यक्ति आय 5,000 रूपये है। मगर दूसरी तरफ पूर्वी उत्तर प्रदेश है जहां के 27 जिलों में तकरीबन 6 करोड की आबादी रहती है। वहाँ औसतन आय 3000 रूपये से भी कम है और साक्षरता के प्रतिशत का आकड़ा महज 39 फीसदी के संकेतांक पर स्थिर है।

पूर्वांचल प्रदेश के समर्थक इतिहास की इस गवाही को उद्धत करतें है कि राज्यों के विभाजन का धनात्मक प्रभाव पड़ता है। वे पंजाब सूबे का उदाहरण देते हैं जिसे बाद में तीन हिस्सों क्रमशः पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश में विभाजित कर दिया गया था। आज तीनों राज्य समृद्ध और खुशहाल प्रान्त के रूप में देश में अग्रणी स्थान रखते हैं। मुम्बई प्रान्त का विभाजन होकर महाराष्ट्र और गुजरात बने जिनकी प्रगति किसी टिप्पणी को मोहताज नहीं है। इसी प्रकार असम प्रान्त को सात राज्यों–असम, मणिपुर, मेघालय, त्रिपुरा, मिजोरम और अरूणाचल प्रदेश के रूप में विभाजित किया गया और आज इसमें से प्रत्येक राज्य उग्रवादी और विध्वंसकारी गतिविधियों के बावजूद प्रगति के रास्ते पर तेजी से अग्रसर है। दूसरी तरफ उत्तर प्रदेश इतना विशाल राज्य है कि उसका प्रशासनिक नियन्त्रण तथा शासन और प्रशासन के बीच निर्वाध तालमेल अपने आप में सचमुच कठिन और चुनौतीपूर्ण कार्य है। पूर्वांचल राज्य के एक प्रमुख ध्वजवाहक सांसद हरिकेवल प्रसाद का कहना है कि "यदि पूर्वी उत्तर प्रदेश के 22 जिलों (अब 27 जिलों) को मिलाकर पूर्वांचल राज्य की मंजूरी

(मानचित्र–4.4)

नही दी जाती तो उत्तराखण्ड को उत्तरांचल राज्य का दर्जा देना भी औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता जहॉ केवल 8 जिलें (वर्तमान में 13 जिलें) है।"[41]

वस्तुतः यह एक कडवा लेकिन पूर्णतया सच है कि पूर्वांचल स्वतन्त्र भारत में एक उपेक्षित और पिछडा क्षेत्र रहा है। इस पिछडेपन के पीछे ठोस राजनीतिक कारण हैं। समाजवाद के पुरोधा डॉ0 राम मनोहर लोहिया ने एक बार कहा था– हिन्दी भाषा–भाषी क्षेत्र वालों को प्रधानमंत्री पद का मोह छोड देना चाहिये। अभी तक भारत के प्रधानमंत्री का पद हिन्दी इलाकों के पास रहा है और इसलिये यह अंचल पिछडा भी है। गैर हिन्दी भाषी क्षेत्र इसे प्रधानमंत्री पद देकर विकास योजनाओं की अधिकाधिक राशि अपने राज्यों के विकास के लिये ले जातें हैं।[42] आश्चर्यजनक संयोग यह है कि यही काम उत्तर प्रदेश के भीतर होता रहा है। सम्पूर्णानन्द कमलापति त्रिपाठी, रामनरेश यादव, श्रीपति मिश्र, विश्वनाथ प्रताप सिह और वीर बहादुर सिंह सरीखे ज्यादातर प्रभावशाली मुख्यमंत्री पूर्वी उत्तर प्रदेश के थे और राजनीतिक मजबूरियों के चलते इनके कार्यकाल में उत्तर प्रदेश के अन्य हिस्से ज्यादा लाभान्वित होते रहे।

स्थिति यह है कि भूख, गरीबी, अशिक्षा, बीमारी तथा बेरोजगारी की त्रासदी झेलने वाले पूर्वी उत्तर प्रदेश में गंगा, यमुना, सरयू, घाघरा, राप्ती, बड़ी गडंक आदि तमाम नदियों का जाल बिछा होने के बावजूद यहां की आधी धरती असिंचित और प्यासी है। यहां के खेतों को पर्याप्त पानी नहीं मिलता उल्टे हर साल बाढ की प्रलयंकारी विभीषिका झेलनी पड़ती है। 85,844 वर्ग किमी0 क्षेत्रफल तथा लगभग 6 करोड़ की आबादी वाले पूर्वी उत्तर प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व सघन होने के कारण यहां एक हेक्टेयर से कम जोतों का प्रतिशत 82.3 है जबकि पश्चिमी उत्तर प्रदेश में यह 66.1, हरियाणा में 40.6 तथा पंजाब में 26.5 प्रतिशत है।[43] औद्योगिक इकाइयों की कमी के कारण यहां के युवकों का महानगरों की ओर पलायन जारी है। सरकारी ऑकड़ों के मुताबिक इस क्षेत्र में औद्योगिक कारखाने कुल आबादी पर मात्र 5 प्रतिशत है। जिसके फलस्वरूप यहां की कुल आबादी के लगभग 31 प्रतिशत लोग रोजी–रोटी की तलाश में बाहर भागे हैं।[44]

जैसा कि उक्त से स्पष्ट ही है कि आजादी के बाद की आधी शताब्दी में केन्द्र और राज्य सरकारों की उपेक्षा और उदासीनता के कारण पूर्वी उत्तर प्रदेश विकास की गति में लगातार पिछडता गया। यहां के संसाधनों का दोहन करके दूसरे क्षेत्रों को विकसित किया गया। जन असंतोष को दबाने के लिये इस क्षेत्र की जनता को पूर्वांचल विकास निधि नाम का एक झुनझुना थमा दिया गया, जिसमें नाम मात्र को धन दिया गया। वर्ष 1998–99 के बजट में जहां उत्तराचंल के विकास हेतु 860 करोड रूपये राज्य सरकार द्वारा आवंटित किये गये, वहीं पूर्वांचल विकास निधि को महज 120 करोड़ दिया गया है। दूसरे शब्दों में 60 लाख लोगों को 860 करोड़ रूपये और 6 करोड़ जनता को केवल 128 करोड़।[45]

---

41 राष्ट्रीय सहारा, 26 सितम्बर 1998, पृ0 11 ।
42. तदैव ।
43 तदैव ।
44. तदैव ।
45 तदैव ।

अगर सरकारी ऑकड़ों को ही तुलना का आधार बनाया जाय तो भी पूर्वांचल की माग उत्तरांचल की अपेक्षा कम तार्किक नही कही जा सकती। यदि नये राज्यों का आधार लोगों की युक्ति सगत मागों को ही माना जाय तो पूर्वांचल राज्य की माग राजनीतिक नजरिये से उपयुक्त हो या न हो कम से कम युक्तिसंगत तो है ही।

विदर्भ

भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही विदर्भ क्षेत्र की [illegible] की माग उठने लगी थी। परन्तु केन्द्र के प्रभावी नियन्त्रण के कारण यह मांग दब गई। फजल अली की अध्यक्षता मे गठित राज्य पुनर्गठन आयोग ने भी विदर्भ राज्य के गठन की संस्तुति की थी जिसे केन्द्र सरकार ने अस्वीकार कर दिया था। 1964 में गठित खांडेकर समिति ने पृथक विदर्भ राज्य के गठन की सस्तुति की थी। 1960 में महाराष्ट्र के पुनर्गठन के समय विदर्भ के कुछ क्षेत्रो को महाराष्ट्र मे मिला देने के बाद विदर्भ को अलग से राज्य का दर्जा देने की मांग बलवती हो उठी। उस समय पूर्व काग्रेसी केन्द्रीय मंत्री बंसत साठे ने कहा था कि मुम्बई राज्य, जो उस समय महाराष्ट्र का नाम था, के साथ रहते हुये ही विदर्भ क्षेत्र के विकास की सम्भावनायें बन सकती है[46]; बहरहाल यह नही हुआ। अर्थशास्त्र के अपने नियम है। राज्य पुनर्गठन के बाद जितना भी विकास हुआ, वह मुम्बई और उसके इर्द–गिर्द तक ही सीमित रहा। यह पुणे से आगे नही बढा। ऐसा नहीं है कि इस क्षेत्र ने नेता नही दिये। महाराष्ट्र के चार मुख्यमंत्री विदर्भ क्षेत्र से ही आयें, मसलन कम्मनवार [illegible]–65, बंसत राव नाइक 1975–77, सुधाकर राव नाइक आदि। जब विदर्भ का मुख्यमंत्री नहीं रहा तो सरकार मे दूसरे महत्वपूर्ण पद पर हमेशा विदर्भ का ही कोई व्यक्ति बैठा।[47] उत्तरांचल पर भी यही बात लागू होती है, यहां से उत्तर प्रदेश को तीन मुख्यमंत्री मिले– गोविन्द बल्लभ पन्त, हेमवतीनन्दन बहुगुणा और एन0डी0तिवारी। इनमे सभी राष्ट्रीय स्तर के नेता थे। सवाल यह है कि इनके राष्ट्रीय स्तर तक पहुंच जाने के बाद भी इन क्षेत्रों का विकास क्यों नहीं हुआ?
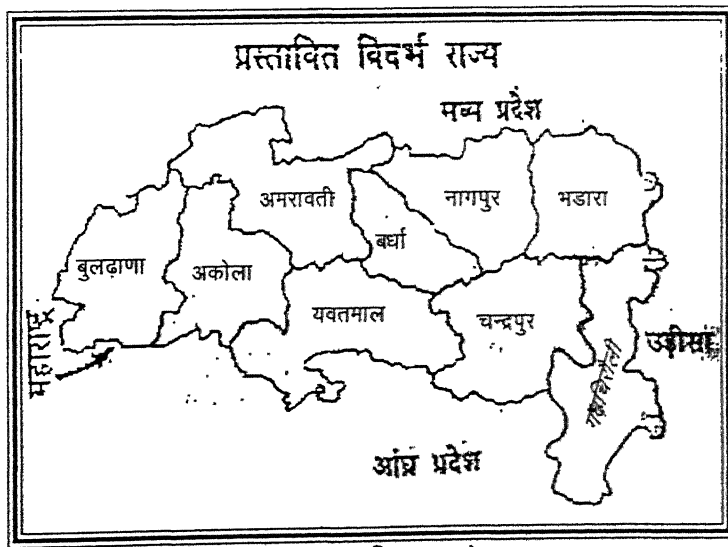
(मानचित्र–4.5)

46. माया, 31 अक्टूबर 1996, पृ0 19 ।
47. तदैव ।

विदर्भ की मांग के पीछे वास्तव में इस क्षेत्र के प्रति महाराष्ट्र एवं मध्य प्रदेश की सरकारों द्वारा लगातार की जा रही उपेक्षा है। कृषि के क्षेत्र मे यह भाग अभी तक पिछड़ा है जबकि समुचित सिंचाई सुविधा उपलब्ध करा दी जाय तो अकेले विदर्भ सम्पूर्ण महाराष्ट्र के लिए खाद्यान्न उपलब्ध करा सकता है। औद्योगिक दृष्टि से भी यह क्षेत्र पिछड़ा है। आवागमन के समुचित साधन न होने के कारण यहां औद्योगिक विकास की गति अत्यधिक धीमी है। इस क्षेत्र में मणिपुर, अरुणाचल राज्य की कुल आबादी की तीन गुना आबादी निवास करती है। महाराष्ट्र की कुल आबादी का 24 प्रतिशत विदर्भ में निवास करता है इतना सब कुछ होते हुये भी महाराष्ट्र सरकार इस क्षेत्र के विकास पर नाममात्र व्यय करती है। अत्यधिक उपेक्षा के परिणामस्वरूप उपजी पृथक विदर्भ की मांग को दबाने के लिये महाराष्ट्र सरकार द्वारा स्वतन्त्र विदर्भ विकास मण्डल की स्थापना की गई थी, परन्तु यह प्रयास सतही ही साबित हुआ। महाराष्ट्र की राजधानी मुम्बई विदर्भ से काफी दूर है, जिस कारण विदर्भ वासियों की समस्याओं के निराकरण के लिये कोई ठोस प्रयास नही हो पाते है; हालांकि इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुये नागपुर को महाराष्ट्र की दूसरी राजधानी का दर्जा दिया गया है और विधान सभा का वर्ष में एक बार अधिवेशन भी यहां होता है। परन्तु इस क्षेत्र के विकास को गति मिलती नहीं दिखाई देती।

प्रस्तावित विदर्भ राज्य में नागपुर, अकोला, बुलढाणा, अमरावती, वर्धा, चन्द्रपुर (चांदा), गढ़चिरौली, यवतमाल एवं भंडारा जिलों को शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त मध्य प्रदेश के कुछ सीमावर्ती जिलो को भी विदर्भ राज्य में मिलाए जाने की माग है। पृथक विदर्भ से सम्बन्धित आन्दोलन का नेतृत्व काग्रेसी नेता प्रफुल्ल पटेल कर रहे है जिसे छोटे राज्यो के समर्थक भाजपा का भी समर्थन प्राप्त है। परन्तु, शिवसेना इस नये राज्य के गठन का विरोध कर रही है।

गोरखालैण्ड

पृथक गोरखालैण्ड की मांग भारत की स्वतन्त्रता मिलने के पहले से ही शुरू हो गई थी। हिमालय क्षेत्र में निवास करने वाले गोरखा लोग उच्च कोटि के योद्धा माने जाते हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार ये लोग क्षेत्रीय राजाओं के अधीन थे। 1768 में क्षेत्रीय राजवंशों के आपसी कलह का लाभ उठाकर इन्होंने अपना शासन स्थापित किया। कई वर्षों तक निर्विघ्न शासन करने के उपरान्त 1816 में इन्हें अपनी अस्मिता बचायें रखने के लिये अंग्रेजो से युद्ध करना पड़ा। अग्रेजों से बुरी तरह पराजित होने के बाद सुगौली की सन्धि के अन्तर्गत गढवाल और कुमाऊ जिले जो तत्कालीन नेपाल राज्य के अंग थे, अंग्रेजों को सौंप दिया गया। इस सन्धि के बाद अंग्रेजों और गोरखाओं के सम्बन्ध इतने मधुर हो गयें कि 1857 मे गोरखाओं ने भारत के स्वतन्त्रता सेनानियों के विरूद्ध अंग्रेजों का खुलकर साथ दिया।

पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले के चार सब डिवीजनों– सिलीगुडी, कुर्सियांग, कलिम्पोंग व दार्जिलिंग को मिलाकर एक पृथक प्रशासनिक इकाई बनाने की मांग स्वतन्त्रता प्राप्ति (1947) के पूर्व में की जाती रही है जो देश की आजादी के बाद भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन, नेपाल के पूर्वी क्षेत्र के गोरखाओं के पलायन, अस्मिता की पहचान, गोरखाओं के दमन, उत्पीडन व असुरक्षा

आदि के आधार पर अलग राज्य की मांग में बदल गई। 1956 में जब भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की बात चली तो यहां के लोगों द्वारा दार्जिलिंग को पृथक प्रशासनिक इकाई के रूप में गठित करने की मांग की गई, परन्तु इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। प्रारम्भ में यह मांग गोरखा लीग प्रान्त परिषद व गोरखा दुख निवारिणी समिति द्वारा की गई।[48] अप्रैल 1980 में सेना से सेवानिवृत्त सुभाष घीसिंग ने गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा बनाया और पृथक गोरखालैण्ड की मांग की।[49] इस मांग पर सरकार द्वारा चार–पॅाच वर्षों तक कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसी बीच में मेघालय मे विदेशियों के विरूद्ध आन्दोलन शुरू हुआ और लगभग 4000 नेपाली नागरिक निष्कासित किये गये।[50] इसी के प्रत्युत्तर में गोरखा मुक्ति मोर्चा ने मार्च 1986 में अपना 11 सूत्रीय मांग पत्र प्रस्तुत किया[51] और तत्पश्चात् 13 अप्रैल 1986 को आन्दोलन की शुरूआत कर दी।[52] मार्च 1987 में पश्चिम बंगाल विधान सभा चुनावों में मोर्चा आह्वान पर लगभग 93 प्रतिशत लोगों ने मतदान नहीं किया।[53] इस दौरान आन्दोलन ने कई बार हिंसक रूप धारण किया। आन्दोलन की तीव्रता को देखते हुयें अन्ततः केन्द्र सरकार, राज्य सरकार तथा सुभाष घीसिंग के मध्य त्रिपक्षीय वार्ता हुयी जिसमें पर्वतीय विकास परिषद नामक स्वायत्तशासी निकाय के गठन पर 22 अगस्त 1986 को सहमति हो गई।[54] जिसके अन्तर्गत चारो सब डिवीजनलो को मिलाकर स्वायत्तशासी दार्जिलिंग पर्वतीय परिषद के गठन का प्रावधान किया गया। दिसम्बर 88 मे सम्पन्न परिषद चुनावों में जी.एन.एल.एफ. ने भारी बहुमत से विजय हासिल की तथा परिषद ने कार्यारम्भ प्रारम्भ कर दिया।[55]

वर्षों से संघर्ष के बाद पश्चिम बंगाल के पर्वतीय क्षेत्र कुर्सियांग और दार्जिलिंग में जब गोरखा क्षेत्रीय विकास परिषद बनाकर सुभाष घीसिंग को शान्त किया गया था तभी यह आशंका व्यक्त की गई थी कि यह समस्या बहुत दिन तक सुलझी नही रहेगी बल्कि एक अलग अंदाज मे सामने आयेंगी। बाद में सुभाष घीसिंग ने नया नारा दिया कि दार्जिलिंग का अवैध तरीके से भारत मे विलय हुआ है।[56] वैसे भी इस स्वायत्त विकास के गठन से न तो वहां के निवासियों के जीवन स्तर मे कोई सुधार हुआ है और न ही दार्जिलिंग क्षेत्र का विकास हुआ है। स्वायत्त विकास परिषद को जिला परिषदों जितना भी अधिकार नहीं दिया जाना, आखिर किस हद तक समस्या को सुलझाने की मनोवृत्ति की तरफ इशारा करता है। हालांकि इस गोरखा हिल स्टेट कौसिंल के गठन से प० बंगाल के इस पर्वतीय क्षेत्र की शांति लौट आयी, जनजीवन सामान्य हो गया और आम आदमी की परेशानियां समाप्त हो गयी थी, लेकिन यह समस्या का स्थाई हल न होकर तात्कालिक इलाज था।

अलग राज्य की यह मांग तीन नयें राज्यों के गठन के बाद पुनर्जीवित हो गयी है। घीसिंग कहते हैं, "1980 में मैं अलग गोरखालैण्ड राज्य की मांग कर रहा था। अब मै इसके लिये सिर्फ कह

48. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, फरवरी 1996, पृ0 13 ।
49. तदैव।
50. परीक्षा मंथन (1998—99) भाग–3, इलाहाबाद, पृ0 183 ।
51. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, फरवरी 1996, पृ0 22 ।
52. परीक्षा मंथन (1998—99) भाग–3, इलाहाबाद, पृ0 183 ।
53. तदैव ।
54. नवभारत टाइम्स, 23 अगस्त 1986 ।
55. परीक्षा मंथन (1998—99) भाग–3, इलाहाबाद, पृ0 183 ।
56. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, फरवरी 1996, पृ0 22 ।

रहा हूँ।"[57] सितम्बर 1996 में गोरखा डेमोक्रेटिक फ्रन्ट के नेता मदन तमग की अगुवाई में एक सर्वदलीय सभा में अलग राज्य के लिये 'गोरखा पीपुल्स फ्रण्ट' का गठन किया गया है। अब पहाडों में माकपा के सदस्य भी इस अलग राज्य की मुहिम मे कूद पडे है। माकपा के दो सांसद आर.बी.राय और तंमग दावा लामा–पार्टी के नजरियें की मुखालफत कर दार्जिलिग के लिये अलग राज्य की वकालत कर रहे हैं। उन्हे दार्जिलिग पर्वतीय जिला इकाई के 29 मे से 25 सदस्यो का समर्थन प्राप्त है।[58] उन्हें कुर्सियाग क्षेत्रीय समिति और सिक्किम की इकाई का भी समर्थन प्राप्त है। जबकि माकपा पार्टी आलाकमान का मानना है कि समस्या का समाधान आर्थिक विकास में ही निहित है क्योंकि "अलग राज्य की मांग असंगत विकास और आर्थिक पिछड़ेपन से ही पैदा हुयी है।"[59] किन्तु आन्दोलनकारियों का मानना है कि क्षेत्र का आर्थिक विकास पृथक राज्य मे ही सम्भव है। पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योतिबसु भी कहते हैं, "अगर उन्हें लगता है कि पहाडो को पश्चिम बगाल से अलग करके वे वहां स्वर्ग बना देगे तो उन्हें करने दीजिये। इसमें हम क्या कर सकते हैं।"[60]

गोरखालैण्ड मुक्ति मोर्चा द्वारा पृथक गोरंखालैण्ड के लिये पश्चिम बंगाल के दार्जिलिग, जलपाईगुडी के दुआर क्षेत्र, असम के गोपालपाडा से बिहार के कालन्सिया तक की हिमालयन पट्टी को प्रस्तावित किया जाता है। प्रस्तावित गोरखालैण्ड राज्य का क्षेत्रफल लगभग 2256 वर्ग मील है जिसमें लगभग 14 लाख लोग निवास करते है। इस प्रस्तावित राज्य का विस्तार उत्तर में रंजीत नदी, दक्षिण में महानदी, पूर्व में संकोश तथा पश्चिम में बालासुन नदी तक है।

बोड़ोलैण्ड

ब्रह्मपुत्र नदी के उत्तर तटीय क्षेत्र, दारांग जिले के उदलगुडी क्षेत्र, भूटान की सीमा से लगा पश्चिम बंगाल में सिरायपुर तथा सदिया के बोडों बाहुल्य क्षेत्र को बोडोलैण्ड के रूप में निरूपित किया जाता है। इस क्षेत्र में रहने वाली जनजातियो में 60 प्रतिशत बोडो जनजाति के हैं, जो भूमिहीन है।[61] वास्तव में बोडो कोई जनजाति न होकर कोच, गारो, लाल्लुंग, धाटिया, डिमासो तथा कचारी जनजातियो का समूह है। बोड़ो भाषा तिब्बती–वर्मी परिवार की असमी–वर्मी प्रशाखा है।[62] कोच राजवंश के काल में बोड़ो का उल्लेख मिलता है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर बोडों तिब्बती तथा वर्मी लोगों के मिलन से उत्पन्न एक जाति की उप शाखा है, जो कालान्तर में ब्रह्मपुत्र के उत्तरी किनारे पर आ बसी थी।[63] इन आदिवासी क्षेत्रों में सिंचाई, विद्युत, संचार तथा अन्य प्राथमिक सुविधायें न के बराबर है। आन्दोलन के पीछे एक मात्र मूल कारण अंग्रेजों के काल से चली आ रही प्रशासन की उपेक्षा तथा बांग्लादेश से असम की सीमा में होने वाली अवैध घुसपैठ है। राज्य व केन्द्र सरकार सीमा पर इस अवैध घुसपैठ को रोकने में न केवल असफल रहें है, बल्कि विदेशियों को असम से पूर्णतः बाहर निकालने में भी विफल रहे है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में उग्रवाद को बढ़ावा मिला है।

---

57. इण्डिया टुडे, 15 अक्टूबर 1996, पृ0 34 ।
58. तदैव ।
59. तदैव ।
60. तदैव ।
61. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, जून 1993, पृ0 19 ।
62. तदैव, पृ0 20 ।
63. तदैव ।

सिर्फ बोड़ो बहुल क्षेत्रों में ही नहीं वरन् पूरे भारत में ही गैर आदिवासी बहुमत द्वारा आदिवासियो को दबाकर रखने तथा उनकी जीवन पद्धति की विशिष्टता को बनाये रखने के नाम पर न केवल आधुनिक राज व्यवस्था से दूर रखा गया है बल्कि उनके वैध अधिकारों पर भी कुठाराघात किया गया है। असम के अभिजात वर्ग और नौकरशाह द्वारा निरन्तर शोषण व उपेक्षा ने यहां के बोडो बहुल मैदानी इलाकों के आदिवासियों को अपनी सांस्कृतिक पहचान व अस्मिता की रक्षा हेतु आन्दोलन के लिये प्रेरित किया। नागालैण्ड, मिजोरम मेघालय त्रिपुरा व अरुणाचल प्रदेश का स्वतन्त्र अस्तित्व व इन प्रदेशों की जनजातियों की उन्नति ने बोडो समुदाय के मन में उपेक्षा का भाव गहराई तक बैठा दिया।[64]

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व सन् 1907 में निराकार ब्रह्म के उपासक कालीचरण ब्रह्मचारी के नेतृत्व में "ब्रह्मा आन्दोलन" अस्तित्व में आया। जिसने बोडो जनजातीय लोगों के लिये शिक्षा, समाज संरक्षण तथा नौकरियों में आरक्षण की मांग की।[65] स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सन् 1952 में बोडो साहित्य सभा की स्थापना की गई।[66] इस सभा ने स्कूली स्तर पर बोडो भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिये आवाज उठायी। साठ के दशक के अन्त में उनकी यह मांग मान ली गई, लेकिन उस संघर्ष के दौरान अनेक बोडो काल कवलित हो गये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद असम में भारी संख्या में प्रवासी आने लगे, एवं उन्होंने भू कानूनों को अनदेखा कर बोडो लोगों की जमीन खरीदने का काम शुरू किया। उल्लेखनीय है कि इस समय लगभग 60प्रतिशत बोडो लोग भूमिहीन है, जबकि बोड़ो जनजाति मुख्यतः कृषि (धान) पर ही निर्भर करती है। बोडो समुदाय के अधिकांश लोग गरीबी की काली छाया में जीने के लिये अभिशिप्त होने के साथ ही ऐसे भागों में रहते हैं, जहाँ विद्युत, संचार, सिंचाई, रेल आदि सुविधाओं की दूर–दूर तक कोई सम्भावना नहीं है।

असम के अन्य पड़ोसी राज्यों मेघालय, मिजोरम व नागालैण्ड के पर्वतीय इलाको में रहने वाली जनजातियों की प्रगति को देखकर, जहां एक ओर बोडो लोगों में अपनी उपेक्षा होने की भावना पैदा होने लगी, वहीं दूसरी ओर अप्रवासियों द्वारा शोषण की प्रवृत्ति, असमी को शिक्षा का माध्यम बनाने व राज्य नौकरशाही के उपेक्षापूर्ण व्यवहार ने बोडों लोगों को अपनी पहचान व संस्कृति की रक्षा हेतु राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के लिये बढ़ावा दिया। 1963 में नागालैण्ड की स्थापना ने उनकी पृथकता की भावना को और उकसाया। फलस्वरूप, 2 मार्च 1987 को आल बोडों स्टूडेंट्स और बोडो पीपुल्स एक्शन कमेटी ने भारतीय संविधान के भीतर एक पृथक राज्य का गठन करके अपनी समस्याओं के समाधान के उद्देश्य से बोडो आन्दोलन शुरू कर दिया।[67] आन्दोलन के दौरान बंद, प्रदर्शन, सडक व रेल रोकों अभियान आदि का सहारा लेने का निर्णय लिया गया। 28 अगस्त 1987 को केन्द्र सरकार, राज्य सरकार व बोडों प्रतिनिधियों के बीच बोड़ों समस्या के समाधान हेतु प्रथम त्रिपक्षीय वार्ता आरम्भ हुयी।[68]

---

64. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, जून 1993, पृ0 19 ।
65 तदैव ।
66. तदैव ।
67. तदैव, पृ0 20 ।
68. नवभारत टाइम्स, 29 अगस्त, 1987 ।

प्रारम्भ में बोडो आन्दोलन ब्रह्मपुत्र के उत्तरी तट पर यूनियन का गढ समझे जाने वाले दारांग जिले के ऊदल गुड़ी उपखण्ड तक ही सीमित रहा। लेकिन 1989 में आन्दोलन ने हिंसक रूप धारण कर लिया। बोड़ों आन्दोलनकारियों की मांगों में प्रथम, ब्रह्मपुत्र के उत्तर तटीय श्री रामपुर से सदिया तक के क्षेत्र को बोडोलैण्ड नामक पृथक केन्द्र शासित क्षेत्र बनाना व द्वितीय, संविधान की अनुसूची 6 के अन्तर्गत ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर मैदानी जनजातीय क्षेत्रों के लिये जिला परिषद की स्थापना प्रमुख थी।[69] केन्द्र सरकार द्वारा देश के विखण्डन और पृथक राज्य की मांग मानने से स्पष्ट इन्कार के बाद आन्दोलनकारियों से बातचीत के विभिन्न दौर असफल रहे। 13 सितम्बर 1990 को इस त्रिपक्षीय वार्ता के आठवी दौर की बातचीत के समय हुयी सहमति के आधार पर ब्रह्मपुत्र के उत्तर में बोड़ो और अन्य आदिवासी क्षेत्रों का निर्धारण करने व उनके विधायी, प्रशासनिक एवं तकनीकी अधिकारों और स्वायत्तता के सम्बन्ध में सिफारिश हेतु तीन सदस्यों की विशेषज्ञ समिति का गठन 25 फरवरी 1991 को केन्द्र सरकार ने भूपिन्दर सिंह की अध्यक्षता में की।[70] समिति ने 30 मार्च 1992 को केन्द्र सरकार को अपनी रिपोर्ट व सिफारिशें सौंप दी। लेकिन समिति की सिफारिशों को बोडों नेताओं ने ठुकरा दिया। बाद में बोड़ो आन्दोलनकारियों, केन्द्र सरकार व असम सरकार के बीच 20 फरवरी 1993 को हुये एक त्रिपक्षीय समझौते[71] के अनुसार असम सरकार द्वारा 'बोडोलैण्ड स्वशाषी परिषद अधिनियम' (विधेयक) को पारित कर दिया।
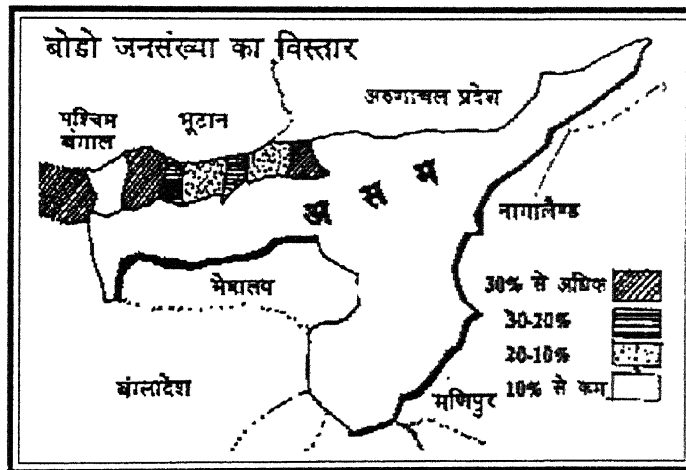
(मानचित्र–4.6)

हालांकि बोडो स्वायत्त विधेयक परिषद को लेकर विभिन्न संगठनों व लोगों द्वारा अनेक आशंकायें व्यक्त की गई। लेकिन राज्य के भीतर एक परिषद के गठन का निर्णय स्वीकार करके वृहत्तर असमी समाज के अभिन्न अंग बोड़ों लोगों ने राज्य की एकता और अखण्डता को सर्वोपरि स्थान दिया है। किन्तु यह समझौता बोड़ो लोगों और असम में शान्ति स्थापित करने में सफला नहीं हो सका। क्योंकि विभिन्न बोड़ों संगठनों के प्रतिनिधियों को अंतरिम परिषद में शामिल नहीं किया गया। इस समझौते में दक्षिणी सीमा के बारे में भी स्पष्ट तथ्य नहीं है। अनेक स्थानों पर यह गैर

69. सिविल सर्विसेज क्रानिकल, जून 1993, पृ0 20 ।
70. तदैव ।
71. नव भारत टाइम्स, 21 फरवरी, 1993 ।

जनजातीय क्षेत्रों को अपने अन्दर लेता है। सभी सात जिलो मे कुछ स्थानो पर जैसे–कामरुप मे बोडों लोगों की सख्या नाममात्र है। उल्लेखनीय है कि उक्त स्वशाषी क्षेत्र की 18 लाख आबादी मे बोडों आबादी सिर्फ 6 लाख है। विभिन्न स्थानो पर प्रशासन मे दुहराव और टकराव की सम्भावना व वन क्षेत्र के सम्बन्ध मे भी अनेक सवाल उठाये जा रहे हैं। बोडो लोगो द्वारा अपनी मैदानी भूमि को बेंच देने तथा वन विभाग द्वारा वनो पर अधिकार कर लेने के पश्चात् बोडो लोग मैदानी क्षेत्रो मे लगभग बेघर हो चुके है। समझौते के क्रियान्वयन मे वन विभाग के साथ ही रक्षा विभाग भी बाधक हो सकता है। क्योंकि सीमावर्ती गाव मे उसके अधिकार क्षेत्र वाले भागों मे समझौते की बाध्यता लागू होना आवश्यक नहीं है। इसके साथ ही स्वशाषी परिषद के बजट व [illegible] द्वारा परिषद की बर्खास्तगी सम्बन्धी प्रावधान भी असतोष के कारण है।

सुखद बात यह है कि सरकार ने समय रहते इस समस्या पर ध्यान दिया और इसके समाधान की दिशा में ठोस कदम उठाते हुए 10 फरवरी, 2003 को केन्द्र सरकार, असम सरकार और बोडो लिबरेशन टाइगर के बीच एक ऐतिहासिक त्रिपक्षीय समझौता हुआ जिसके तहत सवैधानिक दर्जा प्राप्त स्वायत्तशासी बोडोलैण्ड क्षेत्रीय परिषद का गठन किया जायेगा।[72] इस समझौते से बोड़ोलैण्ड क्षेत्रीय परिषद के गठन का रास्ता साफ हो गया है और पृथक बोडोलैण्ड राज्य की माग को लेकर 15 साल से चल रहे सघर्ष के समाप्त हो जाने की उम्मीद बनी है।

समझौते के मुताबिक बोडो क्षेत्रीय परिषद में 3082 गॉव होगें, जिन्हें असम के 4 जिलों कोकराझार, चिराग, बासका और उदालगिरी के अधीन रखा जायेगा। इसके साथ ही मौजूदा बोडोलैण्ड स्वायत्त परिषद भंग कर दी जायेगी। नई परिषद में 95 और गॉवो को शामिल करने के लिये एक तीन सदस्यीय समिति बनाई जायेगी, जो तीन महीने में अपनी रिपोर्ट देगी। इस समिति में तीनों पक्षों के एक–एक सदस्य शामिल होंगे। इन गांवों के चयन के तीन आधार होंगे, जिनमें गांव की आबादी में बोड़ो आदिवासियों का प्रतिशत अहम् होगा। जिन गांवों की आबादी में कम से कम 50 प्रतिशत बोडो आदिवासी होंगे, उन्हीं को बोडो क्षेत्रीय परिषद में शामिल किया जायेगा। केन्द्र सरकार एवं संविधान संशोधन विधेयक भी लायेगी, जिसके मुताबिक बोडो क्षेत्रीय परिषद को संविधान की छठी अनुसूची में शामिल किया जायेगा।[73]

बोडो क्षेत्रीय परिषद में 46 सदस्य होगे। इनमें से 30 सींटे आदिवासियों के लिए आरक्षित होगी और पांच सीटें बोडो क्षेत्रीय परिषद में रहने वाले गैर–आदिवासियों के लिए। पांच सीटें अनारक्षित होगी। परिषद के दस सदस्यों को नामित करने का अधिकार असम सरकार के पास होगा। वह इन लोगों को उन समुदायों में से चुनेगी, जिनके प्रतिनिधि 40 सीटों के लिए होने वाले चुनाव में नहीं चुने गये होंगे। परिषद के इलाके में रहने वाले गैर–आदिवासियों की रक्षा के लिये जरूरी प्राविधान किये गये हैं।

---

72. टाइम्स ऑफ इण्डिया, फरवरी 11, 2003।

73. चाणक्य सिविल सर्विसेज टूडे, अप्रैल 2003, पृ० 23।

समझौते से उम्मीदें– जिस स्वायत्तता प्रस्ताव पर फिलहाल त्रि–पक्षीय सहमति बनी है, उसे देखने से ऐसा लगता है कि अपने हिंसक दौर से बोडो आदोलनकारियो के दावे कुछ ज्यादा ही बढ़े–चढ़े थे। इस प्रस्ताव में 3082 बोडो बाहुल्य गांवो को चुनकर चार जिलों मे विभाजित इस इलाके के लिये एक स्वायत्तशासी परिषद गठित करने की बात है। इसके अलावा केन्द्र सरकार ने बोडो भाषा को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने पर विचार करने का [illegible] भी दिया है। 1999 में सीमित स्वायत्तता के लिये राजी होने से पहले बोडो लिबरेशन टाइगर्स के लोग असम की 60 प्रतिशत आबादी अपनी जाति की ही बताते थे और पूरे असम पर ही अपना दबाव ठोक रहे थे। बोडोलैण्ड की अपनी मांग के जरिये वे अपनी छवि नागा आन्दोलन जैसी प्रदर्शित करना चाहते थे और इसका भौगोलिक विस्तार भी उन्होंने वृहत्तर नागालैण्ड की तरह ही कर रखा था। यह बात अलग है कि मूलतः एक मैदानी जाति होने के चलते वन–पर्वत के वाशिन्दे नागाओं की तरह लम्बा हिंसक आन्दोलन चला पाना उनके लिये सम्भव नहीं था।

हालांकि बोडो स्वायत्तता के मामले में कुछ तकनीकी मुश्किलें हल होनी अभी बाकी हैं। सबसे बड़ी समस्या उन 90 गावों की है, जिनमें बोडो आजादी आधी या इससे कुछ कम है। इन गांवो की पहचान के लिये तीन सदस्यों की एक समिति गठित की गई है, हालांकि गैर–बोडो आबादी के विरोध के चलते यह काम उसके लिये आसान नहीं होगा। इसके अलावा जैसा कार्बी स्वायत्त क्षेत्र में फिलहाल हो रहा है, स्वायत्तता मिलने के बाद आदिवासियों और गैर–आदिवासियों के बीच अधिकारों को लेकर पैदा होने वाला तनाव खुद में एक बडी समस्या है। बोडो स्वायत्त क्षेत्र के साथ ऐसी मुश्किलें कुछ ज्यादा ही आ सकती हैं। क्योंकि असम में लोकसभा और विधान सभा सीटो का बंटवारा जिस तरह हुआ है उसके रहते बोडो आजादी के समुचित पुनर्सिमांकन की कोई बात समझौते में नहीं शामिल है, फलतः मुख्य धारा के राजनैतिक दलों को इसके लिए अतिरिक्त प्रयास करने होंगे।

उपर्युक्त आन्दोलनों के वस्तुपरक एवं तथ्यात्मक विश्लेषण से निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

1. बड़े राज्यों की तुलना में छोटे राज्यों का विकास तेजी से हुआ है।
2. प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री के पद का मोह भी क्षेत्र के पिछडेपन का एक प्रमुख कारण है। बदले में राजनीतिक मजबूरियों के चलते इनसे संबंधित क्षेत्र की अपेक्षा देश और प्रदेश के अन्य हिस्से ज्यादा लाभान्वित होते रहे हैं। क्योंकि प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री पद के एवज में उन्हे उन आर्थिक संसाधनों को दूसरे क्षेत्रों को आवंटित करना पड़ा जो उनके क्षेत्रों को मिलना चाहिए था।
3. राष्ट्रीय राजनीति में अपना दबदबा बनाये रखने के चलते भी उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र जैसे बड़े राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने प्रदेश के और विभाजन का विरोध किया है। मेघालय और सिक्किम जैसे छोटे राज्य का मुख्यमंत्री बनने की अपेक्षा उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य राज्य का मुख्यमंत्री बनना वे ज्यादा पसन्द करते हैं।
4. गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासियों को दबाकर रखने तथा उनकी जीवन पद्धति की

विविधता को बनाये रखने के नाम पर न केवल उन्हें आधुनिक राज्यव्यवस्था से दूर रखा गया बल्कि उनके वैध अधिकारो पर भी कुठाराघात किया गया है। निरन्तर उपेक्षा, शोषण और अपने ही क्षेत्र में अल्पसंख्यक होने के भय ने ही इन आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में आदिवासियों को अपनी सांस्कृतिक पहचान व अस्मिता की रक्षा हेतु आन्दोलन के लिये प्रेरित किया है। झारखण्ड, उत्तरांचल, छत्तीसगढ, बोडोलैण्ड आन्दोलन इसी का परिणाम है।

5. पूर्वोत्तर में चल रहे पृथक राज्य आन्दोलनों का प्रमुख कारण विदेशियों की अवैध घुसपैठ रही है।

आर्थिक पिछड़ापन, प्रशासनिक राजधानी की क्षेत्र से दूरी, क्षेत्र में औद्योगिक वातावरण का अभाव पृथक राज्य की मांग की पीछे अन्य प्रमुख कारण रहे हैं।

स्वाधीन भारत के लिये संविधान में संघीय स्वरूप को अंगीकृत किया गया है। भारत उसमें निहित राज्यों का संघ है। संघ के सभी घटक शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त से प्रशासित होतें है। स्वतन्त्रता के समय से ही भारत में भाषायी तथा क्षेत्रीय आधार पर पृथक राज्य की मांग उठती रही है। इन्हीं मांगों को देखते हुये 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया। इसके बाद भी समय–समय पर राज्यों का गठन, पुनर्गठन अथवा सीमा परिवर्तन होता रहा है। प्रश्न यह उठता है कि राज्यों का पुनर्गठन आखिर कब तक होता रहेगा? इन मांगों के पीछे कौन से कारण है ? यो अगर इन आन्दोलनों के पक्ष में देखा जाय तो अधिकांश आन्दोलनों की शुरूआत उन क्षेत्रों से हुयी है जो अपने राज्य के अन्य क्षेत्रों से अपेक्षाकृत पिछड़े हुये हैं। पिछड़े क्षेत्रों के प्रति शासन की दोमुंही नीति एवं उनकी शोषण के विरूद्ध लड़ने की प्रवृत्ति इन आन्दोलनों की शुरूआत का प्रमुख कारण रहीं है। इन आन्दोलनों के सूत्रधार प्रायः क्षेत्रीय स्तर के नेता होते हैं जो अपना जनाधार बढाने के लिये प्रायः इन आन्दोलनों को हवा देते हैं। आर्थिक पिछड़ापन, सामाजिक विषमता, शोषण आदि आधारों से इन्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु क्षेत्रीय नेताओं द्वारा अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये इन आन्दोलनों को गलत दिशा देने के उदाहरणों को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

उपरोक्त अध्ययन द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। उप–क्षेत्रीयतावाद या पृथक राज्य आन्दोलन के संदर्भ में आम नागरिकों का मत जानने के लिए प्राथमिक आंकड़ों का भी संग्रहण किया गया है जिसका विश्लेषण इस प्रकार है।

शोध प्रबन्ध हेतु संग्रहीत प्राथमिक आंकड़ों का विश्लेषण– पृथक राज्य आन्दोलन एवं नये राज्यों के निर्माण के संदर्भ में आम मतदाता क्या चाहते हैं, उनकी राय (मत) का परीक्षण करने के लिये साक्षात्कार अनुसूची की सहायता से एक अध्ययन किया गया जिसमें पृथक राज्य आन्दोलन की मांग के पीछे सहायक कारकों, प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग की असफलता के आधारों, नये राज्यों के निर्माण, एक और राज्य पुनर्गठन आयोग के गठन, राज्यों के पुनर्गठन के आधार, नये राज्यों की स्थापना में पड़ने वाले प्रशासनिक और वित्तीय बोझ की प्रतिपूर्ति हेतु दीर्घगामी सुधार कार्यक्रम लागू किये जाने आदि से संबंधित प्रश्नों को शामिल किया गया है।

प्रतिवादी या उत्तरदाता– उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल में स्थित आम मतदाता जिसमें राजनीतिक और अराजनीतिक, कार्यकर्ता जिन्हे पृथक राज्य आन्दोलन के संबंध में जानकारी थी का साक्षात्कार, साक्षात्कार सूची[1] के माध्यम से लिया गया। उत्तरदाताओं का चयन यादृच्छिक आधार पर किया गया, जिनका विभिन्न वर्गीकरण के आधारों पर विवरण निम्नवत् है।

सारणी : 5.1

प्रतिदर्श उत्तरदाताओं का विवरण

विवरण		संख्या
क्षेत्र :	ग्रामीण	38
	शहरी	62
धर्म :	हिन्दू	72
	मुस्लिम व अन्य	28
सामाजिक स्थिति :	अनु0जाति/जनजाति	30
	अन्य पिछडा वर्ग	14
	सामान्य	56
आयु :	18 से 40 वर्ष	43
	40 से 60 वर्ष	37
	60 वर्ष से अधिक	20
शैक्षिक स्थिति :	स्नातक या स्नातक से कम	68
	स्नातक से अधिक (स्नातकोत्तर	32
आर्थिक स्थिति :	निम्न व निम्न–मध्यम आय वर्ग	25
	मध्यम एवं उच्च आय वर्ग	75
	कुल उत्तरदाता	100

स्रोत :– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार।

कुल 100 लोगों से साक्षात्कार लिया गया जिनमें से 38.0% ग्रामीण पृष्ठभूमि के और 62% शहरी पृष्ठभूमि के थे। उत्तरदाताओं में से 72.0% हिन्दू जबकि 28.0% में मुस्लिम तथा अन्य धर्म के मतालम्बी थे। सामाजिक स्थिति के आधार पर 30.0% अनु0 जाति/जनजाति के, 14.0% अन्य पिछड़ा वर्ग के और 56.0% सामान्य वर्ग के उत्तरदाता थे। इनमें से 43.0% लोग 18 से 40 वर्ष के, 37.0% लोग 40 से 60 वर्ष के और 20.0% 60 वर्ष से अधिक उम्र के थे। 32.0% लोग स्नातकोत्तर या इससे उच्च शिक्षित थे जबकि 68.0% लोगों का शैक्षिक स्तर स्नातक या इससे कम था। उत्तरदाताओं में से 25.0% लोग निम्न–मध्यम आय वर्ग से सम्बन्धित और 75.0% मध्यम एवं उच्च आय वर्ग से सम्बन्धित थे।

सारणी : 5.2 के अवलोकन से स्पष्ट है कि क्षेत्रीय स्वायत्तता की भावना को पृथक राज्य की मांग में तबदील करने की दृष्टि से विभेदकारी आर्थिक नीतियों का अनुपालन और क्षेत्रीय दलों का अभ्युदय एवं उनके द्वारा सत्ता प्राप्ति हेतु क्षेत्रीय भावना को उभारना दो प्रमुख कारण रहे हैं। जबकि मात्र 34.0% लोगों ने ही पुरानी राज्य क्षेत्रीय सीमा के प्रति निष्ठा को एक कारण के रूप में स्वीकार किया है।

सारणी : 5.2

क्षेत्रीय स्वायत्तता की भावना को उभारने में योगदान करने वाले कारणों का वर्गीकरण

विवरण	पुरानी राज्य सीमा के प्रति निष्ठा		विभेदकारी आर्थिक नीतियो का अनुपालन		क्षेत्रीय दलो का अभ्युदय एव उनके द्वारा सत्ता प्राप्ति हेतु क्षेत्रीय भावना को उभारना	
	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं
क्षेत्र : ग्रामीण	15 (39.47)*	23 (60.53)	25 (65.79)	13 (34.21)	30 (78.95)	08 (21.05)
शहरी	19 (30.65)	43 (69.35)	45 (72.58)	17 (27.42)	52 (83.87)	10 (16.13)
धर्म : हिन्दू	26 (36.11)	46 (63.89)	49 (68.06)	23 (31.94)	61 (84.72)	11 (15.28)
मुस्लिम व अन्य	08 (28.57)	20 (71.43)	21 (75.00)	07 (25.00)	11 (39.29)	17 (60.71)
सामाजिक स्थिति :						
अनु0जति / जनजाति	10 (33.33)	20 (66.67)	21 (70.00)	09 (30.00)	24 (80.00)	06 (20.00)
अन्य पिछड़ा वर्ग	04 (28.57)	10 (71.43)	10 (71.43)	04 (28.57)	14 (100.0)	00 (00.00)
सामान्य	20 (35.71)	36 (64.29)	39 (69.54)	17 (30.36)	44 (78.57)	12 (21.43)
आयु : 18 से 40 वर्ष	12 (27.91)	31 (72.09)	32 (74.42)	11 (25.58)	35 (81.40)	08 (18.60)
40 से 60 वर्ष	14 (37.84)	23 (62.16)	27 (72.97)	10 (27.03)	32 (86.49)	05 (13.51)
60 से अधिक	08 (40.00)	12 (60.00)	11 (55.00)	09 (45.00)	15 (75.00)	05 (25.00)
शैक्षिक स्थिति :						
स्नातक या स्नातक से कम	24 (35.29)	44 (64.71)	48 (70.59)	20 (29.41)	55 (80.88)	13 (19.12)
स्नातक से अधिक	10 (31.25)	22 (68.75)	22 (68.75)	10 (31.25)	27 (84.38)	05 (15.62)
आर्थिक स्थिति :						
निम्न एवं निम्न–मध्यम आय वर्ग	09 (36.00)	16 (64.00)	18 (72.00)	07 (28.00)	21 (84.00)	04 (16.00)
मध्यम एवं उच्च आय वर्ग	25 (33.33)	50 (66.67)	52 (69.33)	23 (30.67)	61 (81.33)	14 (18.67)
कुल उत्तरदाता	34 (34.00)	66 (66.00)	70 (70.00)	30 (30.00)	82 (82.00)	18 (18.00)

स्रोत :– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। * कोष्ठक में अंकित अंक प्रतिशत दर्शाते हैं।

सारणी : 5.3 के अवलोकन से स्पष्ट है कि पृथक राज्य की मांग के सर्वप्रमुख कारणों में क्षेत्रीय पहचान, आर्थिक विषमता एवं पिछड़ापन तथा भाषावाद का प्रभाव रहा है, जिसका क्रमशः 82.0%, 79.0%, तथा 61.0%, लोगों ने समर्थन किया है। 59.0%, लोगों ने धर्म को, 53.0%, लोगों ने भूमिपुत्र सिद्धान्त को, 51.0% लोगों ने जातीय पहचान को और 47.0% लोगों ने सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को भी पृथक राज्य आन्दोलन का आधार माना है। इनका यह भी

सारणी : 5.3

पृथक राज्य आन्दोलन में सहायक कारकों का वितरण

विवरण	राजनीतिक लाभ हेतु धर्म का प्रयोग		जातीय पहचान		भाषावाद का प्रभाव		आर्थिक विषमता (तिरस्कार) और पिछड़ापन		क्षेत्र की सार्वभौमिकता या क्षेत्रीय पहचान		ऐतिहासिक एवं सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि		रोजगार और शैक्षणिक अवसरो हेतु भूमिपुत्र सिद्धान्त का प्रयोग	
	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं	हॉ	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ	नही	हाँ	नहीं	हाँ	नही
क्षेत्र : ग्रामीण	22(57.89)*	16(42.11)	19(50.00)	19(50.00)	23(60.53)	15(39.47)	29(76.32)	09(23.68)	30(78.95)	08(21.05)	17(71.05)	11(28.95)	20(52.63)	18(47.37)
शहरी	37(59.68)	25(40.32)	32(51.61)	30(48.39)	38(61.29)	24(38.71)	50(80.65)	12(19.35)	52(83.87)	10(16.13)	30(48.39)	32(51.61)	33(53.23)	29(46.77)
धर्म : हिन्दू	43(59.72)	29(40.28)	36(50.00)	36(50.00)	44(61.11)	28(38.89)	57(79.17)	15(20.38)	60(83.33)	12(16.67)	34(47.22)	38(52.78)	40(55.56)	32(44.44)
मुस्लिम व अन्य	16(57.14)	12(42.86)	15(53.57)	13(46.43)	17(60.71)	11(39.29)	22(78.57)	06(21.43)	22(78.57)	06(21.43)	13(46.43)	15(53.57)	13(46.43)	15(53.57)
सामाजिक स्थिति :														
अनु0जति / जनजाति	18(60.00)	12(40.00)	15(50.00)	15(50.00)	19(63.33)	11(36.67)	24(80.00)	06(20.00)	25(83.33)	05(16.67)	14(46.67)	16(53.33)	24(80.00)	06(20.00)
अन्य पिछड़ा वर्ग	10(71.42)	04(28.58)	08(57.14)	06(42.86)	10(71.42)	04(28.58)	12(85.71)	02(14.29)	12(85.71)	02(14.29)	07(50.00)	07(50.00)	09(64.29)	05(35.71)
सामान्य	31(55.36)	25(44.64)	28(50.00)	28(50.00)	32(57.14)	24(42.86)	43(76.79)	13(23.21)	45(80.36)	11(19.64)	26(46.43)	30(53.57)	20(35.71)	36(64.29)
आयु : 18 से 40 वर्ष	26(60.47)	17(39.53)	22(51.16)	21(48.84)	27(62.79)	16(37.21)	34(79.07)	09(20.93)	36(83.72)	07(16.28)	21(48.84)	22(51.16)	23(53.49)	20(46.51)
40 से 60 वर्ष	21(56.76)	16(43.24)	19(51.35)	18(48.65)	22(59.45)	15(40.55)	29(78.38)	08(21.62)	30(81.08)	07(18.92)	16(43.24)	21(56.76)	19(51.35)	18(48.65)
60 से अधिक	12(60.00)	08(40.00)	10(50.00)	10(50.00)	12(60.00)	08(40.00)	16(80.00)	04(20.00)	16(80.00)	04(20.00)	10(50.00)	10(50.00)	11(55.00)	09(45.00)
शैक्षिक स्थिति														
स्नातक या स्नातक से कम	41(60.29)	27(39.71)	35(51.47)	33(48.53)	42(61.76)	26(38.24)	54(79.41)	14(20.59)	56(82.35)	12(17.65)	33(48.53)	35(51.47)	37(54.41)	31(45.59)
स्नातक से अधिक	18(56.25)	14(43.75)	16(50.00)	16(50.00)	19(59.38)	13(40.63)	25(78.13)	07(21.88)	26(81.25)	06(18.75)	14(43.75)	18(56.25)	16(50.00)	16(50.00)
आर्थिक स्थिति														
निम्न एवं निम्न-मध्यम आय वर्ग	15(60.00)	10(40.00)	13(52.00)	12(48.00)	16(64.00)	09(36.00)	20(80.00)	05(20.00)	21(84.00)	04(16.00)	12(480.0)	13(52.00)	14(56.00)	11(44.00)
मध्यम एव उच्च आय वर्ग	44(58.67)	31(41.33)	38(50.67)	37(49.33)	45(60.00)	30(40.00)	59(78.67)	16(21.33)	61(81.33)	14(18.67)	35(46.67)	40(53.33)	39(52.00)	36(48.00)
कुल उत्तरदाता	59(59.00)	41(41.00)	51(51.00)	49(49.00)	61(61.00)	39(39.00)	79(79.00)	21(21.00)	82(82.00)	18(18.00)	47(47.00)	53(53.00)	53(53.00)	47(47.00)

स्रोत :– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। * कोष्ठक मे अंकित अक प्रतिशत दर्शाते हैं।

कहना है कि नेताओ ने धर्म का प्रयोग प्रायः अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति और राजनीतिक लाभ के लिये किया है, जिससे राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को आघात पहुचा है। इनका यह भी मानना है कि पृथक राज्य की स्थापना मे पंजाब को छोड़कर इसका कही योगदान नही रहा है। इसी प्रकार रोजगार और शैक्षणिक अवसरो तथा [illegible] को हथियाने के लिये, भूमिपुत्र के सिद्धान्त के प्रयोग ने क्षेत्रीयतावाद की अभिवृद्धि मे तो अपना योगदान दिया है, किन्तु पृथक राज्य की मांग में इसका कोई सीधा योगदान नही रहा है। यद्यपि इसके गौण महत्व से इन्कार नही किया जा सकता। यहॉ यह भी ध्यातव्य है कि इसे पृथक राज्य का एक कारण मानने वालो मे अनु0जाति/जनजाति के लोगों का प्रतिशत सर्वाधिक है, जिनके 80.0% लोगों ने इसका एक कारण के रूप में समर्थन किया है।

सारणी : 5.4

राष्ट्रीय एकीकरण की दृष्टि से और प्रान्तों की स्थापना पर उत्तरदाताओं के विचार

विवरण		उत्तरदाताओं की संख्या	
		हॉ	नहीं
क्षेत्र :	ग्रामीण	21(55.26)*	17(44.74)
	शहरी	37(59.68)	22(40.32)
धर्म :	हिन्दू	41(56.94)	31(43.06)
	मुस्लिम व अन्य	17(60.71)	11(39.29)
सामाजिक स्थिति :	अनु0जाति/जनजाति	18(60.00)	12(40.00)
	अन्य पिछड़ा वर्ग	9(64.29)	05(35.71)
	सामान्य	31(55.36)	25(44.64)
आयु :	18 से 40 वर्ष	26(60.47)	17(39.53)
	40 से 60 वर्ष	21(56.76)	16(43.24)
	60 से अधिक	11(55.00)	09(45.00)
शैक्षिक स्थिति :	स्नातक या स्नातक से कम	39(57.35)	29(42.65)
	स्नातक से अधिक	19(59.38)	13(40.63)
आर्थिक स्थिति :	निम्न एव निम्न–मध्यम आय वर्ग	15(60.00)	10(40.00)
	मध्यम एवं उच्च आय वर्ग	43(57.33)	32(42.67)
	कुल उत्तरदाता	58(58.00)	42(42.00)

स्रोत :–क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। *कोष्ठक में अंकित अंक प्रतिशत दर्शाते हैं।

सारणी : 5.4 में वर्णित ऑकड़े दर्शाते हैं कि 58.0% लोगों ने नवीन राज्यों के निर्माण का समर्थन किया है जबकि 42.0% लोगो ने कहा कि और राज्यों का निर्माण नहीं किया जाना चाहियें। राज्य निर्माण के समर्थकों का कहना है कि यदि बडे राज्यों को छोटे–छोटे राज्यों में बांट दिया जाता है तो राज्यों के आकार में समरूपता आने पर केन्द्रीय राजनीति में उ0प्र0 और बिहार जैसे बड़े राज्यों के नेताओं को मनमानी करने से रोका जा सकता है और संघीय राजनीति में इनके वर्चस्व या प्रभाव

को सीमित किया जा सकता है, जिससे संघीय भावना को बल प्राप्त होगा। छोटा राज्य बनने से इन बड़े प्रदेशों के अविकसित क्षेत्र भी अपना विकास कार्य कर सकेंगे, जिससे देश के समग्र विकास को और गति प्राप्त हो सकेगी।

लगभग 70.0% लोगो का मानना है कि प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग अपने ध्येय में असफल रहा है जबकि 30.0% लोगो ने इसके विपरीत अपना मत दिया है, जिनका मानना है कि प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग अपने ध्येय में सफल रहा है और पृथक राज्य आन्दोलनों की माग के नेपथ्य में प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग की असफलता नही वरन् अन्य अनेक दूसरे कारणों का हाथ रहा है (सारणीः 5.5)।

सारणी : 5.5

प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग की असफलता पर उत्तरदाताओं के विचार

विवरण		उत्तरदाताओं की संख्या	
		हाँ	नहीं
क्षेत्र :	ग्रामीण	27(71.05)*	11(28.95)
	शहरी	43(69.35)	19(30.65)
धर्म :	हिन्दू	51(70.83)	21(29.17)
	मुस्लिम व अन्य	19(67.86)	09(32.14)
सामाजिक स्थिति :	अनु०जाति/जनजाति	22(73.33)	08(26.67)
	अन्य पिछड़ा वर्ग	10(71.43)	04(28.57)
	सामान्य	38(67.86)	18(32.14)
आयु :	18 से 40 वर्ष	31(72.09)	12(27.91)
	40 से 60 वर्ष	25(67.57)	12(32.43)
	60 से अधिक	14(70.00)	06(30.00)
शैक्षिक स्थिति :	स्नातक या स्नातक से कम	48(70.59)	20(29.41)
	स्नातक से अधिक	22(68.75)	10(31.25)
आर्थिक स्थिति :	निम्न एवं निम्न–मध्यम आय वर्ग	19(76.00)	06(24.00)
	मध्यम एवं उच्च आय वर्ग	51(68.00)	24(32.00)
	कुल उत्तरदाता	70(70.00)	30(30.00)

स्रोत :– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। * कोष्ठक में अंकित अंक प्रतिशत दर्शाते हैं।

प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग को अपने ध्येय में असफल मानने वालों में से 71.43% लोगो ने क्षेत्रीय विषमता से प्रभावित समूहों के असन्तोष को 61.43% लोगो ने गठित राज्यों में आन्तरिक एकरसता के अभाव को 82.86% लोगो ने उपभाषा (बोली, के प्रभाव और राज्यों के आकार में गहरी असमानता) को तथा 70.0% लोगो ने उन आयामों को पहचानने में नाकामी, जिनके कारण अलग–अलग क्षेत्रीय आन्दोलन पैदा हुयें है को प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग की असफलता का आधार माना है। किन्तु, एक बात पर सभी सहमत थे कि राज्य पुनर्गठन आयोग की असफलता में सभी कारणों का कुछ न कुछ सम्मिलित योगदान रहा है (सारणी : 5.6)।

सारणी : 5.6

प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग की असफलता के कारणों पर उत्तरदाताओं के विचार

विवरण	क्षेत्रीय विषमता से प्रभावित समूहों का असन्तोष		गठित राज्यों में आन्तरिक एकरसता का अभाव		उपभाषा (बोली) का प्रभाव और राज्यों के आकार में गहरी असमानता		क्षेत्रीय आन्दोलनो के आयामों एवं कारणों को पहचानने में नाकामी	
	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं	हॉ	नहीं	हॉ	नहीं
क्षेत्र : ग्रामीण	20 (74.07)*	07 (25.93)	17 (62.96)	10 (37.04)	22 (81.48)	05 (18.52)	19 (70.37)	08 (29.63)
शहरी	30 (69.77)	13 (30.23)	26 (60.47)	17 (39.53)	36 (83.72)	07 (16.28)	30 (69.76)	13 (30.24)
धर्म : हिन्दू	36 (70.59)	15 (29.41)	30 (60.78)	41 (39.22)	10 (82.35)	21 (17.65)	36 (70.59)	15 (29.41)
मुस्लिम व अन्य	14 (73.68)	05 (26.32)	12 (63.16)	07 (36.84)	16 (84.21)	03 (15.79)	13 (68.42)	06 (31.58)
सामाजिक स्थिति :								
अनु0जति / जनजाति	16 (72.73)	06 (27.27)	13 (59.09)	09 (40.81)	18 (81.82)	04 (18.18)	15 (68.18)	07 (41.82)
अन्य पिछड़ा वर्ग	07 (70.00)	03 (30.00)	06 (60.00)	04 (40.00)	08 (80.00)	02 (20.00)	07 (70.00)	03 (30.00)
सामान्य	27 (71.05)	11 (28.95)	24 (63.16)	14 (36.84)	32 (84.21)	06 (15.79)	27 (71.05)	11 (28.95)
आयु : 18 से 40 वर्ष	22 (70.97)	09 (29.03)	19 (61.29)	12 (38.71)	26 (83.87)	05 (16.13)	22 (70.97)	09 (29.03)
40 से 60 वर्ष	18 (72.00)	07 (28.00)	15 (60.00)	10 (40.00)	20 (80.00)	05 (20.00)	17 (68.00)	08 (32.00)
60 से अधिक	10 (71.43)	04 (28.57)	09 (64.29)	05 (35.71)	12 (85.71)	02 (14.29)	10 (71.43)	04 (28.57)
शैक्षिक स्थिति :								
स्नातक या स्नातक से कम	34 (70.83)	14 (29.17)	29 (60.41)	19 (39.59)	40 (83.33)	08 (16.67)	34 (70.83)	14 (29.17)
स्नातक से अधिक	16 (72.73)	06 (27.17)	14 (63.64)	08 (36.36)	18 (81.82)	04 (18.18)	15 (68.18)	07 (31.82)
आर्थिक स्थिति :								
निम्न एवं निम्न–मध्यम आय वर्ग	13 (68.42)	06 (31.58)	12 (63.16)	07 (36.84)	16 (84.21)	03 (15.79)	13 (68.42)	06 (31.58)
मध्यम एवं उच्च आय वर्ग	37 (72.55)	14 (27.45)	31 (60.78)	20 (39.22)	42 (82.35)	09 (17.65)	36 (70.59)	15 (29.41)
कुल उत्तरदाता	50 (71.43)	20 (28.57)	43 (61.43)	27 (38.57)	58 (82.86)	12 (17.14)	49 (70.00)	21 (30.00)

स्रोत :– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। * कोष्ठक में अंकित अक प्रतिशत दर्शाते हैं।

सारणी : 5.7
एक और राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति पर उत्तरदाताओं के विचार

विवरण		उत्तरदाताओं की संख्या	
		हाँ	नहीं
क्षेत्र :	ग्रामीण	20 (52 63)*	18 (47.37)
	शहरी	41 (66 13)	21 (33.87)
धर्म :	हिन्दू	44 (61.11)	28 (38.89)
	मुस्लिम व अन्य	17 (60.71)	11 (39.29)
सामाजिक स्थिति :	अनु0जति / जनजाति	22 (73.33)	08 (26.67)
	अन्य पिछडा वर्ग	10 (71.43)	04 (28.57)
	सामान्य	29 (51.78)	27 (48.22)
आयु .	18 से 40 वर्ष	28 (65.12)	15 (34.88)
	40 से 60 वर्ष	23 (62.16)	14 (37.84)
	60 से अधिक	10 (50.00)	10 (50.00)
शैक्षिक स्थिति :	स्नातक या स्नातक से कम	40 (58.82)	28 (41.18)
	स्नातक से अधिक	21 (65.63)	11 (34.37)
आर्थिक स्थिति :	निम्न एवं निम्न–मध्यम आय वर्ग	16 (64.00)	09 (36.00)
	मध्यम एवं उच्च आय वर्ग	45 (60.00)	30 (40.00)
	कुल उत्तरदाता	61 (61.00)	39 (39.00)

स्रोत :– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। *कोष्ठक मे अकित अक प्रतिशत दर्शाते हैं।

सारणी : 5.7 के अवलोकन से स्पष्ट है कि 61.0% लोगो का मानना है कि एक और राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति की जानी चाहिए, ताकि देश में चल रहे पृथक राज्यों की माग का परीक्षण कर कुछ समय के लिये समुचित समाधान निकाला जा सके। राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति के प्रश्न पर सामान्य जाति, ग्रामीण पृष्ठभूमि और 60 वर्ष से अधिक उम्र के लोगो ने पक्ष व विपक्ष मे लगभग बराबर मत दिये हैं। अनुसूचित जाति/जनजाति के 73.33% लोगो ने, अन्य पिछडा वर्ग के 71.43%लोगो ने, शहरी पृष्ठभूमि के 66.13% लोगो ने, 18 से 40 वर्ष के युवाओं में से 65.11% लोगो ने एक और राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति का समर्थन किया है। हिन्दू, मुस्लिम व अन्य धर्मालम्बियों, 40 से 60 वर्ष के प्रौढ़, निम्न एवं निम्न–मध्यम आय वर्ग और मध्यम व उच्च आय वर्ग के लोगों का समर्थन प्रतिशत राष्ट्रीय औसत के आस–पास रहा है।

राज्य पुनर्गठन आयोग के गठन का समर्थन करने वालों में से सभी ने एक मत से प्रशासनिक कार्यकुशलता को इसका आधार बनाये जाने का समर्थन किया है। जबकि, राज्य पुनर्गठन आयोग के समर्थकों में से, आर्थिक सक्षमता को 83.61% ने, उचित समरूप जनसंख्या एवं भौगोलिक

सारणी : 5.8

राज्य के पुनर्गठन हेतु अपनाये जाने वाले आधारों के संबंध में उत्तरदाताओं के विचार

विवरण	आर्थिक सक्षमता		प्रशासनिक कार्यकुशलता		उचित समरूप जनसंख्या		उचित समरूप क्षेत्रफल		सामाजिक–सास्कृतिक भिन्नता		भौगोलिक अवस्थिति		भाषायी आधार		जातीय आधार		धार्मिक आधार	
	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं	हॉ	नहीं	हॉ	नहीं	हॉ	नही	हॉ	नही	हॉ	नही	हॉ	नही
ग्रामीण	18(90.00)*	02(10.00)	20(100.0)	00(0.00)	17(85 00)	03(15 00)	17(85.00)	03(15 00)	09(45.00)	11(55 00)	18(90.00)	02(10 00)	02(10 00)	18(90 00)	02(10 00)	18(90 00)	00(0 00)	20(100 0)
शहरी	33(80.49)	08(19.51)	41(100 0)	00(0.00)	32(78.05)	09(21.95)	29(70.73)	12(29 27)	23(56 10)	18(43.90)	31(75.61)	10(24 39)	03(07 32)	38(92 68)	00(0.00)	41(100 0)	03(07 32)	38(92 68)
हिन्दू	38(86.36)	06(13.64)	44(100.0)	00(0 00)	35(79.55)	09(20.45)	32(72.73)	12(27 27)	25(56 82)	19(43.18)	34(77.27)	10(22 73)	02(04 56)	42(95 44)	02(04 56)	42(95 44)	00(0 00)	44(100 0)
मुस्लिम व अन्य	13(76.47)	04(23.53)	17(100.0)	00(0 00)	14(82 35)	03(17 65)	14(82 35)	03(17 65)	07(41.18)	10(58.82)	15(88 24)	02(11 76)	03(17 65)	14(82 35)	00(0 00)	17(100.0)	03(17.65)	14(82 35)
सामाजिक स्थिति :																		
अनु0जति / जनजाति	18(81 82)	04(18.18)	22(100.0)	00(0 00)	17(77.27)	05(22 73)	16(72 73)	06(27 27)	15(68.18)	07(31.82)	16(72 73)	06(27.27)	00(0 00)	22(100.0)	00(0 00)	22(100 0)	00(0 00)	22(100 0)
अन्य पिछडा वर्ग	08(80.00)	02(20.00)	10(100.0)	00(0 00)	08(80 00)	02(20 00)	07(70.00)	03(30 00)	04(40 00)	06(60 00)	09(90 00)	01(10 00)	02(20 00)	08(80 00)	02(20 00)	08(80 00)	00(0 00)	10(100 0)
सामान्य	25(86.21)	04(13.79)	29(100.0)	00(0 00)	24(82 76)	05(17 24)	23(79 31)	06(20.69)	13(44 83)	16(55 17)	24(82 76)	05(17 24)	03(10 34)	26(89 66)	00(0 00)	29(100 0)	03(10 34)	26(89 66)
आयु : 18 से 40 वर्ष	24(85.71)	04(14.29)	28(100 0)	00(0 00)	23(82.14)	05(17.86)	21(75 00)	07(25 00)	14(50 00)	14(50 0)	25(89.29)	03(10 71)	00(0 00)	28(100 0)	00(0 00)	28(100 0)	00(0 00)	28(100 0)
40 से 60 वर्ष	20(86.96)	03(13.04)	23(100.0)	00(0 00)	19(82.61)	04(17 39)	18(78 26)	05(21 74)	12(52 17)	11(47 83)	18(78 26)	05(21.74)	05(21 74)	18(78 26)	02(08.70)	21(91 30)	03(13 04)	20(86 96)
60 से अधिक	07(70.00)	03(30.00)	10(100 0)	00(0.00)	07(70.00)	03(30.00)	07(70.00)	03(30 00)	06(60 00)	04(40 00)	06(60 00)	04(40 00)	00(0 00)	10(100 0)	00(0 00)	10(100 0)	00(0.00)	10(100 0)
शैक्षिक स्थिति :																		
स्नातक या स्नातक से कम	32(80.30)	08(20.00)	40(100.0)	00(0 00)	31(77.50)	09(22 50)	31(77 50)	09(22 50)	21(52.50)	19(47.50)	33(82 50)	07(17.50)	05(12 50)	35(87 50)	02(05 00)	38(95 00)	03(07 50)	37(92 50)
स्नातक से अधिक	19(90 48)	02(09.52)	21(100 0)	00(0 00)	18(85 71)	03(14.29)	15(71.43)	06(28 57)	11(52 38)	10(47 62)	16(76 19)	05(23.81)	00(0 00)	21(100 0)	00(0 00)	21(100 0)	00(0 00)	21(100 0)
आर्थिक स्थिति :																		
निम्न एवंनिम्न-मध्यम आय वर्ग	13(81.25)	03(18.75)	16(100.0)	00(0 00)	13(81.25)	03(18.75)	12(75.00)	04(25.00)	09(56.25)	07(43 75)	12(75 00)	04(25 00)	04(25 00)	12(75 00)	02(12.50)	14(87 50)	02(12 50)	14(87 50)
मध्यम एव उच्च आय वर्ग	38(84 44)	07(15.56)	45(100 0)	00(0 00)	36(80.00)	09(20.00)	34(75 56)	11(24 44)	23(51.11)	22(48.89)	37(82.22)	08(17 78)	01(02 22)	44(97 78)	00(0 00)	45(100 0)	01(02 22)	44(97.78)
कुल उत्तरदाता	51(83.61)	10(16.39)	61(100.0)	00(0.00)	49(80.33)	12(19 67)	46(75 41)	15(24.59)	32(52.46)	29(47 54)	49(80.33)	12(19 67)	05(08 20)	56(91.80)	02(03 28)	59(96 72)	03(04.92)	59(95 08)

स्रोत :– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। *कोष्ठक मे अंकित अंक प्रतिशत दर्शाते हैं।

अवस्थिति को 80.33% ने, उचित समरूप क्षेत्रफल को 75.41% ने तथा सामाजिक–सांस्कृतिक भिन्नता को 52.46% लोगो ने राज्य पुनर्गठन का आधार बनाये जाने का समर्थन किया है। भाषा, जाति एवं धर्म को इसका आधार बनाये जाने का लोगों ने भारी बहुमत से विरोध किया है। भाषा, जाति एवं धर्म को क्रमशः मात्र 8.20%, 3.28% एवं 4.92% लोगों ने इसका आधार बनाये जाने के रूप में समर्थन किया है। ग्रामीणों, मुसलमानों व अन्य धर्मालम्बियों तथा सामान्य एवं अन्य पिछड़ा वर्ग के आधे से अधिक लोगों ने सामाजिक–सांस्कृतिक भिन्नता को राज्य के गठन का आधार बनाये जाने का विरोध किया है (सारणी : 5.8)।

47.0% लोगों का मानना है कि राज्य की जनसंख्या वर्ष 2001 की जनगणना को आधार मानने पर 5 करोड़ और 25.0% लोगों का मानना है कि यह 3 करोड़ से अधिक नहीं होना चाहिए। जबकि, 13.0% लोगों का मानना है कि प्रशासनिक कार्यकुशलता पर राज्य की जनसंख्या का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और यह कितनी भी रखी जा सकती है। 15.0% लोगों ने कहा है कि राज्य की जनसंख्या 10 करोड़ से अधिक नहीं होना चाहिए। स्पष्ट है कि राज्य की आबादी 5 करोड़ से कम रखने वालों का प्रतिशत 72.0 (25+47) है।

इसी प्रकार 40.0% लोगों का मानना है कि प्रशासनिक कार्यकुशलता के लिये आवश्यक है कि राज्य का क्षेत्रफल देश के कुल भू–क्षेत्रफल के 5.0% से अधिक नहीं रखा जाना चाहिए। 21.0% लोगों का कहना है कि यह देश के कुल भू–क्षेत्रफल का 3.0% से अधिक नहीं होना चाहिए। 27.0% लोगों ने सुझाव दिया कि यह देश के कुल भू–क्षेत्रफल का 10.0% से अधिक नहीं रखा जाना चाहिए। जबकि, 12.0% लोगों का मानना है कि राज्य के क्षेत्रफल का प्रशासनिक कार्यकुशलता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और यह कितना भी रखा जा सकता है (सारणी : 5.9)।

प्रशासनिक और वित्तीय क्षेत्र में दीर्घगामी सुधार कार्यक्रम लागू किये जाने के संबंध में 81.0% लोगों ने राज्यपाल के पद को समाप्त कर क्षेत्रीय परिषद के प्रमुख के रूप में राज्यपाल की नियुक्ति किये जाने का समर्थन किया है। विधान परिषद समाप्त करने के संदर्भ में जहाँ अधिकांश युवाओं (69.77%) ने इसे समाप्त करने के पक्ष में मत दिया है वहीं बुजुर्गों में से मात्र 25.0% ने इस समाप्त किये जाने का समर्थन किया है। मंत्रिमण्डल का आकार छोटा रखने हेतु संवैधानिक प्रावधान किये जाने का 97.0% लोगों ने समर्थन किया है और मात्र 3.0% लोगों ने यह प्रावधान किये जाने का विरोध किया है। लोगों का मानना है कि मंत्रिमण्डल का जो विशाल आकार है, वह प्रशासन की कार्यकुशलता की दृष्टि से नहीं बल्कि विधायकों को संतुष्ट करने के कारण होता है, जिसके कारण राज्यों पर अनावश्यक बोझ पड़ता है और विकास कार्य प्रभावित होते हैं। इसी प्रकार लोगों का कहना है कि अब राज्यपाल भी सक्रिय राजनीति में उतरकर दलगत भावना से काम करने लगे हैं। यदि कई राज्यों का एक ही राज्यपाल बनाया

सारणी : 5.9

प्रशासनिक कार्यकुशलता के लिये राज्य की अधिकतम् जनसंख्या एवं क्षेत्रफल पर उत्तरदाताओं के विचार

विवरण	अधिकतम जनसंख्या					अधिकतम क्षेत्रफल				
	तीन करोड़ से अधिक नहीं	5 करोड़ से अधिक नहीं	10 करोड़ से अधिक नहीं	कितनी भी जनसंख्या हो सकती है	उत्तरदाताओं की संख्या का योग	98.600किमी0² या क्षेत्रफल का 3%	164 400किमी0² या क्षेत्रफल का 5%	328.700किमी0² या क्षेत्रफल का 10%	कितना भी क्षेत्रफल हो सकता है	उत्तरदाताओं की सख्या का योग
क्षेत्र : ग्रामीण	10 (26.32)*	19 (50 00)	05 (13.16)	04 (10.53)	38	08 (21.05)	15 (39.47)	11 (28 95)	04 (10 53)	38
शहरी	15 (24 19)	28 (45 16)	10 (16.13)	09 (14 52)	62	13 (20 97)	25 (40.32)	16 (25 81)	08 (12 90)	62
धर्म . हिन्दू	18 (25 00)	33 (45.83)	11 (15.28)	10 (13 89)	72	14 (19.44)	31 (43 06)	18 (25 00)	09 (12 50)	72
मुस्लिम व अन्य	07 (25 00)	14 (50 00)	04 (14 29)	03 (10 71)	28	07 (25.00)	09 (32 14)	09 (32 14)	03 (10 71)	28
सामाजिक स्थिति :										
अनु0जति / जनजाति	08 (26.67)	13 (43 33)	05 (16 67)	04 (13.33)	30	07 (23 33)	11 (36.67)	08 (26 67)	04 (13.33)	30
अन्य पिछड़ा वर्ग	04 (28.57)	06 (42.86)	02 (14.29)	02 (14.29)	14	03 (21.43)	05 (35.71)	04 (28.57)	02 (14.29)	14
सामान्य	13 (23.21)	28 (50.00)	08 (14 29)	07 (12 50)	56	11 (19 64)	24 (42 86)	15 (26 79)	06 (10 71)	56
आयु : 18 से 40 वर्ष	11 (25.58)	21 (48.84)	06 (13 95)	05 (11.63)	43	09 (20 93)	18 (41 86)	12 (27 91)	04 (9 30)	43
40 से 60 वर्ष	10 (27 03)	18 (48 65)	06 (16 22)	03 (8.11)	37	07 (18 92)	04 (10 81)	10 (27 03)	06 (16 22)	37
60 से अधिक	04 (20.00)	08 (40.00)	03 (15.00)	05 (25.00)	20	05 (25 00)	08 (40.00)	05 (25 00)	02 (10 00)	20
शैक्षिक स्थिति :										
स्नातक या स्नातक से कम	18 (26.47)	32 (47.06)	10 (14 71)	08 (11 76)	68	14 (20.59)	28 (41.18)	18 (26.47)	08 (11 76)	68
स्नातक से अधिक	07 (21.88)	15 (46.88)	05 (15 63)	05 (15.63)	32	07 (21 88)	12 (37 50)	09 (28 13)	04 (12 50)	32
आर्थिक स्थिति .										
निम्न एव निम्न–मध्यम आय वर्ग	06 (24.00)	14 (56 00)	03 (12 00)	02 (8 00)	25	05 (20 00)	09 (36 00)	07 (28 00)	04 (16 00)	25
मध्यम एवं उच्च आय वर्ग	19 (25 33)	33 (44.00)	12 (16.00)	11 (14 67)	75	16 (21 33)	31 (41 33)	20 (26.67)	08 (10 67)	75
कुल उत्तरदाता	25 (25 00)	47 (47.00)	15 (15 00)	13 (13 00)	100	21 (21 00)	40 (40.00)	27 (27 00)	12 (12.00)	100

स्रोत :– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। *कोष्ठक में अंकित अक प्रतिशत दर्शाते है।

जायेगा तो उसके पास किसी राज्य विशेष की राजनीतिक उठापटक में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप करने का समय नहीं रहेगा और वह निष्पक्ष रूप से कार्य कर सकेगा (सारणी : 5.10)।

सारणी : 5.10

नये राज्यों की स्थापना से पड़ने वाले प्रशासनिक और वित्तीय बोझ की प्रतिपूर्ति हेतु किये जाने वाले उपायों पर उत्तरदाताओं के विचार

विवरण	राज्यपाल का पद समाप्त कर क्षेत्रीय परिषदे गठित की जाय जिसका प्रमुख राज्यपाल को बनाया जाय जो राज्यपाल के वर्तमान कर्तव्यो का निर्वहन करे।		विधान परिषद जैसी सस्थाओ को समाप्त किया जाय		मन्त्रिमण्डल का आकार छोटा रखने का संवैधानिक प्रावधान होना चाहिए	
	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ	नहीं
क्षेत्र : ग्रामीण	30 (78.95)*	08 (21.05)	11 (28.95)	27 (71.05)	35 (92.10)	03 (7.90)
शहरी	51 (82.26)	11 (17.74)	39 (62.90)	23 (37.10)	62 (100.00)	00 (0.00)
धर्म : हिन्दू	59 (81.94)	13 (18.06)	34 (47.22)	38 (52.78)	71 (98.61)	01 (1.39)
मुस्लिम व अन्य	22 (78.57)	06 (21.43)	16 (57.14)	12 (42.86)	26 (92.86)	02 (7.14)
सामाजिक स्थिति :						
अनु0जति / जनजाति	25 (83.33)	05 (16.67)	15 (50.00)	15 (50.00)	29 (96.67)	01 (3.33)
अन्य पिछड़ा वर्ग	12 (85.71)	02 (14.29)	06 (42.86)	08 (57.14)	14 (100.00)	00 (0.00)
सामान्य	44 (78.57)	12 (21.43)	29 (51.79)	27 (48.21)	54 (96.43)	02 (3.57)
आयु : 18 से 40 वर्ष	38 (88.37)	05 (11.63)	30 (69.77)	13 (30.23)	43 (100.00)	00 (0.00)
40 से 60 वर्ष	31 (83.78)	06 (16.22)	15 (40.54)	22 (59.46)	35 (94.59)	02 (5.41)
60 से अधिक	12 (60.00)	08 (40.00)	05 (25.00)	15 (75.00)	19 (95.00)	01 (5.00)
शैक्षिक स्थिति :						
स्नातक या स्नातक से कम	55 (80.88)	13 (19.12)	33 (48.53)	35 (51.47)	65 (95.59)	03 (4.41)
स्नातक से अधिक	26 (81.25)	06 (18.75)	17 (53.13)	15 (46.88)	32 (100.00)	00 (0.00)
आर्थिक स्थिति :						
निम्न एवं निम्न मध्यम आय वर्ग	21 (84.00)	04 (16.00)	14 (56.00)	11 (44.00)	25 (100.0)	00 (0.00)
मध्यम एवं उच्च आय वर्ग	60 (80.00)	15 (20.00)	36 (48.00)	39 (52.00)	72 (96.00)	03 (4.00)
कुल उत्तरदाता	81 (81.00)	19 (19.00)	50 (50.00)	50 (50.00)	97 (97.00)	03 (3.00)

स्रोत .– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। *कोष्ठक में अंकित अंक प्रतिशत दर्शाते हैं।

अनुसूचित जाति/जनजाति और मुस्लिम समुदाय के अधिकांश लोगों ने जनसंख्या के समानुपात में आरक्षण दिये जाने का समर्थन किया है। जबकि, सामान्य और अन्य पिछड़े वर्ग के

अधिकाश लोगों ने आरक्षण दिये जाने का विरोध किया है। आरक्षण समर्थको का यह भी कहना है कि इस आरक्षण की परिधि में राज्य में एक निश्चित अवधि तक निवास करने वाले सभी लोग आने चाहिए और यह अवधि बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए। जनसंख्या के समानुपात में कम या अधिक आरक्षण के संदर्भ में लोगों की प्रतिक्रिया शून्य रही है (सारणी : 5.11)।

सारणी : 5.11

राज्य की योजनाओं और नौकरी में स्थानीय नागरिकों को आरक्षण दिये जाने के संदर्भ में उत्तरदाताओं के विचार

विवरण		जनसंख्या के समानुपात में आरक्षण होना चाहिये	आरक्षण नहीं होना चाहिए
क्षेत्र :	ग्रामीण	15 (39.47)*	23 (60.53)
	शहरी	20 (32.26)	42 (67.74)
धर्म .	हिन्दू	20 (27.78)	52 (72.22)
	मुस्लिम व अन्य	15 (53.57)	13 (46.43)
सामाजिक स्थिति :	अनु0जति/जनजाति	24 (80.00)	06 (20.00)
	अन्य पिछड़ा वर्ग	04 (28.57)	10 (71.43)
	सामान्य	07 (12.50)	49 (87.50)
आयु :	18 से 40 वर्ष	16 (37.21)	27 (62.79)
	40 से 60 वर्ष	13 (35.14)	24 (64.86)
	60 से अधिक	06 (30.00)	14 (70.00)
शैक्षिक स्थिति :	स्नातक या स्नातक से कम	24 (35.29)	44 (64.71)
	स्नातक से अधिक	11 (34.38)	21 (65.63)
आर्थिक स्थिति :	निम्न एवं निम्न–मध्यम आय वर्ग	11 (44.00)	14 (56.00)
	मध्यम एवं उच्च आय वर्ग	24 (32.00)	51 (68.00)
	कुल उत्तरदाता	35 (35.00)	65 (65.00)

स्रोत :– क्षेत्रीय अध्ययन के अनुसार। *कोष्ठक में अकित अंक प्रतिशत दर्शाते हैं।

उपरोक्त क्षेत्रीय अध्ययन के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 58.0% लोगों का मानना है कि कुछ अन्य नवीन राज्यों का निर्माण किया जाना चाहिए। इन 58.0% मतदाताओं के अलावा 3.0% अन्य मतदाताओं ने भी द्वितीय राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति का समर्थन किया है और मत व्यक्त किया है कि नये राज्यों के निर्माण का प्रश्न उस पर छोड़ दिया जाना चाहिए। इन लोगों का यह भी कहना है कि राज्यो के पुनर्गठन के लिये आर्थिक सक्षमता, प्रशासनिक कार्यकुशलता, उचित समरूप जनसंख्या एवं क्षेत्रफल, भौगोलिक अवस्थिति को आधार बनाया जाना चाहिए। सामाजिक–सांस्कृतिक भिन्नता को आधार बनाये जाने के प्रश्न पर पक्ष और विपक्ष में लगभग बराबर मत प्राप्त हुये हैं। अधिकांश लोगों का मानना है कि राज्य की जनसंख्या 5 करोड़ और क्षेत्रफल देश के भू–क्षेत्रफल के 5.0% से अधिक नहीं होना चाहिए।

लोगों का मानना है कि क्षेत्रीय स्वायत्तता की भावना को उभारने में विभेदकारी आर्थिक नीतियों का अनुपालन और क्षेत्रीय दलो का अभ्युदय एवं उनके द्वारा सत्ता प्राप्त हेतु क्षेत्रीय भावना

को उभारना दो प्रमुख कारण रहे है। पृथक राज्य आन्दोलन की मांग में सहायक प्रमुख कारक–क्षेत्रीय पहचान, आर्थिक विषमता और पिछड़ापन तथा भाषावाद का प्रभाव रहे हैं। 70.0% लोगों का मानना है कि प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग अपने ध्येय मे असफल रहा है, क्योंकि यह क्षेत्रीय विषमता में प्रभावित समूहों के असन्तोष, उपभाषा (बोली) के प्रभाव और उन आयामों को पहचानने में नाकाम रहा है, जिनके कारण अलग–अलग क्षेत्रीय आन्दोलन पैदा हुए हैं। इसके साथ ही इसकी संस्तुति पर बनाये गये राज्यों के आकार में गहरी असमानता भी इसके लिये उत्तरदायी रही है।

जहाँ तक नये राज्यों की स्थापना से पडने वाले प्रशासनिक और वित्तीय बोझ की प्रतिपूर्ति का प्रश्न है तो इस सबंध मे लोगों का मत है कि मंत्रिमण्डल का आकार छोटा रखने का संवैधानिक प्रावधान किया जाना चाहिए। साथ ही राज्यपाल का पद समाप्त कर क्षेत्रीय परिषदें गठित की जानी चाहिए, जिसका प्रमुख राज्यपाल को बनाना चाहिए, जो क्षेत्रीय परिषद के अन्तर्गत आने वाले सभी राज्यों में राज्यपाल के वर्तमान कर्तव्यों का निर्वहन करें।
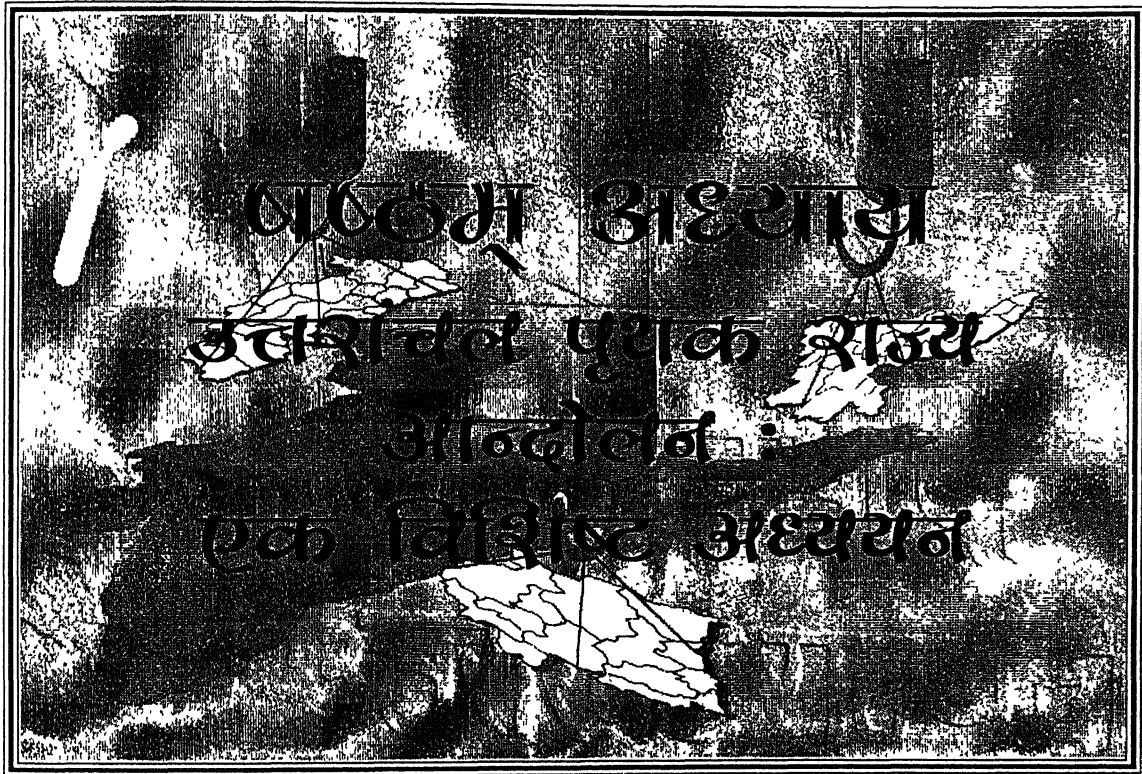
षष्ठम् अध्याय
उत्तरांचल पृथक राज्य
आन्दोलन :
एक विशिष्ट अध्ययन

उत्तरांचल पृथक राज्य आन्दोलन : एक विशिष्ट अध्ययन

उत्तराचल या उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन उत्तर प्रदेश के उत्तर में अवस्थित उस विशिष्ट भौगोलिक समरूप क्षेत्र की स्वायत्तता व स्वशासन का आन्दोलन है जिसका सदियों तक एक सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक इकाई के रूप में पृथक एवं स्वतन्त्र अस्तित्व रहा है। ऐतिहासिक रूप से विकसित यह विशिष्ट भू—भाग अपनी सभ्यता एवं सामाजिक—राजनीतिक संरचना में शेष भारत के मैदानी इलाकों से भिन्न आचंलिक पहचान रखता है।

प्रकृति की अमूल्य कृति हिमालय के मध्यभाग को उत्तराखण्ड कहा जाता है[1], जिसमें उत्तर प्रदेश के कुमाऊँ और गढ़वाल मंडल शामिल थें और अब इसे उत्तरांचल के नाम से अलग प्रशासनिक इकाई के रूप में जाना जाता है।[2] यह एक ऐसी देवभूमि है ; जो पुरातन काल से देवगण, ऋषि—मुनि आदि का निवास स्थल एवं तपोभूमि रहा है। देव दानवों की उत्पत्ति का स्थान गढवाल ही माना जाता है।[3] यह खश बालिका शकुन्तला के पुत्र राजा भरत की जन्मस्थली है, जिनके नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा।[4] प्राचीन ग्रन्थों में इस क्षेत्र या इसके किसी हिस्सों के लिये तपोभूमि, हिमवंत, इलावृत, ब्रह्मपुर, रूद्र हिमालय, बदरिका आश्रम, मानस नाम आदि प्रयुक्त होते रहे हैं।[5] हिमालय के पांच पौराणिक खण्डों में दूसरे और तीसरे को कूर्मांचल तथा केदारखण्ड कहा गया है[6] और स्कन्द पुराण में केदारखण्ड की भूमि को स्वर्गभूमि कहा गया है।[7] स्कन्दपुराण के चालीसवें अध्याय में इस केदारखण्ड की लम्बाई पचास योजन बतायी गयी है, जो वर्तमान उत्तरांचल के समरूप ही है।[8]

1. उत्तराखण्ड शब्द का प्रयोग कब हुआ यह ज्ञात नहीं हो सका है, क्योंकि प्राचीन साहित्य में उत्तराखण्ड नाम नहीं मिलता है। पाणिनी और कौटिल्य ने पाटिलीपुत्र—कपिशा मार्ग को उत्तरापथ कहा है। बाद में उत्तरापथ का प्रयोग सम्पूर्ण उत्तर भारत के लिये होने लगा। डा0 डबराल (1960 : श्री उत्तराखण्ड यात्रा दर्शन · नारायण कोटी, चमोली) का कहना है कि उत्तरापथ के पूर्व पद और केदारखण्ड के उत्तरपद के संयोग से 'उत्तराखण्ड' नाम चला होगा।
2. 'उत्तराखण्ड' नाम अपनाने में मुख्यत. दो कठिनाइयां हैं। चीनी आक्रमण के पश्चात् गढ़वाल एवं कुमाऊं के तीन जिलों (उत्तरकाशी, चमोली और पिथौरागढ़) को मिलाकर एक नई कमिश्नरी बनाई गयी थी, उसका नाम भी उत्तराखण्ड रखा गया था। अतः उत्तराखण्ड शब्द गढ़वाल—कुमाऊं के सीमित क्षेत्र का बोध कराता है। इससे भी अधिक महत्व का कारण यह है कि पं0 बंगाल में 1964 में उत्तराखण्ड (सभी उत्तरखण्ड) दल उनके प्रदेश में स्थित पांच जिलों (दार्जिलिंग, जलपाईगुडी, कूच बिहार, मान्दा और पश्चिमी दिनाजपुर) के अलग राज्य की मांग कर रहा है। इस आन्दोलन को भी पहचाना जाता है। उत्तराखण्ड क्रान्ति दल की स्थापना से दस वर्ष पूर्व से यह आन्दोलन 'उत्तराखण्ड' नाम से जुड़ा हुआ है। उत्तराखण्ड नाम रखने से उपर्युक्त भ्रांतियां निर्मित हो सकती है। वर्तमान समय में दो ही नाम प्रयुक्त हुये हैं। उपर्युक्त कारणों से उत्तरांचल प्रदेश का प्रयोग ही समीचीन प्रतीत होता है। यह नाम हिमाचल और अरूणाचल से मिलता—जुलता भी है जिन्होंने शान्तिपूर्ण रीति से राज्य का दर्जा प्राप्त किया है।
3. आज भी गढ़वाल में देव और दानवों की समान रूप से पूजा होती है। नृसिंह, नागर्जा आदि जहां देव हैं वहीं भूत पिचास आदि अनेक राक्षसी प्रवृत्ति के (छल आदि) रूप मिलते हैं जिनकी पूजा भी समान सम्मान के साथ होती है।
4. डबराल, शिवप्रसाद, "उत्तराखण्ड के पशुचारक", पृ0 59।
5. चातक, गोविन्द, (1958), 'गढ़वाली लोक—गाथाएँ' देहरादून. पृ0 17 ।
6. "खंडाः पंच हिमालयस्य कथिला नैपाल कूर्मांचलौ ।
   केदारोऽथ जलंधरोऽथ, रूचिरः कश्मीर संज्ञोऽन्तिम : ।।"
7. अन्यत्र पृथ्वी प्रोक्ता गंगाद्वारोंत्तरों बिना ।
   इद्मेव महाभांग स्वर्गद्वांर स्मृतं बुधै : ।। – स्कन्द पुराण
8. पंचाशद् योजनायांम त्रिशद् योजना विस्तृतम् ।
   इदं वै स्वर्गगमनं न पृथ्वी तां महाविभौ ।। 27 ।।
   गंगाद्वार मर्यादं श्वेतान्तं वर वर्णिनी ।
   तमसातटतः पूर्वभागें बौद्धाचंल शुभम् ।। 28 ।।
   केदारमंडल ख्यांत भूम्यास्तद् भिन्नकं स्थलम् ।
   वात्साल्यान्तद देवेशी कथिंत देशमुक्तमम् ।। 29 ।।– स्कन्द पुराण

उत्तरांचल जिसे मध्य हिमालय के नाम से पृथक पर्वतीय खण्ड माना गया है पूर्व में काली नदी, पश्चिम में टौंस नदी द्वारा हिमाचल से निर्धारित होती है। उत्तर में भारत चीन जल विभाजक द्वारा तथा दक्षिण में रूहेलखण्ड को स्पर्श करते हुये तराई द्वारा इसकी सीमा नियन्त्रित होती है। उत्तरांचल का विस्तार 28°44′ से 31°25′ उत्तरी अक्षांस तथा 77°45′ से 81°1′ पूर्वी देशान्तर के मध्य है ।

इस भू–भाग का क्षेत्रफल 53,483 वर्ग कि0मी0 है और इसकी जनसंख्या 8,49,562 है। 13 जिलो 49 तहसीलों और 95 विकास खण्डों में प्रशासनिक दृष्टि से बांटे गये इस क्षेत्र की 82% जनसंख्या गांवों में निवास करती है। यहाँ स्थित कुल भूमि का 14प्रतिशत ही कृषि योग्य है। देहरादून, ऊधमसिंह नगर और हरिद्वार की समतल तराई को छोड़क शेष भूमि में ढलावदार सीढ़ीनुमा खेत ही है। ऊधमसिंह नगर की तराई एवं देहरादून की
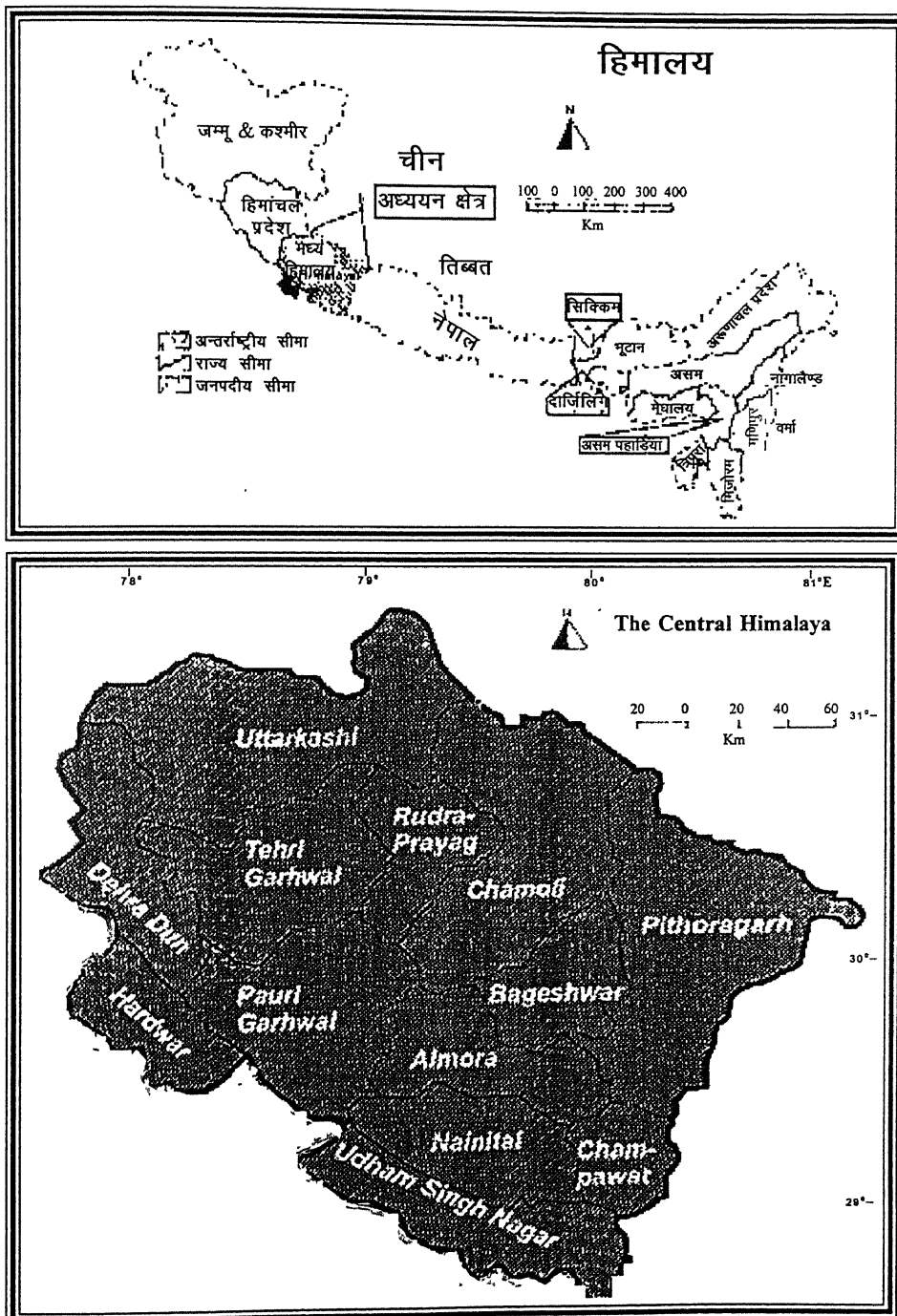
(मानचित्र–5.1 : उत्तरांचल की अवस्थिति)

घाटी की कृषि भूमि अत्यधिक उपजाऊ है। गगा की सात प्रमुख धाराओं–भागीरथी, मंदाकिनी, अलकनंदा, धौली, पिंडार, नयार, भिलंगना एव यमुना, टौंस, रामगंगा, कोसी, काली के जलागम क्षेत्र इसी भू–भाग मे अवस्थित है। मध्य हिमालय की वनस्पति विहीन रेखा से प्रारम्भ होकर दक्षिण मे शिवालिक की तराई तक का यह भू–भाग वनो से आच्छादित है। ये वन स्थानीय जनता की जरूरतों को पूरा करने के अतिरिक्त राष्ट्रीय आय का बडा स्रोत है। मशहूर जिमकार्बेट व राजाजी उद्यान यहीं अवस्थित है। इस भू–भाग में बहुमूल्य खनिज सम्पदा, चूना पत्थर, मारवल, डोलोमाइट, यूरेनियम, तांबा, जिप्सम, सैंडस्टोन, मैग्नेसाइट आदि पायें जाते हैं। बहुमूल्य जड़ी–बूटियॉ, हिमाच्छादित, हिमालय की चोटियाँ–नदा देवी, चौखम्बा, त्रिशूल इसके ग्लेशियर, इसके नदियों नाले, प्रपात इसकी झीले और वन, फूलों की घाटियां और घास के मैदान (बुग्याल) से भरें विविध प्राकृतिक सौन्दर्य सदियों से लोगो को इस जटिल भू संरचना की और आकर्षित करते रहे हैं।

भू–अवस्थिति एवं पारिस्थितिकी

धरातलीय दृष्टि से उत्तरांचल अत्यन्त विषम है (मानचित्र 5.2)। तराई–भावर तथा इन क्षेत्रों को छोड़कर शेष उत्तरांचल पर्वतीय प्रदेश है। जिसका धरातल 250 मी0 से आरम्भ होकर तथा तीव्रता से उठकर 8000 मी0 से भी अधिक ऊँचाई तक पहुचता है। इसके दक्षिण मे 8 से 25 कि0मी0 तक चौड़ी तराई -भावर की चौरस पट्टी पूर्व में टनकपुर से पश्चिम में इन घाटियो तक फैली है, जिसके बगल में हरिद्वार में गंगा का चौरस मैदान है और शेष उत्तरांचल शिखरों और तंग घाटियो से घिरा है। इस क्षेत्र में सेरों (पानी वाले चौरस कृषि क्षेत्र) और बंगड़ो (बड़ी नदियों के अगल–बगल में कृषि क्षेत्र) को छोड़कर मैदानी क्षेत्र नहीं है।[9] तराई–भावर तथा दून घाटियां दक्षिण में गंगा के मैदान से
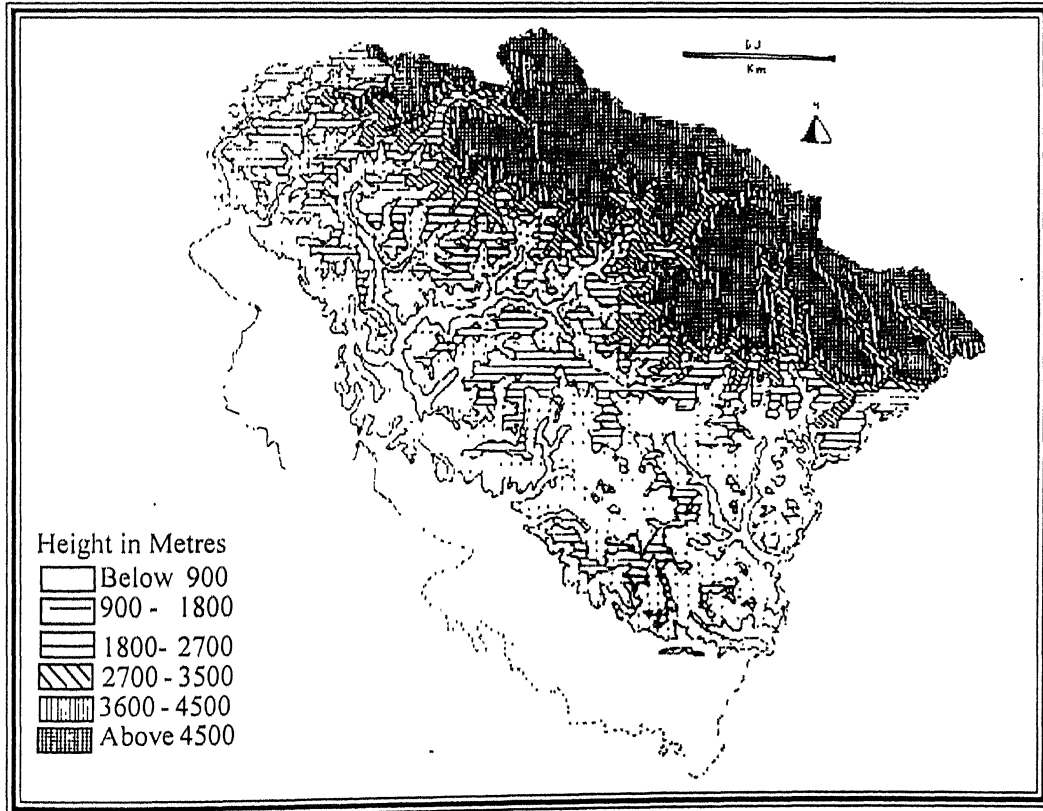
(मानचित्र–5.2 : उत्तरांचल का भू–स्वरूप)

9. पाठक, शेखर (1987), *उत्तराखण्ड मे कुली बेगार प्रथा*, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ0 1–2 ।

जुडी है या यह कहें कि यह क्षेत्र गंगा के मैदान का ही हिस्सा है और उत्तर में ऊँचा होकर शिवालिक की प्रारम्भिक पहाड़ियों को छूता है। उत्तरांचल से हिमालय की तीनों श्रंखालयें–स्नोयी (बर्फ ढ़का) हिमालय, ट्रान्स (उस पार) हिमालय तथा सब (उप) हिमालय गुजरती है।[10]

भौगोलिक अवस्थिति और जलवायु की दृष्टि से उत्तरांचल को पांच भागों में बांटा जा सकता है।

(क) 900मी0 ऊँचाई तक का भू–क्षेत्र जहां वर्ष के दौरान अधिकांश समय सामान्य ठंडक एवं सामान्य गर्मी पड़ती हैं इस भू–भाग में दून घाटी तथा तराई–भावर का समतल क्षेत्र एव गंगा का मैदान सम्मिलित है। उत्तराचल के दूनो में देहरा चौखम्भा, कोठरी, पतली तथा कोटादून है जो 450मी0 से 700 मी0 की ऊँचाई पर स्थित समतल घाटियाँ हैं। दून से पूर्व की ओर कोटद्वार कालागढ़ तथा काठगोदाम से नीचे की ओर का भाग 'भाभर' के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि इस भू–भाग में भाभर घास बहुतायत में है। भाभर के बाद तराई का समतल भू भाग है[11], जो आज कृषि के उन्नतशील क्षेत्रों में गिनी जाती है। इन क्षेत्रों की प्रमुख वनस्पति शाल, शीशम, कैल, हल्दू, कत्था, सेमुल, तून, बांस है। गंगा के मैदान एवं दून घाटी में सर्वाधिक जनसंख्या दबाव है तथा तराई–भावर क्षेत्र में यह दून घाटी के बाद द्रुत गति से बढ़ रहा है।

(ख) 900मी0 से 1800 मी0 ऊँचाई तक का क्षेत्र जहां अधिकांश समय जाड़ा तथा कुछ समय के लिये गर्मी का मौसम रहता है। जाड़े के समय मध्यम ठंडक पड़ती है। इस क्षेत्र में वे सभी घाटियां और पर्वत श्रृंखलायें सम्मिलित है जो इस ऊँचाई के अन्तर्गत आती हैं। इस क्षेत्र में चौड़ी पत्ती के वन कम पाये जाने के कारण चीड़ वनों की प्रधानता है। कहीं–कहीं बाँस के जंगल भी पाये जाते हैं। लीसा का एकमात्र भण्डार यहीं क्षेत्र हैं। जनसंख्या का भारी दबाव इस क्षेत्र में पाया जाता है।[12]

(ग) 1800 मी0 से 3000 मी0 ऊँचाई तक का क्षेत्र जहाँ जाड़े में प्रायः 'स्नोफाल' होता रहता है एवं अल्पावधि की ठंडक युक्त गर्मी का मौसम रहता है। इस क्षेत्र में स्थित प्रमुख स्थान–पिथौरागढ़, अल्मोड़ा, नैनीताल, रानीखेत, कौसानी, गौरीकुण्ड, मनेरी, चम्बा, सुरकण्ड़ा, मंसूरी आदि है। इसमें चौड़ी पत्ती के वन अधिक और नुकीली पत्ती के वन कम है। वन सम्पदा के मुख्य भण्डार यहीं है। इनमें मुख्य रूप से बांज, तिलज, खोरू, मोरू, भोजपत्र, देवदार, थुनेर, पॉकार, अखरोट, पापड़ी, रिगांल आदि वृक्ष एवं मूल्यवान जड़ी–बूटियां उत्पन्न होती है। निचले भाग में जनसंख्या घनी तथा 2000 मी0 से अधिक ऊँचाई के क्षेत्र में बिखरी हुयी है।[13]

(घ) 3000मी0 से 4800मी0 ऊँचाई तक के क्षेत्र जो सामन्यता बर्फ से आच्छादित रहता है। इस क्षेत्र में अप्रैल से सितम्बर के मध्य तक नाना प्रकार की जड़ी बूटियां, छोटी झाड़ियां तथा घास उत्पन्न होती है। इनको बुग्याल के नाम से पुकारा जाता है। इस क्षेत्र के चारागाह भेड़–बकरी, चंबरगाय, घोड़े आदि जानवरों के बुग्याल है।[14] जड़ी–बूटियों के महत्वपूर्ण भण्डार इसी क्षेत्र में स्थित हैं। इस

---

10. पाठक, शेखर (1987), पूर्व उद्धत कृति, पृ० 2।
11. औस्मोस्टन, ए0ई0 (1927), *ए फोरेस्ट फ्लोरा ऑफ कुमाऊ।*
12. विष्ट, डॉ0 नारायण सिंह (जून 1978), –"*क्या पर्वतीय जिलों के लिये क्षेत्रीय नियोजन आवश्यक है*"– हिमालय वर्ष–2 अंक–1 ।
13. तदैव ।
14. विष्ट, डॉ0 नारायण सिंह (1981), *उत्तराखण्ड हिमालय की अर्थव्यवस्था,* टिहरी गढ़वाल, भागीरथी प्रकाशन गृह, पृ० 22।

क्षेत्र के कुछ गांवों– माणा, नीति, दूनागिरी, मलारी, जेलम, मिलम, हरसिल, दार्मा आदि में कृषि भी की जाती है, जहाँ मुख्यत. जौ, गेहूँ, ओगल, फाफर, आलू, गोभी पैदा की जाती है।

(ङ) 4800मी0 से अधिक ऊँचाई का क्षेत्र जो हिम रेखा से ऊपर और वनस्पति विहीन है। यह स्थायी रूप से बर्फ से ढका रहता है। भारत की प्रमुख व पवित्र नदियों का यह उद्गम क्षेत्र है। इस भू–भाग में स्थित प्रमुख श्वेतांग शिखर है– नंदा देवी (7817मी0), कामेट (7756मी0), माणा पर्वत (7,434मी0), त्रिशूल (7,273मी0) सतोपन्थ (7075मी0), दूनागिरी (7,066मी0), चौखम्भा (7,138मी0), केदारनाथ (6940मी0), बन्दरपुच्छ (6315मी0), श्रीकंठ (6,133मी0), शिवलिंग (6543मी0), नारायण पर्वत (5,965मी0), गंगोत्री (6,672मी0), नर पर्वत हैं। इनके अतिरिक्त एक सौ से अधिक पर्वत शिखर और हैं। यहीं पर प्रख्यात ग्लेशियर, खतलिंग, यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, पिंडर, सुंदरढूंगा, कफनी, मिलम और जोलिंग कोंग स्थित हैं। रूपकुण्ड, वसुधारा, लोकपाल, संतोपथ आदि इसी क्षेत्र में स्थित है। यहां पर कुछ प्रमुख दर्रे यथा–माणा, नीति, मलारी पास, ट्रेलपास, लीपूलेख आदि अवस्थित हैं, जो प्राचीन समय से ही भारत और तिब्बत, चीन, मध्य एशिया के व्यापार और सामान्य आवागमन के साथ–साथ सामारिक संदर्भों में भी महत्वपूर्ण रहे हैं।[15]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पुरातत्ववेत्ताओं की स्पष्ट खोजों के मुताबिक उत्तरांचल में ईसा पूर्व छठी शताब्दी से मानव विकास के चिन्ह मिलतें हैं। इस दौर के निवासी लोहे और ताँबे के उपकरण, तीरों के नुकीले हिस्से, मछली आखेंट के कांटे तथा लोहे की सुइयों का प्रयोग करते थे। पुरातात्विक खोजों के अनुसार उत्तरांचल (गढ़वाल एवं कुमाऊं) मौर्य साम्राज्य का अंग था। अधिकतर जनजातियां, अर्द्ध आदिवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थें। कालसी में अशोक शिलालेख का मिलना, गढ़वाल के पेनखंडा में बौद्धाचल का होना[16], बद्रीनाथ में बुद्ध प्रतिमा की उपस्थिति[17] तथा शंकराचार्य का इस क्षेत्र में आना, तत्कालीन उत्तराखण्ड में बौद्धमत के व्यापक प्रसार की स्थिति स्पष्ट करते हैं। ऐतिहासिक खोजों से कुषाण, कुणिदों और वर्धनों[18] का शासन होने का यहाँ प्रमाण मिलता है। छठी शताब्दी में यह पौरववंश[19] के शासनाधीन था तथा सातवीं शताब्दी में यहां कत्यूरी राजवंश का उदय हुआ। जिसने लगभग 350 वर्षों तक शासन किया।[20] इसी दौरान 780 ई0 में शंकराचार्य के उत्तरांचल आगमन के पश्चात् यहाँ हिन्दू धर्म और ब्राह्मणवाद का उदय हुआ।

कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तरांचल के पुराने समाज में कहीं भी वर्ण व्यवस्था का नामोनिशान नहीं था। ऐतिहासिक विरासत से मिली यह सभ्यता विशिष्ट सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना में शेष भारत के मैदानी इलाकों से काफी भिन्न थी। इसी विशिष्ट सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक व भौगोलिक पहचान के कारण ही सातवीं शताब्दी में कत्यूरी शासक पूरें उत्तरांचल को एक सूत्र में बांधने में सफल हुयें थें। उनके साम्राज्य की सीमा उत्तर में तिब्बत, दक्षिण में शिवालिक तथा तराई–भावर, पूर्व में डोटी तथा पश्चिम में कांगड़ा तक फैली हुयी थी। विशिष्ट आंचिलक पहचान के कारण ही दो सौ वर्ष तक यह विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र एक स्थायी शासन के अधीन रह पाया था।

15 विष्ट, डॉ0 नारायण सिंह, (जून 1981), पूर्व उद्धत कृति, पृ० 23।
16. राहुल, (n.d.), *गढ़वाल*, पृ0 278 ।
17. बहुगुणा, शम्भु प्रसाद, (1951), *विराट ह्रदय*, लखनऊ, पृ0 33 ।
18 डबराल, डॉ0 शिवप्रसाद, (1928), *केदारखण्ड गढ़वाल मण्डल*, पृ0 41 ।
19. रतूडी, पं0 हरिकृष्ण, (1920), *गढ़वाल का इतिहास*, देहरादून, पृ0 353 ।
20. पाठक, शेखर (1987), पूर्व उद्धत कृति, पृ० 38।

कत्यूरी वंश के शासक समिसुराज के शासनकाल 1050 से 1060 ई0 के पश्चात् कत्यूरी शासन का विघटन शनै:—शनै:, प्रारम्भ हो गया और 1300ई0 तक आते—आते पूरा उत्तरांचल शासकों की स्वार्थ लिप्सा के कारण छोटी—छोटी प्रशासनिक इकाइयों में विभाजित हो गया। कालान्तर में पुनः 1500—1510ई0 के बीच, चांदपुर के पंवार शासक ने 52 गढों को अपने अधीन कर गढ़वाल राज्य की स्थापना की[21], जबकि कुमाऊँ में चंद शासकों का शासन रहा।[22] मैदानी भू—भाग से आयें पंवार शासको ने यहां वर्ण व्यवस्था को सुदृढ़ किया, धार्मिक अनुष्ठान के लिये ब्राह्मण भी बुलाये गयें और क्षत्रियों के अभाव मे सभी खस जनों को क्षत्रिय वर्ण में आत्मसात करने की प्रक्रिया आरम्भ हुयी। पूरे भारत में यही एकमात्र क्षेत्र है जहाँ स्थानीय आधार पर चुनिंदा कबीले ब्राह्मण बना लिये गयें। यही कारण है कि यहां ब्राह्मण उपनामों में दोनो ही तरह के ब्राह्मण पायें जाते हैं— बाहर से आयें पाण्डे, तिवारी, जोशी, पाठक, भट्ट, पत, कोठारी और स्थानीय ढ़ौड़ियाल, नौटियाल, कोठियाल, उनियाल, बड़थ्वाल, सकलानी आदि। ब्राह्मीकरण की यह प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी तक भी जारी रही, जिसके चलते एक क्षेत्र विशेष के जनजातीय समूह जातीय गतिशीलता के जरियें उच्च वर्णों मं परिवर्तित हो गयें। यहाँ के आस्ट्रिक समूह के आदिवासी अति शूद्र बना दिये गये।[23] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों उत्तरांचल की आबादी का 80प्रतिशत हिस्सा सवर्ण कहलाता है, जबकि पूरे देश के पैमानें पर सवर्ण मात्र 13प्रतिशत हैं। उत्तरी सीमान्त क्षेत्र में भारतीय मंगोल समूह की जो जनजातियां हैं, इनमें बहुत से अभी भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। यह जनजातीय समूह तिब्बत के साथ हमारे व्यापार का एक मात्र सूत्र बना रहा है।

कालान्तर में 1771 ई0 में पुनः एक बार गढ़वाल और कुमाऊँ समेत पूरा उत्तरांचल प्रद्युमन शाह के शासनाधीन आ गया।[24] 1771 से 1787 तक पूरा गढ़वाल और कुमाऊं एक ही शासन के अन्तर्गत रहा। प्रद्युमन शाह उत्तरांचल का अन्तिम शासक था जिसके राज्य की सीमायें पूर्व में काली नदी के तट तक एवं पश्चिम में यमुना तट तक फैली हुयी थी और तराई का कुछ भू—भाग भी इस शासन के अन्तर्गत था। 1791 ई0 में कुमाऊँ में गोरखाराज स्थापित हो गया जो 1804 ई0 में आते—आते देहरादून समेत पूरे गढ़वाल पर स्थापित हो गया।[25] राजा प्रद्युमन शाह जो गोरखा आक्रमण के दौरान सहारनपुर पलायन कर गयें थे, ने अंग्रेजों की मदद मांगी। इसके साथ ही 1814 व 1815 के वर्षों में गोरखाओं ने इस क्षेत्र के निवासियों पर घोर अत्याचार कियें, जिससे अंग्रेजों का ध्यान इस ओर गया और सन् 1815 में अंग्रेजों ने गोरखाओं को परास्त कर इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया।[26] 1816 में नेपाल व कम्पनी के बीच संगोली की सन्धि हुई, जिसके अनुसार कुमाऊँ एवं गढ़वाल का आधा भाग कम्पनी ने अपने अधीन ले लिया और टिहरी, रियासत का शासन सुदर्शन शाह को सौंप दिया। गढ़वाल एवं कुमाऊँ के शेष भाग को एक 'नॉन रेगुलेशन प्रान्त' बना दिया जो

---

21. *उत्तराखण्ड जन संघर्ष वाहिनी का घोषणा पत्र*, उद्धत, नौटियाल, सुरेश संपा0 (1994), *उत्तरांखण्ड : एक अध्ययन आंकलन और प्रस्ताव*, नई दिल्ली, अभिकथन पब्लिकेशन्स, पृ0 124 ।
22 तदैव ।
23 *उत्तराखण्ड मुक्ति मोर्चे के प्रथम अधिवेशन का घोषणा पत्र*, उद्धत, तदैव पृ0 138 ।
24. तदैव, पृ0 139 ।
25 नौटियाल, डॉ0 शिवानन्द, (n.d.), *गढवाल दर्शन*, लखनऊ, पृ0 37 ।
26 तदैव।

उत्तर–पूर्वी प्रान्त का एक भाग रहा । 1891 में 'नान रेगुलेशन प्रान्त' भी समाप्त कर दिया गया जो उत्तरी–पूर्वी भाग का एक भाग रहा। 1901 ई0 में जब 'संयुक्त प्रान्त आगरा एवं अवध' बना तो उत्तरांचल को उसमें मिला दिया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 'आगरा एवं अवध प्रान्त' 'उत्तर प्रदेश' राज्य कहलाया। 1947 ई0 में टिहरी रियासत का विलय भारत में नहीं हुआ। किन्तु 1948 ई0 में टिहरी रियासत में हुयी जनक्रान्ति के दौरान सामन्तशाही के तख्ता पलटने के पश्चात् इस रियासत का भी भारत में विलय हो गया, जिससे टिहरी राज्य को ब्रिटिश राज में प्राप्त शिक्षा व नौकरियों में आरक्षण की सुविधायें भी समाप्त हो गयी।

पृथक पर्वतीय राज्य आन्दोलन : स्वप्न से हकीकत तक

उत्तरांचल की स्वायत्तता के संदर्भ में सर्वप्रथम 5–6 मई 1938 को श्रीनगर (गढ़वाल) में काग्रेस के विशेष राजनीतिक सम्मेलन में इस पहाड़ी अंचल के लिये अलग राजनीतिक व्यवस्था के विचार को जवाहर लाल नेहरू ने दिया था। नेहरू ने कहा था कि 'इस पर्वतीय अंचल के लोगों को अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं निर्णय लेने का तथा अपनी संस्कृति को समृद्ध करने का अधिकार मिलना चाहिये।''[27] आजादी की लड़ाई में उत्तरांचलवासियो की भागीदारी व तत्कालीन परिस्थितियो ने इस प्रश्न को सुसुप्तावस्था में ही रखा। आजादी की पूर्व बेला पर 1946 में कुमाऊँ केसरी बद्रीदत्त पाण्डे की अध्यक्षता में हल्द्वानी में हुये एक सम्मेलन में पर्वतीय क्षेत्र को विशेष दर्जा देने की मांग उठायी गयी। इस मांग के पक्ष में तर्क यह था कि इस क्षेत्र की भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भाषायी भिन्नता इसकों मैदानी इलाकों से अलग करती है और इतने बड़े संयुक्त प्रान्त 'आगरा और अवध' के साथ इसका विकास नहीं हो सकता। प्रान्त के तत्कालीन प्रीमियर गोविन्द वल्लभ पंत 51 जिलों के मुख्यमंत्री बननें जा रहे थें और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के लिये उन्होंने उत्तरांचल बनाये जाने का सवाल ही नहीं उठने दिया। कालान्तर में पर्वतीय क्षेत्र से जो भी नेता राष्ट्रीय राजनीति में उभरा उसने उत्तरांचल की मांग को व्यक्तिगत हित में मातहत रखा।

इसके पूर्व 1815 ई0 में गढ़वाल व कुमाऊँ मण्डल के 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के अधीन हो जाने के बाद 'हर्षदेव जोशी' ने इस क्षेत्र के लिये विशेष अधिकार और रियासतों की मांग की थी। इसके लगभग आधा शताब्दी बाद जून 1867 में महारानी विक्टोरिया को भेजे गये बधाई पत्र के रूप में इस क्षेत्र के लोगों ने अपनी राजनीतिक व सांस्कृतिक पहचान की पृथक मान्यता दिलाने की बात रखी। 1928 ई0 में साइमन कमीशन के भारत आने की खबर मिलने पर इस क्षेत्र के प्रबुद्ध लोगों ने लेफ्टिनेट गवर्नर के मार्फत 'कुमाऊँ एक पृथक प्रान्त' शीर्षक से लिखा एक स्मृति पत्र सरकार को दिया, जिसमें सन् 1814 से पूर्व कुमाऊँ को स्वतन्त्र बतातें हुयें ब्रिटिश हुकुमत से इसे स्वायत्त क्षेत्र बनाने की मांग की गयी।

आजादी के बाद पहली बार भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी के महासचिव पी0सी0जोशी ने 1952ई0 में पर्वतीय जिलों की स्वायत्तता का प्रश्न उठाया। उनके प्रयास का आधार कांग्रेस का 1928 का कराची अधिवेशन था जिसमें कांग्रेस ने प्रस्ताव पास कर भाषा व भौगोलिकता के आधार पर राज्यों

27. काला, ललित (1994), *''इतिहास का अन्तिम पृष्ठ जो अभी लिखा जाना है''*, नौटियाल, सुरेश संपा0, पूर्व उद्धत कृति, पृ0 224 ।

के पुनर्गठन की बात कही थी। 1967 ई0 में टिहरी रियासत के अपदस्थ राजा मानवेन्द्र शाह ने पृथक राज्य का झण्डा उठाया। यह आन्दोलन टिहरी जिलें तक ही सीमित रहा तथा राजा को राजभाग मिलने पर समाप्त हो गया।

1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग के सदस्य के0एम0पणिक्कर ने भी उत्तर प्रदेश के विभाजन के संदर्भ में यहाँ की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप विकास के लिये उत्तर प्रदेश के चार भागों में विभाजन की बात कहीं। पणिक्कर ने अपने नोट में कहा था : "विशाल क्षेत्र वाला उत्तर प्रदेश संतुलित भारतीय सघ में पूरी तरह नहीं बैठता है। इसकी 6 करोड़ 30 लाख जनसंख्या या भारत की 1/6 जनसंख्या तथा 51 जिलों ओर दो लाख साठ हजार कर्मचारियो ने राज्य के बाहर शक और क्रोध पैदा किया, क्योंकि इससे बहुत अधिक असमानता बढ़ी है। इसको इस तरह एक राज्य में रखने में पहला तर्क है कि यह बड़ा शक्तिशाली और पूर्णरूपेण सुसंगठित राज्य है और यह भारत की एकता की गारन्टी है तथा दूसरा तर्क यह है कि यह एक सूत्र मे बंधा है, इसका, विभाजन इसकी अर्थव्यवस्था को समाप्त कर देगा और निराशा की भावना फैलायेगा। ये तर्क वास्तविकता पर आधारित नहीं हैं। भारतीय संघ में किसी भी इकाई को भारत की रीढ की हड्डी की तरह नहीं समझा जाना चाहिये।"[28]

24–25 जून 1967 को रामनगर सम्मेलन में पर्वतीय राज्य के गठन के लिये ठोस कार्यक्रम बनाया गया तथा पर्वतीय राज्य परिषद का गठन किया गया। इस सम्मेलन में पारित 6 प्रस्तावों में कहा गया, "देहरादून एवं नैनीताल के मैदानी क्षेत्र ऐतिहासिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पर्वतीय क्षेत्र के ही अंग है ... पर्वतीय जिलों के तीव्र विकास और आर्थिक समृद्धि के लिये पिछले कई वर्षो से इन क्षेत्रों की जनता की मांग है कि उनके लिये पृथक नियोजन की व्यवस्था की जाय ... इन क्षेत्रों की भौगोलिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये ऐसे अधिकार सम्पन्न ढांचे का निर्माण करें जो इन क्षेत्रों के सही विकास और योजनाओं को सही ढंग से मूर्तरूप दे सके ... उत्तर प्रदेश राज्य के अर्न्तगत इन आठ जिलो (अब 13 जिलों) का आर्थिक विकास जिस ढंग से होना चाहिये था, नहीं हुआ और इस स्थिति को बनायें रखने से इन जिलों का अहित होगा।"[29] सम्मेलन में स्पष्ट तौर पर कोई मांग तो नहीं की गयी, लेकिन सरकार से यह अपेक्षा की गयी कि वह ऐसा हल निकालें कि क्षेत्र में त्वरित विकास हो सकें। 14–15 अक्टूबर को नई दिल्ली में उत्तरांखण्ड विकास संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसका उद्घाटन करते हुये तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री अशोक मेहता ने कहा कि "उत्तर प्रदेश पर्वतीय क्षेत्र की समस्यायें मैदानों से भिन्न है इसलियें पर्वतीय क्षेत्रों के लिये योजना के तौर–तरीके भी भिन्न होने चाहिये।"[30] इसके साथ ही उन्होंने मानवेन्द्र शाह की इस मांग को कि इस क्षेत्र को केन्द्र शासित राज्य का दर्जा प्रदान किया जाय अस्वीकार कर दिया। अगले वर्ष ही 1968 मे योजना आयोग ने पर्वतीय नियोजन प्रकोष्ठ

28. उत्तराखण्ड क्रान्ति दल का जुलाई 24, 1979 को मंसूरी सम्मेलन में अंगीकृत किये गये प्रथम संकल्प से उद्धत, नौटियाल, सुरेश संपा0 (1994),पूर्व उद्धत कृति, पृ0 119–120 ।
29. लेयीतुआन, सूशर (1994), *"गोदो का इंतजार"*, नौटियाल, सुरेश संपा०, पूर्व उद्धत कृति, पृ0 234।
30. पैट्रियाट, अक्टूबर 15, 1967 ।

खोला। बाद में इसी वर्ष (1968) में ही दिल्ली के अनेक प्रवासी संगठनों ने ऋषि वल्लभ सुंद्रियाल के नेतृत्व में वोट क्लब पर प्रदर्शन किया। प्रदर्शनकारी गिरफ्तार कर लिये गये और मामला ठण्डा पड़ गया। इससे पूर्व तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने अपने श्रीनगर (गढ़वाल) प्रवास के दौरान कहा कि उत्तर प्रदेश पर्वतीय क्षेत्र की समस्यायें मैदानी क्षेत्रों से अलग है, लिहाजा, इस क्षेत्र के लिये योजना का स्वरूप भिन्न रखा जायेगा।

1973ई0 में पुनः उत्तरांखण्ड पर्वतीय राज्य परिषद का पुनर्गठन किया गया, जिसमें दो पर्वतीय सांसद नरेन्द्र सिंह बिष्ट व प्रताप सिंह नेगी भी शामिल थे। प्रताप सिंह नेगी ने उत्तराखण्ड राज्य की स्थापना के लिये संसद में प्रस्ताव भी रखा। 1976ई0 में उत्तराखण्ड युवा मोर्चा बना। इस मोर्चे ने बद्रीनाथ से दिल्ली वोट क्लब तक पद यात्रा कर संसद का घेराव करने का प्रयास किया, जिसमे 73 आन्दोलनकारी गिरफ्तार कर लियें गयें। किन्तु इससे उत्पन्न आशा ने एक और दलीय गठन के प्रयास को कार्यरूप दिया और परिणामतः 1978 में उत्तराखण्ड राज्य परिषद का गठन किया गया जिसने 28 जुलाई, 1979 को वोट क्लब पर प्रदर्शन कर तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरार जी देसाई को ज्ञापन भी दिया। 1979 में ही भारत की कम्युनिष्ट पार्टी (मार्क्सवादी लेनिनवादी) ने भी उत्तराखण्ड राज्य बनायें जाने के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया। 1979 में कुमाऊं विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉ0 डी0डी0पन्त की अध्यक्षता में उत्तराखण्ड क्रान्ति दल (उ.क्रा.द.) की स्थापना हुई। इसके बाद छिटपुट तौर पर उत्तरांचल और दिल्ली में पृथक राज्य की मांग उभरती रही। कागजों पर कार्यक्रम बनते रहे पर सार्थक कुछ नहीं हो पाया। लम्बे अन्तराल के बाद 1987 का वर्ष महत्वपूर्ण रहा। इस वर्ष 9 मार्च को पौड़ी में उक्रांद ने प्रदर्शन किया। 25 जुलाई को ऑल इण्डिया स्टूडेंटस फेडरेशन और अखिल भारतीय नौजवान सभा की उत्तर प्रदेश इकाई ने लखनऊ में इस मांग को लेकर धरना दिया। 9 अगस्त को पूर्ण उत्तराखण्ड बन्द का आवाह्न उक्रांद ने किया। इसके बाद उत्तराखण्ड जनसंघर्ष वाहिनी के अस्तित्व में आने से नया ध्रुवीकरण बना, जिसनें 'नये भारत के लिये नये उत्तराखण्ड' के नारे के साथ उत्तराखण्ड आन्दोलन चलानें की घोषणा की। बाद में इसकी एकता बरकरार न रह पाने के कारण 23 जुलाई 1991 को दिल्ली में 'उत्तराखण्ड महासभा' के रूप में मुखरित हुयी। इसके बाद महासभा, संघर्ष वाहिनी तथा उक्रांद के कुछ कार्यकर्ताओं ने मिलकर उत्तराखण्ड पार्टी के रूप में 19 जुलाई 1992 को एक दल उत्तराखण्ड पार्टी का गठन किया। इसके पूर्व मई 1991 में कुछ पर्वतीय लोगों तथा प्रवासियों के गठबंधन से उत्तराखण्ड मुक्ति मोर्चे का गठन किया गया।

26 अगस्त 1991 को उत्तर प्रदेश की भाजपा सरकार ने उत्तरांचल प्रस्ताव केन्द्र के पास मंजूरी के लिये भेजा, किन्तु केन्द्र सरकार ने इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में राज्य सरकार से अतिरिक्त विवरण मांगने के अलावा कुछ नहीं किया। मार्च 1992 में भाजपा के भूवनचन्द्र खण्डूरी और सुषमा स्वराज ने क्रमशः लोकसभा और राज्यसभा में पृथक उत्तरांचल की मांग उठायी। 23 अगस्त 1992 को उ0प्र0 के तत्कालीन मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने भोपाल में राज्यों के पुनर्गठन के लिये नया आयोग बनायें जाने की मांग की। उनका तर्क था कि छोटे राज्य बेहतर तरक्की कर सकते हैं। अतः उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे बड़े राज्यों का पुनर्गठन होना चाहियें।

अप्रैल 1994 को बहादुरराम टम्टा द्वारा संयुक्त उत्तराखण्ड राज्य मोर्चा की स्थापना की गयी। इसी वर्ष 24 अप्रैल को इसके सदस्यों ने दिल्ली मे उत्तराखण्ड राज्य के गठन की मांग को लेकर विशाली रैली का आयोजन किया। अप्रैल में ही मुलायम सिंह के नेतृत्व वाली सपा–बसपा गठबंधन सरकार द्वारा उत्तराखण्ड राज्य के प्रश्न पर नगर विकास मंत्री रमाशंकर कौशिक की अध्यक्षता में उपसमिति गठित की गयी एवं 2 जून को महत्वपूर्ण राजनैतिक एवं प्रशासनिक निर्णय के तहत उ0प्र0 के पर्वतीय जिलों के लिये अतिरिक्त मुख्य सचिव नियुक्त किये जाने की घोषणा की गयी।

मुलायम सिंह सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में अन्य पिछडे वर्गों (जो उत्तरांचल में लगभग 3प्रतिशत हैं) हेतु लागू किये गये 27प्रतिशत आरक्षण की उत्तराखण्ड के सामाजिक संरचना के प्रतिकूल होने के कारण इसी वर्ष 8 अगस्त को इसके विरोध में हुये छात्र प्रदर्शन पर पुलिस द्वारा बर्बरता से लाठी चार्ज किया गया तथा गोलियां चलायी गयी। परिणामतः उत्तराखण्ड राज्य प्राप्ति का अब तक का सबसे बड़ा और देश के इतिहास में एक उपेक्षित समाज का आन्दोलन बन गया। इसी बीच 24 अगस्त को मुलायम सिंह सरकार द्वारा उत्तराखण्ड राज्य निर्माण का प्रस्ताव विधानमण्डल में पारित कर केन्द्र को भेजा गया, लेकिन जनता ने इसे सरकार की चाल समझा और आन्दोलन जारी रखा। अतः इसे दबाने के लिये मुलायम सिंह सरकार द्वारा 1 सितम्बर को खटीमा में तथा 2 सितम्बर को मंसूरी में आन्दोलनकारियों पर गोलियां चलायी गयी।[31] इन गोलीकाण्डों में अनेक आन्दोलनकारी मारें गये। इसी दौरान उत्तराखण्ड की जनता द्वारा 2 अक्टूबर को दिल्ली में आयोंजित रैली में भाग लेने के लिये आ रही जनता को पुलिस द्वारा मुजफ्फर नगर के रामपुर तिराहें पर रोका गया। आन्दोलनकारियों की बसों पर आग लगाने के साथ ही निहत्थी जनता पर गोलियां चलायीं गयीं। फलस्वरूप, अनेक आन्दोलनकारी मारे गयें और कई घायल हुयें।[32] 3 अक्टूबर को उत्तराखण्ड में हजारों प्रदर्शन हुयें। इसमें भी देहरादून में तीन आन्दोलनकारी मारे गयें।[33]

19 से 22 जनवरी 1995 के मध्य उक्रांद की पहल पर केन्द्रीय गृह मंत्रालय द्वारा पृथक राज्य समर्थक आन्दोलनकारियों को बुलाकर वार्ता की गयी। 23 मार्च को पूर्व उप थल सेनाध्यक्ष लेफ्टिनेंट जनरल गजेन्द्र सिंह रावत के नेतृत्व में फिरोजशाह कोटला मैदान से संसद तक रैली निकाली गयी और इसी वर्ष 15 दिसम्बर को भूतपूर्व मेजर जनरल शैलेन्द्र सिंह बहुगुणा के नेतृत्व में संसद का घेराव किया गया। 24 अप्रैल 1997 को उत्तर प्रदेश की विधानसभा (मायावती सरकार) द्वारा तीसरी बार पृथक उत्तरांचल राज्य के गठन सम्बन्धी प्रस्ताव को पारित कर केन्द्र के पास भेजा गया।[34] 23 जुलाई को भारतीय जनता युवा मोर्चा ने भाजपा सांसद भुवनचन्द्र खंडूरी व मनोहरकांत ध्यानी के नेतृत्व में उत्तरांचल राज्य को लेकर संसद भवन पर प्रदर्शन किया। 15 अगस्त को लाल किले के प्राचीर से प्रधानमंत्री इन्द्रकुमार गुजराल ने पूर्व प्रधानमंत्री देवगौड़ा की घोषणा पर कायम रहते हुयें कहा कि उनकी सरकार उत्तराखण्ड राज्य के गठन के सम्बन्ध में शीघ्र कदम उठायेंगी। लेकिन

31. दैनिक जागरण, सितम्बर 2 एवं 3, 1994 ।
32. तदैव, अक्टूबर 4, 1994 ।
33 तदैव।
34. तदैव, अप्रैल 25, 1997 ।

विभिन्न कारणो एवं विवादों से इसमे अनावश्यक विलम्ब होता रहा। अन्ततः 3 अगस्त 1998 को पृथक उत्तराखण्ड राज्य के निर्माण सम्बन्धी विधेयक को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने मंजूरी दी। 20 अगस्त को अपनी मंजूरी देते हुयें राष्ट्रपति ने इसे 21 अगस्त को राज्यों को इस निर्देश के साथ भेजा कि 28 सितम्बर से पहले वह अपनी टिप्पणियों के साथ केन्द्र को वापस भेज दें। 23 सितम्बर 1998 को उ0प्र0 विधानमण्डल ने 36 संसोधनों सहित हरिद्वार विहीन उत्तरांचल के गठन को स्वीकृति प्रदान की।

वर्ष 1999 में उत्तरांखण्ड के गठन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी, किन्तु ऊधमसिंह नगर तथा हरिद्वार को नयें राज्य में सम्मिलित करने और नयें राज्य के नामकरण पर अनेकानेक विवाद उठें और आन्दोलन छिड़ गयें। अन्तत 1 अगस्त, 2001 को उत्तर प्रदेश पुनर्गठन विधेयक, 2000 लोकसभा में पारित हुआ। राज्यसभा ने 11 अगस्त, 2000 को इस विधेयक का अनुमोदन कर दिया और इस प्रकार उत्तरांखण्ड 9 नवम्बर, 2000 को अस्तित्व में आ गया।

पृथक पर्वतीय राज्य के निर्माण का औचित्य

जब हम उत्तरांचल की मौजूदा परिस्थितियों का विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि लगभग हिमाचल प्रदेश के बराबर इस पहाडी इलाकें में अकूत प्राकृतिक संपदा मौजूद है जिसका पूरी तरह से औपनिवेशिक शोषण/दोहन हो रहा है।[35] परम्परागत तौर पर सदियों से उत्तरांखण्ड में कृषि, पशुपालन एवं कुटीर उद्योगों पर आधारित आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था थी। गोरख्याणी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की उत्तरांचल में घुसपैठ के बाद के वर्षों में वनों पर हमला शुरू हुआ लेकिन आजादी के बाद तो आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था पूरी तरह अस्त–व्यस्त कर दी गयी। दलाल, पूंजी और निजी क्षेत्र के मुनाफें ने उत्तरांचल के कुटीर उद्योगों को पूरी तरह उजाड़ दिया। वन विनाश ने कृषि को प्रभावित किया है और जल संकट बढ़ता जा रहा है। कुटीर उद्योगों एंव कृषि से उजड़ा अकुशल श्रमिक मैदानों की ओर जाने को बाध्य हो रहा है। कृषि–प्रधान पर्वतीय क्षेत्र में कृषि एवं पशुपालन का स्तर बेहद पिछड़ा हुआ हैं सीढ़ीनुमा खेतों में खेती के वैज्ञानिक तरीकों पर कोई शोध, तकनीकी विकास नहीं किया गया है। यहाँ छोटी–छोटी जोत वाले किसान है जो कृषि व पशुपालन द्वारा अपनी आजीविका चलाने के प्रयास में खून–पसीना एक करके भी छह माह का ही जुगाड़ कर पाते हैं, शेष समय का भरण–पोषण बाहर नौकरी–मजदूरी कर रहें लोगों के मनीआर्डर पर निर्भर रहता है।[36]

कम्पनी राज के प्रारम्भ से हुआ वन विनाश आज खतरनाक हालत पर पहुंच चुका है। आजादी के बाद तो इस तेजी से वन व प्राकृतिक सम्पदा की लूट हुयी है कि कभी उत्तरांचल के हरे–भरे पर्वत आज नंगे नजर आते हैं। पर्यावरण व प्राकृतिक सन्तुलन की अकूत हानि हुयी है और प्रतिवर्ष भू–स्खलन, बाढ़, भू–क्षरण की रफ्तार बढ़ती जा रही है। पर्वतीय क्षेत्र के वनों का सारा कच्चा माल तथा खनिज सम्पदा मैदानों को चली जाती है, जहां उन पर आधारित उद्योग लगे हैं। तराई के मिश्रित वनों को नष्ट कर यूकेलिप्टस के एक संकुलीय वन लगाये जा रहे हैं जो वित्तीय पूंजी

35 *उत्तराखण्ड जनसंघर्ष वाहिनी का घोषणा पत्र*, उद्धत नौटियाल सुरेश संपा०(1994), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 61 ।
36. *उत्तराखण्ड मुक्ति मोर्चे का घोषणापत्र*, उद्धत तदैव, पृ0 139 ।

के दलालों के लिये सस्ता कच्चा माल उपलब्ध कराते हैं। पर्वतीय क्षेत्र के विकास की उपेक्षा का कुपरिणाम है कि यहां की श्रम शक्ति पूरे भारत में सबसे सस्ती बिकती है। श्रम शक्ति का अपने उत्पादन मूल्य से कम पर बिकना अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी और उसके दलालों के लिये सर्वोत्तम लाभकारी स्थितियां प्रस्तुत करती हैं।[37] कुल मिलाकर उत्तरांचल में वित्तीय पूंजी और बाजार पर बड़े उद्योगपतियों का नियन्त्रण होने से स्थानीय पूंजी का विकास अवरूद्ध हो रहा है। बड़े पूंजीपतियों के लिये कच्चे माल की व्यवस्था करने वाले स्थानीय दलालों की एक बड़ी फौज ने शासक वर्ग की जनविरोधी नीतियो के लिये सामाजिक आधार तैयार करने का काम किया। इन दलालों ने शराब माफिया और तस्करों के साथ गठजोड़ कायम करके उत्तरांचल की सामाजिक व्यवस्था को तहस–नहस कर दिया है।[38]

पर्वतीय क्षेत्र जड़ी–बूटियों के लिये मशहूर है लेकिन उसका शोध और विपणन और उनसे बनायी जाने वाली दवाओं का मुनाफा सब मैंदानों में ही चला जाता है। कत्था उत्पादन हो या लीसा से टरपेंटाइन बनाने के उद्योग हों, कागज बनाने के कारखाने हों या खेल के सामान बनाने के उद्योग, वनों से उत्पादित कच्चे माल का दोहन कर उसका निर्यात उत्तरांचल से बाहर किया जाता है और उत्तरांचल की जनता को न तो रोजगार मिल पाता है और न ही उद्योगों का मुनाफा। सदियों से वनों पर स्थानीय जनता के जो हक–हकूक थे, उनसे भी उनको वंचित किया जा रहा है। वन अधिनियम, 1980 की आड में समस्त विकास कार्य ठप्प पड़ें हैं। पर्यावरण रक्षा के नाम पर वनवासियों को वनों से बाहर धकेला जा रहा है। सीमांत क्षेत्र में बसने वाले मार्छे तथा सौंके जो सदियों से भेंड पालन, ऊन एवं गर्म कपड़ों का उत्पादन कर अपनी आजीविका चलाते थे उनको भी अब सीमांत क्षेत्र में वन अभ्यारण्य बनाकर उनके परम्परागत जीविकोपार्जन के उपायों को प्रतिबंधित किया जा रहा है। गूजर जो कि गर्मियों में बुग्यालों में चले जाते थे और सर्दियों में तराई के जंगल में आ जाते है, उनके परम्परागत रोजगार पशुपालन में भी तरह–तरह की कानूनी बाधायें डाली जा रही है। बिना किसी वैकल्पिक व्यवस्था के लोगों को परम्परागत रोजगार एवं हक–हकूक से वंचित करने का सीधा अर्थ उनकों अकुशल बेरोजगार श्रमिकों में बदल डालने के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। यह आंचलिक पहचान विहीन श्रमिक सबसे सस्ता होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी एवं उसके दलालों के लिये अतिरिक्त मुनाफा कमाने का स्रोत बना हुआ है।[39]

तराई के जंगलों पर हमला आजादी के तुरन्त बाद पूर्वी बंगाल से आये विस्थापितों को बसाने के नाम पर हुआ। जैसे ही तराई की नई कृषि भूमि जोत के लायक बनने लगी, जमीन लूटने की होड़ लग गयी। नौकरशाही, पूंजीपतियों और कालेधन वालों ने तराई की भूमि पर युद्ध घोषित कर दिया, जिसमें मत्स्य न्याय हुआ। सीलिंग के सारे कानूनों को ताक पर रखकर हजारों एकड़ के सैकड़ों फार्म यहाँ आज भी मौजूद हैं जिन पर काम करने वाले विस्थापित 'भूमिपुत्र' न्यूनतम मजदूरी भी नहीं पाते हैं। थारू, बोक्सा, जनजातियां धीरे–धीरे कृषि मजदूरों में बदलती जा रही है। फल

37. *उत्तराखण्ड मुक्ति मोर्चे का घोषणापत्र*, उद्धत, नौटियाल सुरेश संपा0 (1994),पूर्व उद्धत कृति, पृ0 140 ।
38. *उत्तराखण्ड जनसंघर्ष वाहिनी का घोषणा पत्र*, उद्धत तदैव, पृ0 125 ।
39. *उत्तराखण्ड मुक्ति मोर्चे का घोषणा–पत्र*, उद्धत तदैव, पृ0 140 ।

पट्टियों की स्थापना में भी जमीन की खूब बंदर–बांट हुयी है। लूट की इस व्यवस्था ने उत्तरांचल के आवाम का राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व बौद्धिक हर प्रकार का शोषण किया है। विभिन्न इलाकों में प्रवासी उत्तरांचलवासियों के सामनें अपनी संस्कृति, भाषा और आचंलिक पहचान का संकट खड़ा है।[40]

पहाड़ में रहने वाली महिलाये सोलह से अठारह घण्टे कमरतोड़ मेहनत करने के बाद भी प्रवास से आने वाले मनीआर्डरों की बाट जोहती रहतीं हैं। पुरूषों के पलायन से महिलाओं पर दोहरी मार पडी है। लिंग भेद, सामंती संस्कृति के प्रभुत्व, लिंग आधारित काम के बंटवारे की शिकार और बच्चों के लालन–पालन का सामाजिक दायित्व उठाने को मजबूर उत्तरांचल की महिला कृषि व पशुपालन का 90प्रतिशत कार्य भी अकेले ही करती हैं। जटिल भौगोलिक संरचना इस बिन मोल श्रम को और भी कष्ट प्रद बना देती है।[41]

पर्यटन जो कि इस क्षेत्र का सबसे बड़ा आकर्षण है, कुछ ही स्थानीय लोगों को रोजगार दे पाता है। होटल उद्योग समूह तो बड़े पूजीपतियों के हाथ में है जो तमाम भ्रष्ट तरीके इस्तेमाल कर मंसूरी–नैनीताल की सारी भूमि कब्जाते जा रहे हैं। काले धन का भूमि पर कब्जा और बहुमंजली भवन निर्माण कम्पनियों का अतिक्रमण पिछले कुछ दशकों की नयी समस्या है। अधिकार–बोध विहीन सीधा–साधा पहाड़ी ठगा जा रहा है और विस्थापित होकर इन्हीं होटल समूहों में वेटर या कुक बन रहा है। पर्यटन विकास के नाम पर बहुमंजली पांच तारा संस्कृति उत्तरांचल की संस्कृति पर सीधा हमला है।[42]

विकास की तमाम योजनाओं के बाद भी उत्तरांचलवासी पलायन के लिये मजबूर हैं। सस्ते श्रमिकों के साथ–साथ बुद्धिजीवियों का बहाव भी पहाड़ से मैदान की ओर ही है। आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक पिछडापन, विस्थापन, श्रम का निर्मम शोषण, वनों पर निर्भरता, पशुपालन एवं कृषि– कुल मिलाकर यही है उत्तरांचल की अर्थव्यवस्था। विद्युत उत्पादन एवं सिंचाई के नाम पर वृहद् बहुउद्देशीय परियोजनाओं का निर्माण नयीं समस्याओं को अलग जन्म दे रहा है।[43]

कुल मिलाकर वे मानदण्ड जिनके आधार पर पृथक उत्तरांचल राज्य की स्थापना के लिये वहां की जनता आन्दोलनरत रही है, का संक्षिप्त विवरण निम्नाकिंत है–

(1) भौगोलिक एवं सामाजिक–सांस्कृतिक भिन्नता

प्रदेश का उत्तरांचल संभाग हिमालय रेंज से जुड़ी उत्तरी बेल्ट का वह संभाग है जो बहुत संवेदनशील है और चीन–तिब्बत तथा नेपाल की सीमा से लगा होने के कारण पृथक महत्व का है। इस क्षेत्र की जलवायु, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक आधार व स्वरूप प्रदेश (उत्तर प्रदेश) के मैदानी भागों में सर्वथा भिन्न है। इस क्षेत्र की विषम स्थलाकृति तथा टेरेन के कारण यहाँ के आर्थिक एवं सामाजिक ढ़ाँचे के स्वरूप में भिन्नता है और यहाँ की विकास समस्यायें भी भिन्न है। इस क्षेत्र

40. *उत्तराखण्ड मुक्ति मोर्चे का घोषणा–पत्र*, उद्धत नौटियाल सुरेश संपा० (1994), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 140 ।
41. तदैव ।
42. तदैव ।
43. तदैव ।

के लोगों का रहन–सहन और जीवन पद्धति भी प्रदेश के अन्य भागो के लोगों से भिन्न है। सीमावर्ती पर्वतीय एवं कठिन क्षेत्र होने के कारण इस क्षेत्र के विकास की विशिष्ट समस्यायें हैं।[44]

एक ओर क्षेत्र की विरल तथा बिखरी हुयी जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आधारभूत सुविधाओं तथा सामाजिक एवं सामुदायिक सुविधाओं की कमी है वहीं दूसरी ओर यहाँ पर इन सुविधाओं को मुहैया कराने की लागत मैदानी क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक है। योजनाओं–परियोजनाओं का गेस्टेशन पीरियड, भी सामान्यतः काफी अधिक है। निरन्तर और नियमित प्राकृतिक आपदाओं की बहुलता, पूर्व निर्मित परिसंपत्तियों की क्षति, भू–क्षरण, भू–स्खलन की भारी समस्या है और सृजित परिसंपत्तियों के रख–रखाव एवं संचालन आदि की लागत भी अपेक्षाकृत अधिक है।[45]

(2) आर्थिक पिछड़ापन तथा अपेक्षित विकास का अभाव

यहाँ की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या आज भी गरीबी रेखा से नीचे हैं। यदि हम उत्तरांचल में कहीं खुशहाली पाते हैं तो वह बाहर से भेजे गयें मनीआर्डरों की बदौलत है। मनीआर्डर उत्तरांचल की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है। यदि उत्तरांचल में एक वर्ष के लिये भी मनी आर्डरों पर रोक लगा दी जाय तो उत्तरांचल का आर्थिक ढ़ाँचा चरमरा जायेगा। उत्तराचल में मनीआर्डरों से कई करोड़ रूपया सालाना पहुंचता है जो शीघ्र ही वहाँ से वापस लौट आता है, वरना अन्य प्रदेशों के मुकाबले यहाँ के लोगों का जीवन स्तर ऊँचा होता।

उत्तर प्रदेश का प्रशासनिक ढ़ाँचा इतना विकट और विशाल है कि यहाँ कोई कार्य समय पर हो पाना कठिन है। नौकरशाही, साथ ही लालफीताशाही की मौजूदा प्रवृत्तियों ने इसे और भी जटिल बना दिया है। फिर सत्ता केन्द्र दूरस्थ है, जहॉ उनकी न तो पहुँच है, साथ ही साथ आने–जाने में समय धन और ऊर्जा की भी बर्बादी होती है। इस तरह उनके भाग्य का निर्माण 800 कि0मी0 की दूरी पर होता है, जहॉ परिणाम सकारात्मक ही हों यह निश्चित नहीं है। इसी राजनीतिक एवं प्रशासनिक असन्तुलन के कारण उत्तरांचल का यह पिछड़ापन निम्नाकिंत प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई पड़ रहा है।:

(i) रोजगार के विकल्पों का अभाव और युवाओं का पलायन

उत्तरांचल में रोजगार की कमी तो है ही रोजगार के विकल्पों का भी पूरी तरह अभाव है। रोजगार योजना के तमाम सरकारी कार्यक्रम के बावजूद लगभग 85 लाख की आबादी वालें इस क्षेत्र में 7 लाख से ज्यादा शिक्षित बेरोजगार हैं। इसके अलावा हर वर्ष कम से कम 50 से 60 हजार नौजवान पहाड़ों से काम की तलाश में महानगरों को पलायन कर जाते हैं। जहाँ हिमाचल प्रदेश की कार्यशील जनसंख्या 1970 से 90 के मध्य 7 प्रतिशत तक बढ़ी है वहीं उत्तरांचल में यह 2 प्रतिशत घट गयी है। भारी संख्या में नौजवानों के पलायन से महिलाओं के कन्धों पर काम का भार दुगुना हो गया है। आम परिवार की माली हालत इतनी खराब है कि हर वर्ष हजारों बच्चें घरेलू नौकरों, होटल कर्मचारियों, अकुशल मजदूरों आदि के रूप में काम करने के लिये पलायन कर जाते हैं।

44. उत्तर प्रदेश सरकार का अ0शा0प0सं0–409बी0एस0पी0/एच0डी0/92, उत्तरंचल विकास विभाग, लखनऊ, दिनांक 7 फरवरी, 1992 ।
45. तदैव ।

सरकारी–गैर सरकारी नौकरियों के भरोसे बैठी लगभग 29.19 प्रतिशत जनता को छोड दें तो बाकी उद्योग–धन्धों, व्यवसाय और अन्य विकास कार्यों में उत्तरांचल के लोगों की हिस्सेदारी एक प्रतिशत से भी कम है। रोजगार के नये हालात इतने खराब है कि तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी भी बाहर से लायें जा रहे हैं। पर्वतीय संवर्ग भी दोषपूर्ण हैं।

पिछड़ेपन एवं गरीबी के कारण उत्तरांचल अंग्रेजों के समय से फौज में सैनिकों की भर्ती के लिये बाजार सरीखा रहा है। भारतीय सेना का सिपाही बनना भले ही गौरव की बात हो लेकिन उसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिगत विकास के अन्य मार्ग अवरूद्ध कर दिये जांय। सेवानिवृत्ति के बाद यहां का फौजी सर्वाधिक विकल्पहीन और किंकर्तव्यविमूढ़ दिखाई देता है। लाखों लोगों के पलायन कर जाने और सेना में पर्वतीय क्षेत्र के लोगों की भर्ती के कारण आज इस क्षेत्र की अर्थव्यवस्था मनीआर्डर आधारित हो गयी है।

(ii) कृषि का पिछड़ापन

कृषि की दशा को देखें तो उसकी स्थिति भी बद्तर है। कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ा है। फलतः गांवों में छोटे और मध्यम स्तर के लोगों के लिये कृषि के भरोसे सम्मानपूर्वक जीवन यापन कठिन होता जा रहा है। खेती करना अलाभकारी कार्य हो गया है। वास्तव में पाम्परिक कृषि हिमालयी आर्थिकी के अनुकूल नहीं है। उत्तरांचल में कृषि 80 प्रतिशत जनसंख्या की वर्ष भर की खाद्यान्न आवश्यकता की पूर्ति भी नहीं कर पाती। इसलिये छोटे–छोटे किसान गाँव–जमीन छोड़कर शहरों की ओर भाग रहें हैं। पिछले 20 वर्षों में किसानों की संख्या में लगभग 10 प्रतिशत की कमी आयी है और मजदूरों की संख्या 3 प्रतिशत बढ़ी है। तराई को छोड़कर पूरे उत्तरांचल में कृषि अवैज्ञानिक ढंग से होती है। दरअसल उत्तरांचल के भौगोलिक स्वरूप और जलवायु के अनुरूप कृषि नीति तथा तकनीक न अपनाने की वजह से उत्तरांचल कृषि के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। जबकि यहाँ बागवानी और नगदी फसलों की असीम सम्भावनायें मौजूद हैं।

(iii) उत्तरांचल मे शैक्षणिक पिछड़ापन

उत्तरांचल में शिक्षा की स्थिति भी काफी दयनीय हैं। आँकड़ों की दृष्टि से देखा जाय तो यहाँ साक्षर लोगों का प्रतिशत उत्तर प्रदेश और पूरे देश के औसत से कहीं अधिक है। प्राइमरी एवं माध्यमिक शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हो रहा है। परन्तु यहाँ प्राइमरी से लेकर ऊपर तक शिक्षा का स्तर अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा निम्न है। धनपतियों और अफसरशाहों के बच्चों के लिये स्थापित दून स्कूल जैसे स्कूलों की बात और है अन्यथा यहाँ की शिक्षा छात्रों को कोई दिशा नहीं दे पाती। उच्च शिक्षा हेतु तीन विश्वविद्यालय है जिनका स्तर भी सामान्य से नीचा है। उत्तरांचल में शिक्षा अपेक्षित सामाजिक परिवर्तन नहीं ला पायी है। साथ ही यहां के छात्रों को यहाँ के परिवेश के अनुरूप शिक्षा नहीं दी जाती। पंतनगर में कृषि विश्वविद्यालय है किन्तु पर्वतीय कृषि के विकास में उसका योगदान नगण्य है। हिमाचल प्रदेश ने, जो आजादी के पहले सबसे अधिक अशिक्षितों का प्रदेश था, शिक्षा के ऊँचे मानदण्डों को छुआ है। वहाँ अनेक मेडिकल और इंजीनियरिंग कालेजों की स्थापना हुयी है जो हिमाचल के शैक्षिक विकास की कहानी कहते हैं, लेकिन उत्तरांचल अभी भी अच्छी शिक्षा के लिये तरस रहा है।

सारणी : 6.1

उत्तरांचल एवं हिमाचल प्रदेश : तुलनात्मक अध्ययन

क्र0 स0	मद	उत्तराचल	हिमाचल
1	साक्षरता दर (2001)	72 28	77 13
2	लिंगानुपात (2001)	964	900
3	शहरीकरण (1991)	21.56%	8 7%
4	एस0सी0 / एस0टी0 जनसंख्या का प्रतिशत (1981)	19.73%	29 22%
5	फसल सघनता (1987)	164.27%	169.30%
6	विद्युतीकृत गाव (1992–93)	77%	100%
7	प्रति लाख जनसंख्या पर सड़को की लम्बाई	226किमी0	324किमी0
8	प्रति व्यक्ति योजनागत व्यय (VII योजना)	रू0 2,223	रू0 2,171
9	प्रति व्यक्ति केन्द्रीय सहायता (VII योजना)	रू0 1,406	रू0 1,785
10	प्रति विधानसभा सदस्य [illegible] 1991 (2001) लाख में	3.09 (1 21)	0.75 (0 79)
11	कुल विधानसभा सीटों की संख्या 1991 (2001) में	19 (70)	68
12	हार्टीकल्चर के अन्तर्गत भू–क्षेत्र (1989–90)	1,74,000हे0	1,56,000हे0
13	प्रति लाख जनसंख्या पर स्कूलो की सं0 (1989–90)		
	(i) जूनियर बेसिक / प्राइमरी	145	145
	(ii) सीनियर बेसिक / सेकेण्डरी	29	39
	(iii) हायर सेकेण्डरी	17	22
14	प्रति लाख पर्यटकों पर टूरिस्ट गृहों में शयन कक्षों की सं0	23	31
15	कुल राजस्व (लाख रू0 में) (1992–93)	22,405	27511
16	केन्द्रीय सहायता	18,200	51,273

स्रोत – कुमार, प्रदीप, (2000), द उत्तराखण्ड मूवमेन्ट : कान्सट्रक्शन ऑफ ए रीजनल आइडेन्टी, पृ0 63 सशोधित रूप मे।

(iv) बुनियादी सुविधाओं का अभाव

उत्तरांचल में बुनियादी सुविधाओं का अभाव हमेशा रहा है। यहाँ 40 प्रतिशत से अधिक लोग कुपोषण के शिकार हैं। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र बहुत दूर–दूर स्थापित है। जहाँ डाक्टर है तो दवाइयां नहीं है, कम्पाउन्डर नहीं है। बच्चे मात्र दस्त से मर जाते हैं और न जाने कितनी महिलायें चिकित्सा सुविधा न होने के कारण प्रसव पीडा में अपनी जान गंवा देतीं हैं।

डाक व्यवस्था का भी यही आलम है। उत्तरांचल में 86 प्रतिशत गांवों में डाकघर तीन मील के अर्द्धव्यास के अन्तर्गत है, शेष 14 प्रतिशत गांवों में डाकघर इससे अधिक दूरी पर है। 59 प्रतिशत गांवों में बाजार की सुविधायें तीन मील की दूरी के अर्द्धव्यास के अन्दर हैं, जबकि 41 प्रतिशत गांवों में बाजार इससे भी अधिक दूरी पर है (डॉ0 आर0पी0ध्यानी के अध्ययन पर आधारित)। पेयजल एवं सिंचाई के लिये पानी की कमी पूरे उत्तरांचल की एक गम्भीर समस्या है। पूरे देश को पानी देने वाला यह क्षेत्र खुद प्यासा है। गांवों में विद्युत आपूर्ति का भी बुरा हाल है। सही अर्थों में उत्तरांचल के 50 प्रतिशत से भी कम गांवों को पानी–बिजली वास्तविक रूप से उपलब्ध है। संचार सुविधायें भी ना के बराबर हैं।

(v) सड़क एवं रेलमार्ग का अभाव

पूरे उत्तरांचल में परिवहन सुविधाओं और सड़कों की अपर्याप्तता सर्वविदित है। बेतरतीब तरीकों से सड़कों के निर्माण ने भू–स्खलन के खतरों को जन्म दिया है। परिवहन व्यवस्था की कमी के कारण प्रतिवर्ष सैकड़ों टन आलू, माल्टा सेब, खुमानी और टमाटर सड़ जाते हैं। अभी भी स्थिति यह है कि उत्तरांचल में

लगभग 69 प्रतिशत गांवों से मोटर मार्ग 5 मील की दूरी के अर्द्धव्यास में और 13 प्रतिशत गांवों में 10 मील से अधिक दूरी के अर्द्धव्यास के अन्तर्गत हैं। यद्यपि अब अधिकतम् क्षेत्रों में मोटर पहुंच गई है फिर भी, कुछ गांवों में पहुंचने के लिये मोटर सड़क से 25 मील या इससे भी अधिक मार्ग तय करना पड़ता है (डॉ0 आर0पी0ध्यानी के अध्ययन पर आधारित)। सीमांत और सुदूरवर्ती क्षेत्रों में सडकों का यह अभाव और भी ज्यादा है। उत्तरांचल का यह भी एक दुर्भाग्य है कि उत्तरांचल की सड़कें भारत की ऐसी सड़कों में से है जो सामाजिक संवाद को बनाये रखने में असमर्थ हैं। यहाँ की सडके या तो कच्चे माल की सप्लाई के लिये या फिर पलायन के सर्वाधिक उपयोग में आती है। रेलों को भी विस्तारित करने के लिये कोई नई योजना नही बनायी गयी। हरिद्वार–देहरादून, हरिद्वार–ऋषिकेश, मुरादाबाद–रामनगर, पीलीभीत–काठगोदाम तथा अल्मोड़ा–नैनीताल को दक्षिण भाग से मिलाने वाले रेलमार्ग ही इस इलाकें में मौजूद है जो आजादी पूर्व बनाये गये थे। जबकि इस इलाके में रेलों के विस्तार की पर्याप्त सम्भावनायें मौजूद हैं।

(vi) औद्योगिक पिछड़ापन

औद्योगिक दृष्टि से समूचा उत्तरांचल लगभग उद्योग शून्य क्षेत्र है। मात्र इसके मैदानी जिलो– हरिद्वार, देहरादून और नैनीताल जिलों में कुछ औद्योगिक इकाइयां स्थापित है, लेकिन वे रोजगार की सम्भावना तथा वृहत् उत्पादन की दृष्टि से बहुत पीछे हैं। उत्तरांचल में उद्योगों पर लगी कुल पूंजी का प्रतिशत उत्तर प्रदेश के उद्योगों में लगी सकल पूंजी का 1 प्रतिशत से भी कम बैठता है। उत्तरांचल में लगभग हर वस्तु को दूसरे औद्योगिक और व्यापारिक क्षेत्रों से ही मंगाया जाता है।

पहाड़ों से चूना पत्थर, लीसा, मैग्नेसाइट और बहुत से खनिजों और कच्चे माल का दोहन बहुत तेजी से किया जा रहा है। मगर इन सबके लिये योजना का कोई सुनिश्चित प्रारूप तैयार नहीं किया गया। कहीं भी व्यापक अथवा कच्चे माल पर आधारित औद्योगीकरण का नियोजित प्रयास नहीं किया गया, फलस्वरूप कच्चे माल को अन्यत्र ले जाकर तैयार माल की शक्ल दी जाती है। यहां के लोग उससे हो सकने वाले लाभ से वंचित हो जाते हैं।

उत्तरांचल में वनों पर आधारित उद्योगों, व्यवसाय एवं व्यापार की पर्याप्त संभावनायें है। उत्तर प्रदेश के दो तिहाई वन इसी क्षेत्र में पड़ते हैं जो प्रदेश की समृद्धि के साधन हैं। लेकिन उत्तरांचल में वनों पर आधारित उद्योगों का अभाव है। लकड़ी का जो व्यापार होता है उसमें स्थानीय जनता का हिस्सा बहुत कम है। वनों से सम्बन्धित सारे उद्योगों और सम्पदा के वितरण में स्थानीय जनता के हाथ कुछ नहीं आता। जनता कटान–चिरान में मजदूरी करती है और ठेकेदार हवेलियां खड़ी करते हैं। स्थानीय लोग जहाँ जलाने और मकान बनाने के लिये लकड़ी और पशुओं के चारे के लिये तरसते हैं वहीं दूसरी ओर ठेकेदारी व्यवस्था में जंगल निर्दयतापूर्वक काटे जाते हैं। जंगलात विभाग, बड़े अफसरों, नेताओं और व्यापारियों की मिलीभगत से असीमित रूप से पर्वतीय क्षेत्र की वन सम्पदा का निरन्तर शोषण किया जा रहा है। जिससे पर्यावरण सम्बन्धी परेशानियां भी खड़ी हो जाती हैं। वन सम्पदा की रक्षा हेतु जो कदम उठायें जा रहे हैं उन्हें उपर्युक्त गठजोड़ निष्क्रिय कर देता है।

उत्तरांचल में जड़ी–बूटियों का अकूत भण्डार मौजूद है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने जिन 20 हजार जड़ी–बूटियों की सूची तैयार की, उनमें हिमालय की वे जड़ी बूटियां भी है जिन्हें देशी एवं

बहुराष्ट्रीय कम्पनियां सस्ते दामों मे खरीदकर भारी मुनाफा कमातीं हैं। सरकार ने जडी–बूटियों के अन्धाधुंध दोहन को रोकने मे उपेक्षा ही दिखाई है, न तो इनको बचाने का प्रयास किया गया है और न ही इनसे बनने वाली दवाओं के कारखानो के स्थानीय निर्माण और अनुसंधान में रूचि ली है।

विकास के सारे मार्गों के इस तरह सभी प्रकार से अवरूद्ध हो जाने के कारण ही यहां की जनता पृथक राज्य के निर्माण में अपने विकास की सम्भावनायें देखती रही है।

उत्तरांचल के पिछडेपन के साथ–साथ उत्तरांचल की कुल जनसंख्या और क्षेत्रफल का आधार भी राज्य निर्माण के औचित्य को सही ठहराता है। ये दोनो मापदण्ड देश के अनेक राज्यों की अपेक्षा यहॉ अधिक व्यापक हैं। उत्तरांचल का वर्तमान क्षेत्रफल 53,483 वर्ग कि0मी0 है जो सम्पूर्ण भारत का 1.63 प्रतिशत और अविभाजित उत्तर प्रदेश का 18.17 प्रतिशत है। यदि हम इसके मौजूदा क्षेत्रफल को दूसरे प्रदेशों से तुलना करें तो यह देश का क्षेत्रफल की दृष्टि से 19वाँ बड़ा राज्य होगा अर्थात इससे भी छोटे 9 राज्य और हैं।

सारणी : 6.2
हिमालयी एवं कुछ अन्य छोटे राज्यों का तुलनात्मक अध्ययन

क्र0 सं0	राज्य	क्षेत्रफल (वर्ग कि0मी0)	जनसख्या 2001	कुल एम0एल0ए0	कुल एम0पी0		जनसंख्या घनत्व	केन्द्रीयसहायता करोड में (91–92)% में
					लोकसभा	राज्यसभा		
1	गोवा	3,702	1343,998	40	2	1	363	*
2	सिक्किम	7,096	540,493	32	1	1	76	88 (91 66)
3	त्रिपुरा	1,09,169	3,191,168	60	2	1	304	196 (86.34)
4	नागालैण्ड	16,579	1,988,636	60	1	1	120	165 (97 05)
5	मणिपुर	22327	2,388,634	60	2	1	107	195 (97.5)
6	मेघालय	22429	2,306,069	60	2	1	103	178 (84.8)
7	केरल	38863	31,838,619	140	20	9	819	*
8	हरियाणा	44122	21,082,989	182	10	5	477	*
9	पंजाब	50362	24,289,296	117	13	7	482	*
10	मिजोरम	21081	891,058	40	1	1	42	152 (100)
11	अरूणाचल प्रदेश	83743	1,091,117	30	2	1	13	235 (100)
12	हिमालच प्रदेश	55673	60,77,248	68	4	3	109	320 (78)
13	उत्तराखण्ड	53483	8,479,562	19(70)	4	3	159	182 (50 98)
14	जम्मू कश्मीर	222236	10,069,917	76	6	4	99	721 (99 7)
15	दिल्ली	1483	13,782,976	70	7	3	9,294	*

* अनुपलब्ध आकडे ।

स्रोत :– डी0डी0बसु (1994), भारत का संविधान–एक परिचय, पृ0 445–446 ।
जयप्रकाश मिश्र (संपा0) (2001), भारत की जनगणना–2001।
प्रदीप कुमार (2000), द उत्तराखण्ड मूवमेन्ट : कान्सट्रक्शन ऑफ ए रीजनल आइडेन्टी, पृ0 64 ।

जनसंख्या की दृष्टि से भी उत्तरांचल की वर्तमान जनसंख्या 84,79,562 है, जिसकी तुलना यदि दूसरे राज्यों से की जाय तो यह देश का 19वॉ बड़ा राज्य होगा अर्थात जनसंख्या की दृष्टि से भी इससे छोटे 9 राज्य और हैं। अन्य हिमालयी राज्यों को दृष्टिगत रखते हुये भी अपेक्षित

जन–प्रतिनिधित्व एवं पर्याप्त केन्द्रीय सहायता का न प्राप्त होना भी इसके पृथक राज्य के रूप में निर्माण के औचित्य को सही ठहराता है।

3. राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से सामाजिक सुदृढ़ता की आवश्यकता

यह एक सीमान्त क्षेत्र है जो सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके उत्तर में तिब्बत है जिस पर चीन काबिज है। तिब्बत में चीन की सेनायें तो तैनात है हीं वहां उसने अंतर्महाद्वीपीय मिसाइले भी तैनात की हुयी हैं जिनका मुँह भारत की ओर है। भारत के अनेक प्रमुख नगर उसकी जद में है। उत्तरांचल में लगभग 800 कि0मी0 की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा है।

हमारा शत्रु निश्चित रूप से जब भी युद्ध या आक्रमण करेगा तो उसके आक्रमण क्षेत्रों में यह भी एक क्षेत्र होगा, क्योकि यह देश के प्रथम सुरक्षा क्षेत्रों में से एक है। ऐसी स्थिति में इस क्षेत्र में पर्याप्त सुरक्षा व्यवस्था तो होनी जरूरी है ही, लेकिन इससे भी अहम् सवाल इस क्षेत्र के लोगों को आर्थिक रूप से सक्षम बनाने का है। आर्थिक दृष्टि से सुदृढ समाज का मनोबल ऊँचा रहता है और वह सुरक्षा की द्वितीय पंक्ति के रूप में कार्य करता है। इस दृष्टि से समूचा उत्तराखण्ड आने वाले सुरक्षाजनित भविष्य की दृष्टि से बहुत कमजोर क्षेत्र है। अतः इसको एक सुदृढ़ सामाजिक–आर्थिक इकाई बनाया जाना बहुत जरूरी है। इसके लिये सरकार को ऐसे सभी सीमांत क्षेत्रों में रोजगार के अवसर पैदा करने के कार्यक्रम बनाने चाहियें ताकि सीमांत क्षेत्र के निवासियों की अधिक से अधिक सख्या उन कार्यों से सम्बद्ध हों व उनकी अपनी धरती के प्रति आस्था आर्थिक रूप से भी दृढ़ हो, क्योंकि धरती का असली और सच्चा सिपाही उस धरती से रागात्मक सम्बन्धों से जुड़ा रहनें वाला मनुष्य है। अतः ऐसा करने के लिये एक अलग और इन खतरों का अहसास करने वाली, साथ ही इस दृष्टिकोण से काम करने वाली प्रशासनिक व्यवस्था की जरूरत है।

4. हिमालयी आर्थिकी के अनुकूल नियोजन नीति की आवश्यकता

उत्तरांचल का भूगोल प्रदेश (उ0प्र0) के शेष हिस्से से तो अलग है ही, आर्थिक दृष्टि से भी उत्तरांचल एक भिन्न और पूर्ण इकाई है। अतः यहां योजनाओं का उस रूप में लागू होना कदापि सम्भव नहीं है जैसा मैदानी भागों में। मगर यही आज तक किया जाता रहा और इसीलिये उत्तरांचल के नाम पर आवंटित किया गया धन ज्यादातर बर्बाद हुआ। उत्तरांचल के लिये तो पूरी तरह अलग योजनायें बनानी चाहिये। ये योजनाये यहॉ के संसाधनों के वैज्ञानिक दोहन के साथ ही यहॉ की भौगोलिकता के अनुरूप होनी चाहिये था मगर ऐसा नहीं हुआ।

इस कार्य को आज भी वे ही लोग कर सकते हैं जो यहाँ की भौगोलिक जटिलताओं और साधनगत उपलब्धियों का ज्ञान रखते हों, अन्यथा कहीं से उठाकर थोप दिये गयें अधिकारी पहली नजर में पैसा बटोरने पर अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं। इस कार्य के लिये विशिष्ट सोच वाले विशेषज्ञों की आवश्यकता है। पर्वतीय या हिमालयी आर्थिकी के संसाधन जल, वन या पशुधन हो सकते हैं, मगर इनके समुचित उपयोग की ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। उत्तरांचल के इस भौगोलिक आधार को यदि यहां के मानव विकास की दृष्टि में रखकर सही विश्लेषित किया जाय और उसमें उपलब्ध संसाधनों का वैज्ञानिक और सन्तुलित दोहन किया जाय तो यह भौगोलिक आधार मनुष्य को

नर्वस करने वाला न रहकर उसमें उत्फुल्लता, समृद्धि, खुशहाली और जीवनदायिनी शक्ति का संचार करने में पूरी तरह संक्षम हैं जो कि एक अलग प्रशासनिक व्यवस्था में ही सम्भव है।

5. स्वायत्तता के सिद्धान्त के तहत छोटी राजनीतिक संरचनाओं की आवश्यकता

देश के अनेक प्रान्त अत्यधिक क्षेत्रफल एवं जनसंख्या वाले हैं। इन प्रान्तों के विभिन्न भौगोलिक खण्डों में अनेक जातीय एवं सांस्कृतिक पहचान वाले समूह है–जिनका अपना आर्थिक तथा सामाजिक ढॉचा है। किसी बडे प्रान्त का हिस्सा रहते हुये उनका सामाजिक–सांस्कृतिक और आर्थिक विकास कठिन है। इन सामाजिक–आर्थिक इकाइयों की अपनी आकांक्षायें है। आज देश में स्वायत्तता का विचार निरन्तर मजबूत होता जा रहा है। स्वायत्तता के सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न सामाजिक–आर्थिक इकाइयों के विकास की दृष्टि, साथ ही उनकी सामाजिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये छोटी संरचनाओं की स्थापना करके उनका शासन–प्रशासन तथा विकास कार्य सही ढंग से चलाया जा सकता है। आज यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि देश में जितने भी बड़े प्रदेश है उनमें प्रशासन उतने अच्छे ढंग से नहीं चल रहा है जितना छोटे राज्यों में। बड़ी राजनीतिक संरचनाओं में निकटवर्ती और प्रभावशाली समूह ही अधिक और यथासमय लाभ उठा पाते हैं और उनमें इसीलिये आर्थिक–प्रशासनिक असन्तुलन और विभिन्न प्रकार के सामाजिक तनाव होते है जबकि छोटे राज्यों में सामाजिक तनाव कम होते हैं क्योंकि वे वहाँ की सामाजिक संरचना की आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं तथा ऐसे लगभग सभी विवाद प्रशासन के प्रारम्भिक चरण में ही सुलझा लिये जाते हैं। अतः राजनीतिक न्याय तथा आर्थिक–प्रशासनिक सन्तुलन के लिये स्वायत्तता के तहत इस क्षेत्र में एक अलग प्रशासनिक इकाई का होना अपरिहार्य था।

6. वृहत्तर जनसंख्या की सामाजिक संरचना तथा उसकी सामाजिक आकांक्षाओं की पूर्ति की आवश्यकता

उत्तरांचल का भौगोलिक परिवेश व सांस्कृतिक विशिष्टता तथा यहां की सामाजिक संरचना देश के शेष भागों से भिन्न है। यह अपने आप में एक अलग या समग्र भारतीय संदर्भ में एक लघु राष्ट्रीयता है। इसके सामाजिक विकास के आधार भिन्न है और यह कुछेक लोगों का नहीं बल्कि क्षेत्र की वृहत्तर जनसंख्या का सवाल है, जो व्यवस्था के मौजूदा ढ़ाँचे मे अपनी सामाजिक संरचना के नष्ट होने की आशंका से त्रस्त रहें है।

वर्षो से अनेक आर्थिक–प्रशासनिक समस्याओं से त्रस्त यहां की सामाजिक संरचना को विकसित होने के अवसर नहीं मिल पाये,जिससे यहाँ की सामाजिक संरचना सुदृढ़ नहीं हो पायी। उसे कभी राजनीतिक न्याय नहीं मिल पाया। इसलिये देश में समकालीन सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना के चलते वह अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु पृथकं राज्य की मांग करने लगी। उत्तरांचल की जनता की ये आकांक्षायें जो शिक्षा, प्रबन्धन, नियोजन, तथा व्यवस्था में स्पष्ट भागीदारी की हैं, यहाँ की सामाजिक संरचना की समझ रखने वाली एक अलग प्रशासनिक इकाई में ही सम्भव है।

7. पृथक राज्य का स्वरूप न होने से इस क्षेत्र की प्रबन्ध व्यवस्था तथा प्रशासनिक ढाँचा व्यवहारिक रूप से कारगर नहीं था। पर्वतीय क्षेत्र के सुदृढ प्रशासन एवं विकास के लिये शासकीय सेवाओं के उच्च पदो व अन्य पदों पर प्रशासनिक व्यवस्था का इस प्रकार होना आवश्यक है ताकि विभिन्न अधिकारी/कर्मचारी इस क्षेत्र में ही नीचे पद से ऊपर के पद तक कार्य करते रहे व इस प्रकार की तारतम्यता, निरन्तरता एवं प्रतिबद्धता बनी रहे कि इस क्षेत्र में कार्य करने से प्राप्त ज्ञान व अनुभव व्यर्थ न जाये। अगर उत्तरांचल इस विशाल उत्तर प्रदेश का एक भाग बना रहता तो यह सम्भव नहीं था। संसाधनो के अभाव में मैदानी क्षेत्र के लोग वहाँ जाना नहीं चाहते। परिणामस्वरूप वहाँ अनेक पद हमेशा रिक्त रहते है– यानी विकास के कार्यों का क्रियान्वयन सही तौर पर नहीं हो पाता है।[46]

उत्तर प्रदेश जैसे विशाल राज्य मे विभिन्न संभागों की बड़े पैमाने की समस्याये है जिनका निवारण एक सुदृढ प्रशासनिक और आर्थिक ढ़ॉचे के अभाव में सम्भव नही है। इस सामरिक क्षेत्र में एकरूप प्रशासन यानी सिगल लाइन एड़मिनिस्ट्रेशन की नितान्त आवश्यकता है ताकि प्रशासनिक सरलता नियन्त्रण एवं प्रबन्ध व्यवस्था सुदृढ हो सकें। इसके अभाव में सबसे बड़ी कठिनाई इस क्षेत्र में कर्मचारियो–अधिकारियों की तैनाती की है इसके अलावा उनमें क्षेत्र के प्रति समर्पण तथा प्रतिबद्धता का अभाव है।[47]

8. इस क्षेत्र मे राजनीतिक दृष्टि से पृथक नेतृत्व स्थानीय लोगों की भागीदारी, योगदान और राजनीति तथा प्रशासनिक नेतृत्व में व्यवहारिक तथा कारगर सांमजस्य और तालमेल के लिये उत्तरांचल में पृथक राज्य की स्थापना जरूरी थी। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि उत्तरांचल की विषम स्थालाकृति तथा दुर्गम पहाड और दूर दराज के क्षेत्रों की पृथक समस्याओं के दृष्टिगत जन–प्रतिनिधित्व की इकाइयां भी अपेक्षाकृत मैदानी भाग से छोटी हों। इसी प्रकार पृथक राज्य का दर्जा दिये जाने के फलस्वरूप जिला, तहसील और विकासखण्ड की मांग को अन्य पृथक राज्यों की भांति मानकर इन इकाइयों की प्रशासनिक और आर्थिक दृष्टि से संख्या भी अधिक होनी आवश्यक है। इस प्रकार इस अंचल की भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व सामरिक स्थिति बिल्कुल पृथक है और जन आकांक्षाओं के अनुसार इस पृथक इकाई के विकास में गतिशीलता, जनजीवन के स्तर में सुधार, आर्थिक और सामाजिक रूप में सक्षम बनाने के लिये पृथक राज्य बनाकर ही पूर्ण प्रशासनिक नियन्त्रण तथा राष्ट्र सुरक्षा का दायित्व निर्वहन किया जा सकता है। इसके बगैर प्रशासनिक प्रबन्ध नियन्त्रण और विकास का मार्ग प्रशस्त होने में व्यवहारिक कठिनाई महसूस की जा रही थी।[48]

9. इस क्षेत्र के लोगों की प्रबल उत्तरांचल राज्य की जन आकांक्षा इसलियें भी थी कि भारत वर्ष की उत्तरी सीमायें जो हिमालय से लगी है, उससे जुड़े हुये जम्मू कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, असम, नागालैण्ड, अरूणाचल प्रदेश, मिजोरम, मेघालय, सिक्किम आदि पृथक राज्य हैं। पश्चिम बंगाल का दार्जलिंग संभाग भी एक स्वशासी क्षेत्र है। इस प्रकार राष्ट्र के उत्तरी संभाग की उपरोक्त सभी इकाइयों की पृथक पहचान है। हिमालय से लगे सभी पहाड़ी राज्य अर्थात् हिमाचल प्रदेश एवं अन्य

---

46 उत्तर प्रदेश शासन, उत्तरांचल विकास विभाग, लखनऊ का अ0शा0पं0 सं0–409 बी0एस0पी0/एच0डी0/92 दिनाक 7 फरवरी, 1992 ।

47. तदैव ।

48. तदैव ।

पूर्वोत्तर लघु राज्य यदि सक्षम हो सकते हैं, तो उत्तरांचल जिसका क्षेत्रफल, जनसंख्या तथा यहॉ के ससाधन अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक सपुष्ट माने जा सकते है, विशेषकर खाद्यान्न उत्पादन क्षमता एवं इस टेरेन में ट्रेनिंग मंडियों तथा तराई के उपजाऊ क्षेत्रों का अपना महत्व है, जो इस संभाग की आवश्यकता की पूर्ति करने में सक्षम है। इस क्षेत्र की स्थानीय जनता का दृढ़ विश्वास रहा है कि हिमालय से जुडे अन्य पृथक पर्वतीय राज्यों का पृथक अस्तित्व होने के फलस्वरूप ही वहाँ का विकास अपेक्षाकृत अधिक हुआ है क्योंकि उन्हें कुछ विशेष सुविधायें यथा–योजना खर्च, नॉन–प्लान गैप की पूर्ति, विशिष्ट राज्य सहायता एवं आर्थिक संरक्षण आदि प्राप्त हैं जो कि पृथक राज्य बनने के पूर्व उत्तर प्रदेश का भाग होने के कारण उत्तरांचल को प्राप्त नहीं हो रही थी।

10. वन संरक्षण अधिनियम और पर्यावरण से सम्बन्धित प्रतिबन्धों के कारण ग्रामीण जीवन की कठिनाइयां असाधारण रूप से बढ़ गयीं हैं। मूलभूत सुविधा प्रदान करने वाले विकास कार्यक्रम रूक गये हैं। बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिये यहाँ की खनिज सम्पदा पर आधारित किसी भी उद्योग को स्थापित किये जाने पर कानूनी रोक, कई विकास योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने पर उनके अनुरक्षण के लिये प्रावधान का अभाव तथा पंचवर्षीय योजनाओं में प्रति व्यक्ति औसत व्यय वहां उस व्यय का आधा है जो पूर्वोत्तर भारत के पर्वतीय राज्यों में प्रति व्यक्ति किया जाता है।

उपर्युक्त सभी कारण वे मापदण्ड है जो पृथक पर्वतीय उत्तरांचल राज्य के औचित्य को सही ठहराते हैं।

सारणी : 6.3

उत्तर प्रदेश के विभिन्न उपक्षेत्रों का तुलनात्मक अध्ययन

क्र0 सं0	क्षेत्र	उ0प्र0 की कुल जनसंख्या का प्रतिशत	बाल मृत्यु दर (1981)		स्त्री–पुरूष अनुपात (1991)	साक्षरता दर सात वर्ष व अधिक(1981) %		ग्रामीण गरीबी की मात्रा 1987-88
			स्त्री	पुरूष		स्त्री	पुरूष	
1	हिमालयन क्षेत्र (उत्तरांचल)	4 3	106	110	955	43	76	8
2	पश्चिमी क्षेत्र	35.6	170	145	841	27	55	26
3	मध्य क्षेत्र	17.4	164	158	855	28	55	36
4	पूर्वी क्षेत्र	37 9	154	144	923	21	55	43
5	दक्षिणी क्षेत्र	4.8	166	147	846	24	58	50
	सभी क्षेत्रों का महायोग	100	160	146	879	25	56	35

स्रोत : कुमार, प्रदीप, (2000), "द उत्तराखण्ड मूवमेन्ट : कान्सट्रक्शन ऑफ ए रीजनल आईडेन्टी", पृ0 63।

नवगठित राज्य उत्तरांचल एक दृष्टि में

53,483 वर्ग कि0मी0 भू क्षेत्र[49] वाला नवगठित राज्य उत्तरांचल प्रशासनिक दृष्टि से दो संभागों, 13 जिलों, 49 तहसीलों, 9 उप तहसीलों और 95 सामुदायिक विकास खण्डों में बंटा है। यहाँ पर 673 न्याय पंचायतें और 6794 ग्राम सभायें अवस्थित है। कुल 39 नगर पालिका वाले उत्तरांचल क्षेत्र में 9 नोटीफाइट एरिया है। सेना के दो रेजीमेंट्स गढ़वाल राइफल्स रेजीमेंट और कुमाऊँ रेजीमेन्ट

1 जनगणना, 2001।

सारणी 6.4

नवगठित राज्य उत्तरांचल : कुछ तथ्य एक दृष्टि में

1	राजधानी	·	देहरादून (अस्थाई)
2	जिले		13
3	तहसीले	:	49
4.	क्षेत्रफल	·	53,483
5	जनसख्या	:	84,79,562
6	दशकीय जनसंख्या वृद्धि	:	1366079
7	दशकीय जनसख्या वृद्धि का प्रतिशत	:	19 20
8	जनसंख्या घनत्व	:	159
9	पजीकृत बेरोगारो की स0 (1991)	:	2,43,171
10	धर्मालम्बी (:में)	:	हिन्दू– 94.6%, मुस्लिम– 3 2%, सिक्ख– 1.7%, अन्य–0.5%(1991 की जनगणनानुसार)

के अन्तर्गत आने वाली 9 छावनी इसी क्षेत्र में अवस्थित है। क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़ा जिला उत्तरकाशी और सबसे छोटा जिला बागेश्वर है जिनका क्षेत्रफल क्रमश 8016 और 1696 वर्ग कि0मी0 है। सारणी 6 5 के अवलोकन से ज्ञात होता है कि–

उत्तरांचल की वर्ष 2001 की जनगणनानुसार कुल जनसंख्या 84,79,562 है, जिसमें पुरूषों की संख्या 43,16,401 और स्त्रियों की संख्या 41,63,161 है। जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा जिला हरिद्वार (14,44,213) और सबसे छोटा जिला चम्पावत (2,24,461) हैं। यहाँ की कुल साक्षरता दर, पुरूष साक्षरता दर एवं स्त्री साक्षरता दर क्रमश : 72.28 प्रतिशत, 84.01 प्रतिशत और 60 26प्रतिशत है। सर्वाधिक साक्षर जिला नैनीताल (79.60प्रतिशत) और सबसे कम साक्षरता दर वाला जिला हरिद्वार (64.60प्रतिशत) है। उत्तरांचल में लिंगानुपात 964 है। सबसे अधिक लिंगानुपात अल्मोडा (1,147) जिले में तथा सबसे कम लिंगानुपात हरिद्वार (868) जिले में है। यहां आयु वर्ग 0–6 की कुल जनसंख्या 13,19,393 है, जिसमें बालकों की सं0 6,92,272 एवं बालिकाओं की संख्या 6,27,121 है। उत्तरांचल में जनसंख्या घनत्व 159 है सर्वाधिक जनघनत्व हरिद्वार (612) में तथा सबसे कम जनघनत्व उत्तरकाशी (37) में है। उत्तरांचल में दशकीय विकास दर (1991–2001) का प्रतिशत 19.20 रहा है। (मद सं0 2, 3 एवं 4)

उत्तरांचल में शिक्षा प्रदान करने हेतु 5 विश्वविद्यालय, 50 डिग्री कालेज, 1,331 उच्चतर माध्यमिक विद्यालय है। सीनियर बेसिक स्कूल और जूनियर बेसिक स्कूलों की कुल संख्या क्रमशः 2,661 एवं 12,162 है। यहां 17 पॉलीटेक्निक और 65 औद्योगिक प्रशिक्षण देने वाली संस्थायें भी है (मद सं0–20)।

उत्तरांचल में चिकित्सा सुविधा प्रदान करने वाली विभिन्न चिकित्सा केन्द्रों की संख्या इस प्रकार है– यहाँ परिवार एवं मातृ शिशु कल्याण केन्द्रों और उपकेन्द्रों की संख्या क्रमशः 188 और 1,509 है। आर्युवेदिक, एलोपैथिक, होम्योपैथिक और यूनानी चिकित्सा केन्द्रों की संख्या क्रमशः 427, 558, 63 एवं 5 हैं। क्षय, कुष्ट और संक्रामक रोग से सम्बन्धित विशेष चिकित्सालयों की संख्या 38 है (मद सं0–21)।

सारणी संख्या 5.5

(जनसंख्या, बैकिंग, शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन एवं अन्य संस्थागत तथ्य : जनपदवार) एक दृष्टि में

इकाई	अवधि	उत्तरकाशी	चमोली	टिहरी	देहरादून	गढ़वाल	रूद्रप्रयाग	हरिद्वार	अल्मोडा	बागेश्वर	नैनीताल	ऊधमसिह नगर	पिथौरागढ	चम्पावत	योग
3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18
वर्गकि.मी.	2001	8016	7626	3908	3796	5397	2252	1994	3074	2311	4767	2027	7218	1638	53483
सख्या	2001	294179	369198	604608	1279083	696851	227461	1444213	630446	249453	762912	1234548	462149	224461	8479562
सख्या	2001	151599	183033	294842	675549	331138	107425	773173	293576	118202	400336	649020	227592	110916	4316401
सख्या	2001	142580	186165	309766	603534	227592	120036	671040	336870	131251	362576	585528	234557	113545	4163161
सख्या	2001	48591	54667	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
संख्या	2001	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
सख्या	2001	23614	26409	46367	77235	47484	17060	116972	46124	19698	52095	101683	33255	19125	627121
प्रतिशत	91–01	22 72	13 51	16 15	24 71	3 87	13.44	26 30	3 14	9 21	32 88	27 79	10 92	17 56	19 20
कि0मी	2001	37	48	148	414	129	120	612	205	108	198	424	65	126	159
प्रतिशत	2001	66 58	76 23	67 04	78 96	77 99	74.23	64 60	74 53	71 94	79 60	65 76	76 48	71 11	72 28
प्रतिशत	2001	84 52	89 89	85.62	85 87	91 47	90 73	75 06	90 15	88 56	87 39	76 20	90 57	88 13	84 01
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
सख्या	2001	941	1017	1051	893	1104	1117	868	1147	1110	906	902	1031	1024	964
संख्या	96–97	4	6	5	4	6	2	3	3	2	4	4	5	1	49
सख्या	96–97	–	–	2	–	–	1	–	–	–	3	2	1	–	9
सख्या	96–97	6	9	9	6	15	3	6	11	3	8	7	8	4	95
सख्या	96–97	37	39	76	40	118	29	46	95	34	44	27	64	24	673
संख्या	96–97	373	492	762	335	1178	326	299	1016	344	442	327	651	249	6794
सख्या	97–98	3	0	0	4	2	1	3	4	2	1	1	6	0	27
सख्या	97–98	2	5	6	11	7	1	9	3	1	8	8	3	3	67
सख्या	97–98	6	13	12	69	17	3	43	13	2	22	21	8	4	233
संख्या	97–98	118	275	293	1888	409	102	82	02	139	145	84	312	70	3919
संख्या	97–98	15	10	3	13	10	103	34	125	33	63	49	9	5	472
संख्या		23	25	45	138	61	16	98	49	13	52	65	27	12	624
संख्या		0	0	0	17	0	5	2	8	4	10	13	1	5	65
संख्या		3	27	23	14	36	5	1	19	14	19	8	21	4	194
संख्या		12	15	22	13	19	5	12	16	3	20	24	13	5	179
संख्या		1	1	1	3	3	0	3	2	0	1	4	1	0	20
संख्या	97–98	405	602	972	483	870	370	355	709	330	383	358	765	250	6852
संख्या	97–98	18	45	41	331	52	12	132	42	3	101	157	50	14	998
कि0मी0	97–98	640	379	472	787	772	269	300	503	341	875	1063	344	216	6961
संख्या	1993	344078	371998	470325	[illegible]	[illegible]	-	455822	[illegible]	[illegible]	299652	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
संख्या	97–98	24	22	31	26	39	12	22	37	10	20	23	27	11	304
संख्या	97–98	31	48	65	37	68	24	24	62	18	78	70	52	17	594
संख्या	97–98	9	22	10	1	10	10	22	27	4	7	23	2	0	139
संख्या	97–98	0	0	0	42	5	0	24	29	8	46	70	22	12	258
संख्या	97–98	46	56	94	41	134	33	44	81	17	53	33	112	21	765
हजार मे	97–98	45	64	67	60	112	26	99	74	22	49	79	70	19	786
संख्या	97–98	608	882	1344	1214	1591	482	892	1339	528	916	815	1127	424	12162
संख्या	97–98	188	147	344	340	321	98	201	207	80	247	211	194	83	2661
सख्या	97–98	69	81	156	129	226	70	57	161	56	102	78	110	36	1331
सख्या	97–98	4	4	2	8	4	1	7	7	1	2	4	4	2	50
संख्या	97–98	0	0	0	0	1	0	2	0	0	1	1	0	0	5
सख्या	97–98	4	5	7	6	7	2	7	8	1	6	5	5	2	65
संख्या	97–98	1	1	1	2	3	0	1	4	0	1	2	0	1	17
संख्या	97–98	45	33	35	104	83	28	27	52	16	55	18	45	17	558
सख्या	97–98	39	51	51	37	76	18	17	36	8	25	13	45	11	427
संख्या	97–98	4	5	8	8	11	3	4	5	2	6	2	4	1	63
संख्या	97–98	0	0	0	1	0	0	4	0	0	0	0	0	0	5
संख्या	97–98	12	14	25	23	31	3	26	32	11	19	28	22	8	254
संख्या	97–98	4	9	9	4	15	42	20	24	7	25	7	16	6	188
संख्या	97–98	64	91	128	129	209	26	139	175	70	134	147	145	52	1509
संख्या	97–98	3	3	0	5	3	1	9	2	0	5	0	7	0	38
संख्या	97–98	4	3	1	13	6	1	15	3	1	8	15	2	2	74
संख्या	97–98	182	79	432	232	427	67	113	275	83	220	144	189	53	2496
कि0मी0	96–97	974	1318	1708	2383	2793	–	1836	1831	452	2208	1841	1078	557	18979
सख्या	97–98	0	0	0	8	1	0	14	0	0	5	14	0	0	42
कि0मी0	97–98	0	0	0	65.3	–	0	80	0	0	32	161	0	0	338 3

पशुओं की चिकित्सा के लिये 304 पशु चिकित्सालय एव 594 पशुधन सेव केन्द्र है। कृतिम गर्भाधान केन्द्रो और उपकेन्द्रों की सख्या क्रमश 139 और 258 है (मद सं0–18)।

उत्तरांचल मे यातायात की व्यवस्था असुविधाजनक तथा महंगी है जिससे रोजमर्रा के उपयोगी सामानो की कीमत मैदानी इलाको की अपेक्षा 20 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक महगी रहती है। आवागमन के लिये लगभग 45 से 48 हजार कि0मी0 सड़कों का निर्माण हुआ हैं, जिसमे पक्की सडको की लम्बाई 18,979 कि0मी0 है। यहॉ पर स्थित रेलमार्ग की कुल लम्बाई 338.3 कि0मी0 है जिसमें 281 5 कि0मी0 बडी लाइन और 56.8 कि0मी0 छोटी लाइन है (मद स0–23)।

यातायात का प्रमुख साधन बस सेवा है। उत्तराचल में उत्तर प्रदेश राज्य सडक परिवहन, हरियाणा राज्य परिवहन, दिल्ली परिवहन निगम, राजस्थान राज्य परिवहन, हिमाचल रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन आदि की बसे चलती है। यहॉ पर कुल 42 रेलवे स्टेशन (हाल्ट सहित) है जिसमे देहरादून, काठगोदाम, लालकुऑ, हल्द्वानी, ऋषिकेश प्रमुख है। उत्तर रेलवे का अन्तिम प्रमुख स्टेशन देहरादून है। देहरादून राष्ट्रीय राजमार्ग सं0 45 द्वारा देश के लगभग प्रमुख भागों से जुड़ा हुआ है। देहरादून के अलावा ऋषिकेश व पतनगर मे हवाई अड्डा है, परन्तु यहॉ से नियमित उडाने नही होती है।

उत्तरांचल मे सचार के साधनों की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। यहॉ कुल 472 तारघर स्थित है। इसके अलावा नगरीय एव ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित डाकघरो की संख्या क्रमशः 233 एवं 3919 है। यहॉ पर कुल पुलिस स्टेशनो की संख्या 94 है जिसमें 27 ग्रामीण क्षेत्र में और 67 नगरीय क्षेत्र मे स्थित है (मद सं0–9,10 एव 11) ।

राष्ट्रीय स्तर के कई बैक इस क्षेत्र में अवस्थित है। सहकारी कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की 20, ग्रामीण बैक की 194, सहकारी बैंक की 179 और राष्ट्रीय कृत बैंको की 624 शाखायें स्थित है। इसके अलावा कुछ अन्य बैको की 65 शाखायें यहां पर और स्थित है (मद स0–12,13,14,15)।

उत्तरांचल में मनोरजन का प्रमुख साधन सिनेमाघर है जिनकी कुल संख्या 74 है (मद स0–22)।

यहॉ पर 2,11,989 की जनसंख्या पर एक संसदीय सीट है तथा पूरे क्षेत्र में लोकसभा की 4 एवं विधानसभा की 19 सीटे थी जिनकी संख्या परसीमन के बाद 70 हो गयी हैं।

पर्यटन की दृष्टि से इस क्षेत्र में अनेक ऐतिहासिक–पौराणिक पर्यटन स्थल हैं। नैनीताल, देहरादून, मंसूरी, लैसडाऊन, तपोवन, कण्वाश्रम (गढ़वाल), ऋषिकेश, अल्मोड़ा, कौसानी, रानीखेत आदि प्रसिद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य स्थल है। बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री और यमुनोत्री आदि जैसे पवित्र तीर्थस्थल भी स्थित हैं। इस पर्वतीय अंचल में कार्बेट नेशनल पार्क, राजा जी नेशनल पार्क, नंदा देवी, सेंक्चुअरी फूलों की घाटी, गोविन्द पशु विहार एवं राष्ट्रीय उद्यान जैसे दर्शनीय स्थल भी है, जहॉ लाखों की संख्या में प्रतिवर्ष पर्यटक और तीर्थ यात्री आते हैं। पर्यटकों के लिये उत्तर प्रदेश पर्यटन विभाग ने इस क्षेत्र में 102 पर्यटन इकाइया स्थापित की है जिसमें 3792 व्यक्तियों के ठहरने का प्रबन्ध है।

उत्तरांचल में अनुसूचित जाति और जनजाति की संख्या वहां की कुल जनसंख्या (1991) का क्रमश : 16 70 प्रतिशत तथा 3.54 प्रतिशत है। यहॉ की प्रमुख जनजातियां

जौनसारी, थारू, भोटिया, बुक्सा और राजी हैं जो कि मुख्यतः उत्तरांचल के देहरादून, ऊधमसिह नगर, पिथौरागढ़, उत्तरकाशी, चमोली, बागेश्वर और नैनीताल जिले मे निवास करतीं है (सारणी 6.6)। धर्मानुसार यहां पर 94.6प्रतिशत हिन्दू, 3.2 प्रतिशत मुस्लिम, 1.7 प्रतिशत सिक्ख और अन्य धर्मावलम्बी 0.5प्रतिशत है। यह सवर्ण जाति बाहुल्य क्षेत्र है। 1991 की जनगणनानुसार यहॉ पंजीकृत बेरोजगारों की संख्या 2,43,171 थी जिसमें उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

सारणी : 6.6

उत्तरांचल में अनुसूचित जनजाति का विवरण

अनुसूचित जनजाति का नाम	क्षेत्र जहॉ जनजाति स्थित है	उत्तराचल मे स्थित कुल अनुसूचित जनजाति का प्रतिशत
1. जौनसारी	देहरादून जिले का चकराता और कलसी ब्लाक	38.75
2 थारू	ऊधमसिह नगर जिले का खटीमा और सितारगंज ब्लाक मे जनसख्या का 60%	32 5
3 भोटिया	पिथौरागढ जिले का धारचुला, मुन्स्यारी, बेरीनाग और डीडीहाट ब्लाक, उत्तरकाशी जिले का भटवारी ब्लाक, चमोली जिले का जोशीमठ और बद्रीनाथ ब्लाक एवं बागेश्वर जिले के कपकोट, बागेश्वर और गरूड–बैजनाथ ब्लाक	14.68
4 बुक्सा	ऊधमसिह नगर जिले का बाजपुर, गदरपुर, काशीपुर ब्लाक, नैनीताल जिले का रामनगर ब्लाक, गढ़वाल जिले का डोगड्डा ब्लाक और देहरादून जिले का दयावाला और सहसपुर ब्लाक	13.62
5 राजी	पिथौरागढ जिले का धारचुला, डीडीहाट, कनालीछीना ब्लाक और चम्पावत जिले के कुछ गांव	0.23

स्रोत कुमार, प्रदीप (2000), ''द उत्तराखण्ड मूवमेन्ट . कान्स्ट्रक्शन ऑफ ए रीजनल आईडेन्टी'', पृ0 65 ।

प्राकृतिक संसाधन एवं अर्थव्यवस्था

1. **भू/वन संसाधन–** उत्तरांचल का सबसे बड़ा संसाधन वन सम्पदा है। सरकारी ऑकडो के अनुसार यहॉ का 62.54 प्रतिशत क्षेत्र वनों के अन्तर्गत है जबकि सुदूर संवेदन हवाई चित्रो के विश्लेषण से मालूम होता है कि उत्तरांचल का 28.9प्रतिशत भाग ही वनाच्छादित है।[50] यदि वनों को अच्छी तरह विकसित किया जाय तो केवल वनों की आय से ही यह प्रदेश प्रशासनिक व्यय की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सकता है। इमारती लकड़ी के अतिरिक्त प्रतिवर्ष लगभग दो लाख क्विंटल लीसा की प्राप्ति यहाँ से होती है। इसके अलावा दस लाख क्विंटल भावर घास भी प्रतिवर्ष पैदा होती है जो कागज बनाने के काम आती है। यहाँ पर उपयोगी जड़ी–बूटियों के अतुलनीय भण्डार हैं। यदि औषधियों को उगाने, एकत्र करने और उनका निर्माण करने के सम्बन्ध में एकीकृत योजना शुरू की जाय तो उससे विदेशी मुद्रा तो अर्जित होगी ही, साथ ही यहां की आबादी के एक बड़े हिस्से का भरण–पोषण भी बिना अन्य कोई व्यवसाय अपनाये हो सकता है।

---

50 पंत, डा0 बी0आर0 (1994), *''उत्तरांखण्ड का प्राकृतिक आधार''*, नौटियाल, सुरेश संपा0, पूर्व उद्धत कृति, पृ0 61।

सारणी 6.7
कृषि एवं सिंचित भू–संसाधन (वर्ष 1996–97)

(क्षेत्रफल हेक्टेयर में)

जनपद	कुल प्रतिवेदित क्षेत्र	प्रतिवेदित क्षेत्र का भू वर्गीकरण											
		वन	भूमि जो कृषि हेतु अनुपलब्ध है			परती भूमि को छोड़कर अन्य भूमि जो योग्य न हो				परती भूमि			शुद्ध बोया क्षेत्र
			गैर कृषि कार्यों में प्रयुक्त भूमि	बंजर एवं अजोत भूमि	योग	स्थाई चारागाह	कुप्रयोग के अन्तर्गत भूमि	जोत योग्य वीरान भूमि	योग	चालू परती भूमि	अन्य परती भूमि	योग	
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
अल्मोड़ा	496864	304155	12855	14391	27246	28448	28018	34315	90781	350	4342	4692	69990
बागेश्वर	229965	87942	4518	17649	22167	32003	18265	25587	75855	296	3440	3736	40265
चमोली	883889	563546	18172	165639	183811	21921	35515	33490	90926	92	1621	1713	433893
चम्पावत	176751	115210	6400	3999	10399	29016	1633	1934	32583	94	1075	1169	17390
देहरादून	303208	207707	17442	1948	19390	81	4268	10844	15193	2541	4627	7168	53750
हरिद्वार	233506	70877	26258	2111	28369	93	733	2442	3268	3932	3252	7184	123808
नैनीताल	411721	300763	8702	2955	11657	1191	16056	26437	43684	986	4318	5304	50313
पौड़ी गढ़वाल	753288	444901	17655	34551	52206	43694	62132	44790	150616	146	18003	18149	87416
पिथौरागढ़	460838	215529	9076	22484	31560	54255	43453	53124	150832	1055	11774	12829	50088
रूद्रप्रयाग*													
टेहरी गढ़वाल	536550	359207	11307	12550	23857	2927	23	74767	77717	58	8616	8674	67095
ऊधमसिंह नगर	291729	103561	24646	1457	26103	26	1190	3524	4740	1830	2772	4602	152723
उत्तरकाशी	817630	726289	6805	19874	26679	13743	7531	8974	30248	43	3819	3862	30552
उत्तरांचल	5595939	3499687	163836	299608	463444	227398	218817	320228	766443	11423	67659	79082	787283

*आँकड़े पितृ जनपद में सम्मिलित

क्रमश ......

जनपद	एक से अधिक बार बोया क्षेत्र	सकल बोया क्षेत्र	शुद्ध सिंचित क्षेत्र	सकल सिंचित क्षेत्र	कुल क्षेत्र से वन क्षेत्र का प्रतिशत	कुल क्षेत्र से शुद्ध बोये क्षेत्र का प्रतिशत	शुद्ध बोया क्षेत्र में से एक से अधिक बार बोये गये क्षेत्र का प्रतिशत	शुद्ध बोया क्षेत्र से शुद्ध सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत	सकल बोया क्षेत्र से सकल सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत	फसल सघनता	उर्वरक (मै0टन)	प्रति हेक्टेयर उर्वरक उपयोग
1	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26
अल्मोड़ा	39935	109925	7414	13894	61.21	14.09	57.06	10.59	12.64	157.06	465	6.64
बागेश्वर	23870	64135	3489	6541	38.24	17.51	59.28	8.67	10.20	159.28	268	6.66
चमोली	22768	66661	2529	4751	63.76	4.97	51.87	5.76	7.13	151.87	263	5.99
चम्पावत	15587	32977	1772	3387	65.18	9.84	89.63	10.19	10.27	189.63	98	5.64
देहरादून	31627	85377	239667	34620	68.50	17.73	58.84	44.59	40.55	158.84	3916	72.86
हरिद्वार	58091	181899	101293	141467	30.35	53.02	46.92	81.81	77.77	146.92	35217	284.45
नैनीताल	34900	85213	30285	42833	73.05	12.22	69.37	60.19	50.27	169.37	18314	364.00
पौड़ी गढ़वाल	48412	135828	7990	15492	59.06	11.60	55.38	9.14	11.41	155.38	219	2.51
पिथौरागढ़	34804	84892	4676	7517	46.77	10.87	69.49	9.34	8.85	169 49	361	7.21
रूद्रप्रयाग*												
टेहरी गढ़वाल	40283	107378	9278	18044	66.95	12.50	60.04	13.83	16.80	160.04	428	6.38
ऊधमसिंह नगर	105140	257863	141839	235104	35.50	53.35	68.84	92.87	91.17	168.84	59896	392.19
उत्तरकाशी	16083	46635	5237	9400	88.83	3.74	52.64	17.14	20.16	152.64	498	16.30
उत्तरांचल	471500	1258783	339769	533050	62.54	14.04	59.89	43.16	42.35	159.89	119943	152.35

*आँकड़े पितृ जनपद में सम्मिलित

स्रोत : अर्थ एवं संख्या निदेशालय, उत्तरांचल की रिपोर्ट, वर्ष 2000–01।

सारणी 6.8
सक्रिय धारकों की भूमि और संख्या का वितरण (1990–91की कृषि जनगणनानुसार)

जनपद	भू धारको की कुल संख्या	धारकों की संख्या के वितरण का प्रतिशत					सक्रिय धारकों द्वारा प्रयुक्त कुल क्षेत्रफल	सक्रिय धारकों में भू क्षेत्रफल के वितरण का प्रतिशत				
		0–1 हेक्टेयर	1–2 हेक्टेयर	2–4 हेक्टेयर	4–10 हेक्टेयर	10+ हेक्टेयर		0–1 हेक्टेयर	1–2 हेक्टेयर	2–4 हेक्टेयर	4–10 हेक्टेयर	10+ हेक्टेयर
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
अल्मोड़ा	127383	79.88	15.14	4.51	0.46	0.01	84001	47.72	30.12	18.23	3.51	0.42
बागेश्वर	51568	83.51	13.17	2.92	0.38	0.01	26381	48.72	35.48	11.94	3 39	0.47
चमोली	52956	69.77	18.84	9.34	1.97	0.08	46218	27.72	30.20	28.16	12.06	1.87
चम्पावत	44881	80.52	13.63	5.09	0.76	0.00	30446	47.19	27.31	16.93	8.50	0.07
देहरादून	69750	76.87	12.64	7.81	2.48	0.19	67496	37.78	21.42	21.99	13.81	5.00
हरिद्वार	98634	61.87	18.88	13.39	5.53	0.33	121922	20.07	21.06	30.16	25.08	3.63
नैनीताल	56218	60.13	18.47	18.59	2.56	0.25	80302	16.96	18.65	35.25	21.86	7.29
पौड़ी गढ़वाल	93672	78.93	10.08	7.25	3.31	0.43	123293	38.97	18.59	20.74	17.32	4.38
पिथौरागढ़	76237	85.37	11.16	2.84	0.62	0.00	35469	49.12	28.95	16.56	5.18	0.19
रूद्रप्रयाग*												
टेहरी गढ़वाल	89706	70.70	20.69	7.61	0.99	0.00	72102	34.22	34 77	24.60	6.41	0.00
ऊधमसिंह नगर	60391	51.08	18.10	15.99	13.17	1.66	113989	12.89	14.15	24.53	32.17	16.26
उत्तरकाशी	34984	64.84	19.43	12.81	2.87	0.05	34310	20.98	27.83	35.30	15.20	0.68
उत्तरांचल	856380	72.67	15.67	8.58	2.83	0.24	835929	30.59	23.45	24.62	16.65	4.69

*आँकड़े पितृ जनपद में सम्मिलित

स्रोत : अर्थ एवं संख्या निदेशालय, उत्तरांचल की रिपोर्ट, वर्ष 2000–01 ।

सारणी : 6.7 जो भू उपयोग से सम्बन्धित है के अवलोकन से ज्ञात होता है कि कृषि के अन्तर्गत 14.07 प्रतिशत भू–भाग है जिसका 43.16 प्रतिशत हिस्सा सिंचित क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। इसमें भी अधिकांश भाग तराई–भावर के अन्तर्गत और कुछ भाग नदी वेदिकाओं में है। कुल कृषि भूमि का 30.59 प्रतिशत एक हेक्टेयर से कम जोत का है जिस पर 72.67 प्रतिशत कृषक कृषि कार्य करते हैं जबकि 21.34 प्रतिशत चार हेक्टेयर से बडी जोत है जो केवल 3.07 प्रतिशत धनाड्य कृषकों के स्वामित्व में है। शेष 48.07 प्रतिशत कृषि भूमि पर 24.25 प्रतिशत लोग कृषि कार्य करते हैं। वर्ष 1991 की कृषि जनगणना के अनुसार 8,56,380 लोग 8,35,929 हेक्टेयर भूमि पर कृषि कार्य करते थे अर्थात प्रति व्यक्ति औसत जोत 0.976 हेक्टेयर है (सारणी : 6.8)।

यहाँ पर बेकार तथा अकृषि भूमि के अन्तर्गत 2,99,608 हेक्टेयर तथा कृषि योग्य बेकार भूमि के अन्तर्गत 3,20,228 हेक्टेयर भू क्षेत्र स्थित है किन्तु सरलतम् वैज्ञानिक शोध के अभाव में इस उपलब्ध क्षेत्र का समुचित उपयोग नहीं किया जा सका है। जबकि, सिंचाई की उचित व्यवस्था होने पर यही क्षेत्र अपनी क्षमतानुसार पैदावार देते। मोटे अनाजों की उपज के साथ हरे भरे चारे एंव ईंधन के पेड़ों का लगातार रोपण किया जाय और एग्रोपास्टोरल विधि से उपजाऊ खेती की जाय तो इस क्षेत्र को भी आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है।[51] उद्यानों के अन्तर्गत 3.85 प्रतिशत क्षेत्र है किन्तु इनका विकास समुचित ढंग से नहीं हुआ है। चारागाह केवल 5.04 प्रतिशत भाग पर है जबकि पशुओं की सं0 48,06,879 है, जो क्षमता से अधिक है। लगभग 11 प्रतिशत भाग अभी भी बेकार भूमि के अन्तर्गत है जिसमें कुछ चट्टानी तथा कुछ वर्फीला क्षेत्र है। इस भूमि के विकास की अपार सम्भावनायें है। इस पर चारें, ईंधन, फल आदि के जंगल विकसित किये जा रहे हैं। यद्यपि क्षेत्र के उपयुक्त भूमि उपयोग हेतु प्रायोगिक शोध की नितान्त आवश्यकता है; प्रयोगशाला से खेत तक एक इकाई के रूप में कार्य होना है।

2. **जल संसाधन**– जल संसाधन उत्तरांचल का दूसरा मुख्य संसाधन है। गंगा, यमुना, टौंस, भागीरथी, भिलंगना, मंदाकिनी, अलकनंदा, पिंडर, सरयू, गौरी, धौली, कुटी, काली आदि नदियां लगभग 4000मी0 की ऊँचाई से हिमनदों में जन्म लेकर एक दूसरे को आत्मसात करते हुये बंगाल की खाडी पहुंच जाती है। अपनी इस यात्रा में ये नदियाँ हजारों मेगावट जल विद्युत उत्पादन की क्षमता रखती है।

उत्तरांचल की इन सदानीरा नदियों में निरन्तर एक वृहद् जलराशि प्रवाहमान हो रही है। उपलब्ध ऑकड़ों के अनुसार यमुना नदी का वार्षिक बहाव 670.9 क्यूबिक मीटर जल प्रति सेंकेण्ड है, जबकि टौंस का 1,861.2, सरयू का 95.21, काली का 180.50, पश्चिमी रामगंगा का 119.10, कोसी का 21.34 और गौला का 42.21 क्यूबिक मीटर प्रति सेकेण्ड है। कुल मिलाकर इस क्षेत्र में 22,575 मिलियन क्यूबिक मीटर जल प्रतिवर्ष बहता है, जिसका 62 प्रतिशत भाग गढ़वाल और 38प्रतिशत भाग कुमाऊँ क्षेत्र में प्रवाहित होता है।[52] कुल वार्षिक वर्षा आकलन की थिसेन पोलिगन

51. पत, डा0 बी0आर0 (1994), पूर्व उद्धत कृति, पृ0 62 ।

52 तदैव।

विधि जिसमें बर्फीले क्षेत्र के 7प्रतिशत भाग को शामिल नहीं किया गया ह के अनुसार अलकनन्दा तथा उसकी सहायक नदियाँ मदाकिनी तथा पिण्डर उत्तरांचल के 26प्रतिशत क्षेत्र को घेरे हुये है तथा वर्ष भर में सर्वाधिक 5,342 मिलियन क्यूबिक मीटर जलराशि (वाल्यूम) प्रदान करती है जो कुल जल प्राप्ति का 23.7प्रतिशत भाग है, जबकि अन्य नदियों में भागीरथी तथा भिलगना की जलराशि 2,533 मिलियन क्यूबिक मीटर, टौंस 4844, यमुना 1651, काली 2,387, प0 रामगगा 972, कोसी 1,870, सरयू 1,350, नयार तथा निचली गंगा 1,626 मिलियन क्यूबिक मीटर जलराशि है।[53] अलबत्ता यह बात अलग है कि अभी तक केवल 43.16प्रतिशत कृषि भूमि की सिचाई तथा 65प्रतिशत जनसंख्या को शुद्ध पेयजल की आपूर्ति हो सकी है शेष आबादी अन्य साधनो से प्राप्त प्रदूषित जल का उपयोग करती है।
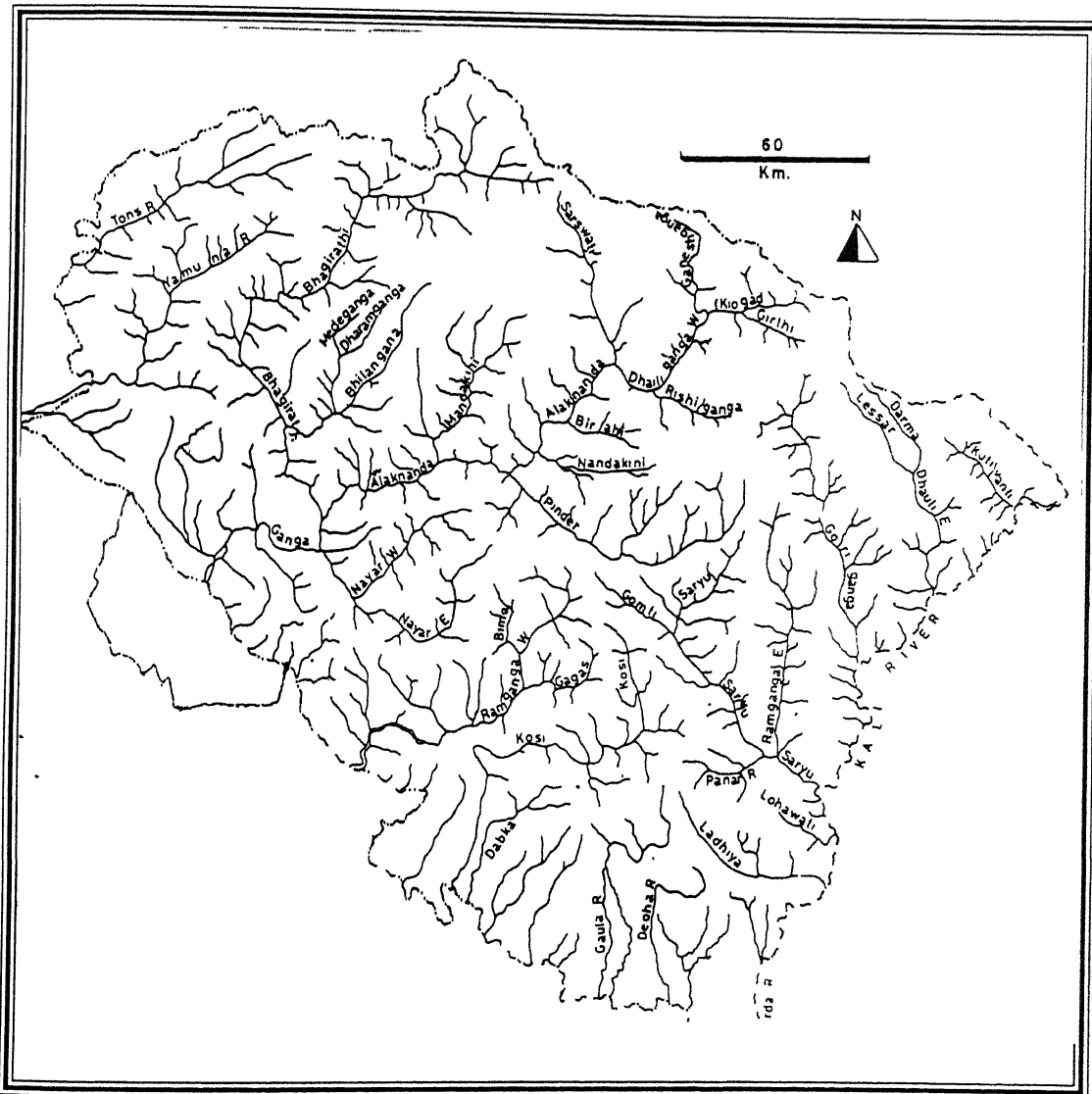
(मानचित्र–6.3 : उत्तरांचल का अपवाह तन्त्र)*
***जनपद हरिद्वार का अपवाह मानचित्र नहीं प्राप्त हो सका**

53. पाठक, एच0जे0 (1983), *"वाटर रिसोर्सेज ऑफ द यू0पी0 हिमालय दियर यूज एण्ड पोट्यन्शियक्स"*, ओ0पी0 सिह (संपा0), *हिमालय : नेचर मैन एण्ड कल्चर*, नई दिल्ली, राजेश पब्लिकेशन्स, पृ0–161–173।

पानी की उपलब्धता के आधार पर यहाँ 9000 मेगावट विद्युत का उत्पादन किया जा सकता है।[54] हिमालय में बिवर्तनिक शक्तियों की सक्रियता के कारण उस संवेदनशील क्षेत्र में बडे बांधों का विरोध जरूर किया जा सकता है।[55] लेकिन 'माइक्रोहाइडिल' परियोजनाओं के माध्यम से बसे लोगो को पानी तथा विद्युत जरूर प्रदान की जा सकती है। इससे स्थानीय लोगों को रोजगार मिलने के साथ खेती के लिये लिफ्ट माध्यम से पानी तथा विद्युत का दूसरे प्रदेशों को विक्रय कर क्षेत्र का विकास हो सकता है।

उत्तरांचल अनेक झीलों के लिये भी प्रसिद्ध है। वृहत् तथा लघु हिमालय में अनेक सरोवर ऐसे है जो वहॉ की आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक स्थिति को बदलने में सहायक हुये हैं। गढ़वाल में ड्योड़ीताल, मासरताल, जरालताल, सहस्रताल, नदीकुण्ड, रूपकुण्ड, गौरी कुण्ड आदि और कुमाऊं में पार्वतीताल, तडागताल, गरूणताल, खुरपाताल, नैनीताल, भीमताल, सातताल, नौकुचियाताल, हरीशताल, लोखामताल, श्यामलाताल आदि प्रमुख है। मानवकृत बांधों के रूप में नानक सागर, बहुगुल, हरीपुरा, बौर, तुमडिया, कालागढ़ आदि प्रमुख है, जिनका जल सिंचाई के लिये उपयोग होता है। अनेक बड़ी परियोजनायें मुख्यतः टिहरी, विष्णुप्रयाग, पंचेश्वर, धौली आदि विवादों के घेरे में हैं।

(3) खनिज सम्पदा

यद्यपि उत्तरांचल में खनिज निक्षेपो की बहुलता नहीं है फिर भी मैग्नेसाइट, टाल्क, चूना पत्थर तथा फास्फोराइट जैसे कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण खनिजों का उत्खनन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[56] मैग्नेसाइट के उच्चकोटि का भण्डार काली नदी की घाटी में फैले 150 कि0मी0 के क्षेत्र में प्राप्त होते है[57] चडक, धारीगांव, बीसाबजेर, दयोपाला, देवलथाल, पंथसेरा, गेंडाली तथा दंडु जैसे पिथौरागढ जनपद के कुछ क्षेत्र मैग्नेसाइट निक्षेपों के लिये प्रसिद्ध है। इसी प्रकार अल्मोड़ा जनपद में पुंगर घाटी, बडनी, झिरौली, देवलधार, बड़ा अगर, घिरीथिना तथा सोमेश्वर के अतिरिक्त गढ़वाल क्षेत्र के बगोली, बंगथाल–कोमोथाल, लाटुधार–लालधारा क्षेत्र मैग्नेसाइट के लिये प्रसिद्ध है। मसूरी अपनति में विगेपित ताल, शैल समूह में देहरादून तथा टिहरी जनपदों में यूरेनिफेरिस फास्फोराइट के महत्वपूपर्ण निक्षेप विद्यमान हैं। देहरादून जनपद के मालदेवता तथा दुरमाला इलाकों में फास्फोराइट का उत्खनन वृहद पैमाने पर चल रहा है। इसके अतिरिक्त देहरादून जनपद मे फास्फोराइट के निक्षेप चिफाल्ड़ी, पारीटिब्बा, माथेड, इयरा, बागासारी, गुत्सी जारवीरवाल तथा मसराना जैसे क्षेत्रों में विद्यमान हैं। फास्फोराइट के कुछ विरल निक्षेप पिथौरागढ़ जनपद में भी पाये जाते हैं। टाल्क, स्टियराइट तथा मैग्नेसाइट निक्षेप पाकेट के रूप में मिलते हैं। अल्मोड़ा जनपद के

54 पाठक, एच0जे0 (1983), 'पूर्व उद्धत कृति,, पृ0–161–173।
55 पाठक, शेखर, गिरिजा पाण्डे तथा बी0आर0पंत (1992), *"गढवाल भूकम्प : ध्वंस के बीच जिन्दगी"*, पहाड़ 5/6, 249–261।
56. सिन्हा, ए0के0 एवं श्रीवास्तव, आर0ए0के0 (1979), *"कुमाऊं की खनिज सम्पदा : उपलब्धियां तथा सम्भावनायें"*, पत, सुरेश संपा0, *उत्तरीय*, नई दिल्ली, कूर्मांचल परिषद, पृ0 10–12 एवं वाल्दिया, के0एस0, (1969), *स्ट्रोमेरोलाइट्स ऑफ दी लेसर हिमालयन कार्बोनेट फारमेशंस एण्ड दी विंध्यन*, जर0जिया0सोसा0इण्डिया, पृ0 479–482।
57. मेहरोत्रा, आर0सी0 एवं जोशी, एम0एन0 (1982), *"एनवायरमेंटल डीग्रेडेशन इन हिमालयन रीजन ड्यू टू एक्सप्ल्योइटेशन ऑफ मिनरल्स"*, नेशनल सेमीनार आन मिनरल्स एण्ड इकालोजी, पृ0 1–10 ।

सारणी : 6.9
उत्तराखण्ड में खनिज भण्डार

खनिज	स्थान / जनपद	मात्रा / खान की स्थिति, किस्म
1. डोलोमाइट	देहरादून व टिहरी–गढवाल	अधिकतम मात्रा, न्यून किस्म, का सिलिका व उच्च किस्म का मैगनीशियम डोलोमाइट।
2. जिप्सम	निहाल नदी घाटी सोहंस धारा (नैनीताल)	30,000 टन, साधारण से उत्तम किस्म।
	सहस्त्रधारा, झड़ीपानी, (देहरादून), धापिला	अअनुमानित ।
3. लाइम स्टोन (चूना पत्थर)	मन्दारसू (देहरादून)	40 मिलियन टन।
	माणीकोट–नीलकंठ (गढवाल)	80 मिलियन टन, अधिक सिलिका, कम कैल्शियम लाइम
	चौपट्टी पर्वत श्रेणी (देहरादून)	12 मिलियन टन, सिमेन्ट ग्रेड ।
	गंगोलीहाट (पिथौरागढ़)	30 मिलियन टन, सिमेण्ट ग्रेड ।
	धरासू (उत्तरकाशी) से दक्षिणपूर्व– धनपुर (चमोली) पट्टी तक	अअनुमानित ।
	चमोली के उत्तर से दक्षिण–पूर्व– अल्मोडा के उत्तर तक पट्टी	अअनुमानित ।
	पिथौरागढ़ में एक पट्टी	अअनुमानित ।
4. मार्बल (संगमरमर)	लम्बीधार (मसूरी)	4 मिलियन टन, सफेद, 98 प्रतिशत $CaCo_3$, केमिकल ग्रेड, खनन कार्य प्रारम्भ।
5. काइनाट	चांदोग (पिथौरागढ़)	अअनुमानित ।
	भटवाड़ी (उत्तरकाशी)	अअनुमानित ।
6. टाल्क (स्ट्रेटाइल) या सोप स्टोन	रामनी (चमोली),	200' x 4' तथा 500' x 5' पट्टी 30–32 प्रतिशत MgO, साधारण किस्म ।
	घोनी (चमोली)	
	बेलाकूची (चमोली)	1.5 मिलियन टन, निम्न श्रेणी की किस्म।
	टेरोसी (चमोली)	30 मिलियन टन, साधारण किस्म
	ह्वीण (चमोली	9.6 मिलियन टन, साधारण किस्म ।
	चन्दोग (पिथौरागढ़)	अच्छी किस्म, अअनुमानित ।
	रेण, आगर, बलवाकोट क्षेत्र (पिथौरागढ़)	अच्छी किस्म, अअनुमानित ।
	लौहारी नदी घाटी, जखेड़ा, के निकट (अल्मोडा)	अच्छी किस्म, अअनुमानित ।
	आगर (अल्मोड़ा)	खनन कार्य हो रहा है।
7. रॉक फॉस्फेट	मसूरी, (टिहरी–गढ़वाल)	12 मिलियन टन,, न्यून से मध्यम ग्रेड (PO-16%)
	सोमेश्वर जजुराली, देवलधार, बागेश्वर, बोरागर, गनाई, रीथल, टछनी (अल्मोड़ा)	3.05 मिलियन टन, (Indian Bureau of Mine के अनुसार)
8. मैगनासाइट	टिरोसी, ह्वीण, पिण्डर, कालीगंगा (चमोली)	अअनुमानित, ग्रेछीला की भाँति किस्म।

स्रोत :– राज्य भूतत्व एवं खनिज निदेशालय– उत्तर प्रदेश की रिपोर्ट तथा डॉ0 बिष्ट, एन0एस0– "Potentialities of Ceramio Resources in Hill Districts of Uttar Pradesh"- Published in Himalokini, The annual magazine of S.R.T. Constituent College, Garhwal University, Tehri; P 25-27.

जखेरा तथा पिथौरागढ़ जनपद के देवलथाल क्षेत्रों में पायें जाने वाला टाल्क तथा स्टियराइट उच्च कोटि के है। गढ़वाल तथा कुमाऊं क्षेत्र मे चूना पत्थर की प्रचुर मात्रा विद्यमान है। करोल शैल समूह के अन्तर्गत पाया जाने वाला चूना पत्थर देहरादून, नैनीताल तथा टिहरी जनपदों में उत्खनित किया जाता है। देहरादून जनपद के कैरकुली–भट्टा, अरनीगाड क्षेत्र से संगमरमर का खनन किया जाता है। डोलोमोइट के निक्षेप प्रमुखतः करोल शैल समूह में पाये जाते हैं तथा इसका वितरण देहरादून, नैनीताल, टिहरी गढवाल, पौडी गढ़वाल तथा पिथौरागढ़ जनपदों में मिलता है। जिप्सम सामान्यतया लेंसाकार रूप में करोल शैल समूह में मिलता है तथा इसका खनन देहरादून जनपद के सहस्त्रधारा तथा चिफाल्डी, टिहरी जनपद के लक्ष्मण झूला, नैनीताल जनपद के खुरपाताल तथा धपिला क्षेत्र में किया जाता है। इसके अतिरिक्त पिथौरागढ़ जनपद के देवलथल, अल्मोड़ा जनपद के सीसाखानी, देवलघाट, बलालदेव, अस्कोट, चाना, गनाई तथा तामाखानी क्षेत्रों में अपधातु के उत्तम भण्डार विद्यमान है। चमोली जनपद के चमेथी–पोखरी–ढुंगी पट्टी में यूरेनियम विद्यमान है। अल्मोड़ा जनपद के कलमटीमा, सीरार तथा बगनीदनी में ग्रेफाइट; चमोली जनपद की मंदाकिनी घाटी में गंधक तथा एस्बेस्ट्स, उत्तरकाशी जनपद की भागीरथी घाटी में कायनाइट; मालदेवता तथा बरमतिया में बैराइट; पौडी में अभ्रक; मुंसांग में टंगस्टन के निक्षेप प्राप्त होते हैं। एंटीमनी, मैग्नेसाइट, हैमेटाइट, प्लेसर सोना तथा ग्लास सैंड भी इस क्षेत्र में प्राप्त होता है।

कृषि व औद्योगिक सम्पदा

उत्तराचंल का 90प्रतिशत भू–भाग हिमालय और शिवालिक का पर्वतीय क्षेत्र है। जबकि देहरादून घाटी, नैनीताल की तराई और पौड़ी का भावर क्षेत्र कृषि की दृष्टि से काफी उपजाऊ हैं। देश के सबसे बडे व आधुनिक कृषि फार्म नैनीताल एवं ऊधमसिंह नगर जिलें में हैं। यहाँ आधुनिक तरीके से खेती होती है। ऊधमसिंह नगर एवं देहरादून में कई चीनी मिलें हैं जो उत्तरांचल की पूरी आवश्यकताओं से कहीं अधिक चीनी का उत्पादन करतीं हैं। देहरादून का बासमती चावल पूरे विश्व में अपनी सुंगन्ध और स्वाद के लिये प्रसिद्ध है। समतल भू–भाग में सभी नकदी फसलें पैदा होतीं है जो पूरे उत्तरांचल की खाद्य आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये यथेष्ट हैं (सारणी–6.10)। मंसूरी, चम्बा, जोशीमठ, शहर फाटक, लम्बगड़ा तथा रानीखेत की फल पट्टियां सेब, अखरोट, खुमानी, चूलु, पुलम, आड़ू, नाशपाती की भरपूर फसल दे रहीं है।

नैनीताल की तराई में ही गोविन्दबल्लभ पन्त कृषि विश्वविद्यालय है जो कृषि, पशुपालन, बागवानी, बीज अन्वेषण एवं उत्पादन में पूरे देश में बेजोड है। रानीपुर में स्थित भेल की इकाई विद्युत जनरेटर बनाने का देश का बड़ा उद्योग है। ऋषिकेश का आई0डी0पी0एल0 का दवा बनाने का कारखाना देश के दवाई उत्पादकों को टेट्रासाइक्लिन पाउडर की आपूर्ति करता है। देहरादून तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग का मुख्यालय है जो पूरे देश में तेलशोधन एवं उत्पादन की प्रमुख संस्था है। पूरे देश के लिये वन अनुसंधान एवं प्रक्षिण संस्थान भी इसी जनपद में है। भारतीय पेट्रोलियम संस्थान के अतिरिक्त पूरे देश के सैनिक अधिकारियों एवं गैर सैनिक अधिकारियों (आई0ए0एस0) के प्रशिक्षण के भी केन्द यहीं है। रक्षा अनुसंधान व उत्पादन की फैक्ट्रिया भी यहाँ मौजूद है। इसके साथ

सारणी : 6.10

उत्तरांचल की प्रमुख फसलों के अन्तर्गत भू क्षेत्र एवं उत्पादन मात्रा

क्र0 स0	फसल/ जनपद	कुल कृषि भूमि का प्रतिशत								कुल उत्पादन								कुल कृषि मूल्य का प्रतिशत							
		उत्तरकाशी	चमोली	गढ़वाल	टेहरी गढवाल	अल्मोडा	पिथौरागढ	नैनीताल	देहरादून	उत्तरकाशी	चमोली	गढवाल	टेहरी गढ़वाल	अल्मोडा	पिथौरागढ	नैनीताल	देहरादून	उत्तरकाशी	चमोली	गढवाल	टेहरी गढवाल	अल्मोडा	पिथौरागढ	नैनीताल	देहरादून
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26
1	चावल	24 67	26 70	20 60	17 03	22 30	27 62	35 05	28 73	13980	19407	27040	17469	42682	6247	326333	23892	26 44	29 25	24 25	19 90	28 27	27 64	38 13	19 00
2	गेहूँ	33.39	31 30	33 57	40 54	37 59	35 04	36 11	31 86	18171	21082	47324	40729	61361	62471	285671	44749	23 98	22 06	29 56	32 27	28 27	27 64	23 44	24 38
3	आलू	3.30	2.22	0.19	1.29	0 64	1.45	0 92	1 46	27257	26725	4914	23828	20990	37656	54184	24202	21 41	17 07	1 83	11 23	5 79	9 94	2 62	7 81
4	सोयाबीन	12.98	10 27	8 61	10 49	7 11	10 53	6 74	4 28	5018	5488	10656	8699	11957	13912	22502	2705	11 25	10 35	13 77	12 57	9 84	11 15	3 75	2 65
5	रागी	18.09	25.30	27.45	21.84	25 72	16 20	1 30	4.23	8688	16844	35235	19630	40577	28375	5614	4254	10 34	16 07	19 93	14 10	16 92	11 40	0 41	2 09
6	रैपसीड़	1.16	0 43	0 28	0.58	0 27	0 11	1 99	1 94	361	198	276	406	329	1169	3039	1201	1 47	0 65	0 54	0 99	0 47	01 70	0 78	2 04
7	ज्वार	1.17	0.44	1 81	1 92	1.28	2.92	2.68	15.18	672	272	2115	1836	2492	4739	9062	16824	0 86	0 28	1 29	1 42	1 12	2 08	0 72	8 95
8	अदरख	0 04	0.00		0 03	0.01	0 02	0 04	0 26	130	27		199	89	154	939	1583	0 78	0.13		0 79	0 20	0 34	0 38	4 31
9	मिर्च	0 28	0.18	0.20	0.18	0.77	0 55	0 16	0.12	96	83	214	138	1312	593	472	76	0 77	0 54	0 83	0 68	4 01	1 61	0 23	0 26
10	तम्बाकू	0.07	0.02	0.03	0 04	0.02	0 07		0 06	85	33	101	96	104	280		151	0 70	0 22	0 39	0 47	0 30	0 77		0 51
11	बाजरा	1.08	2 70	6.21	4 50	3 91	4.96	0 51	3 47	586	2071	7852	4785	6576	10211	2110	4800	0 68	1 95	4 29	3 3	2 66	4 08	0 15	2 21
12	अरहर	0 27	0.13	0.43	0.61					92	64							0.34	0.10	0.80	1.00				
13	लहसुन	0.03	0.03	0.01	0.01	0 03	0 06	0 01	0.03	53	79	90	43	231	362	136	97	0 32	0 25	0 26	0 17	0 40	0 74	0 05	0 20
14	Sergmum	1.57			0.80				1 16	62			71				91	0 31			0 21				0 19
15	प्याज	0.03	0.07	0.17	0.07	0.15	0 20	0 02	0 91	206	647	3393	1058	3878	4054	932		0 22	0 55	1 73	0 68	1 46	1 46	0 06	
16	केला		0.03	0.01		0 01	0 06		6 05		277	190		207	1526				0 27	0 11		0 09	0 62		
17	चना			0 12				0 49				141				1460	802			0 21				0 28	1 11
18	गन्ना							13 69								2507397	306844							29 04	23 93
19	जूट							0 06								1883								0 04	
20	Conande					0.03								30											
21	हल्दी						0.03								36										

नोट— 1. बागेश्वर, चम्पावत, रूद्रप्रयाग और ऊधमसिंह नगर जनपद के आकडे पितृ जनपद मे सम्मिलित

2. जनपद हरिद्वार के ऑकड़े उपलब्ध नहीं हो सकें।

स्रोत :— सेन्टर फॉर मॉनिटरिग इंडियन इकोनॉमी, बम्बई, नवम्बर 1993 की रिपोर्ट।

ही ऐसे इलेक्ट्रानिक्स उद्योग जिसके लिये प्रदूषण रहित क्षेत्र की आवश्यकता होती है यथा—घडिया, लेंस, कैमरा, माइक्रोस्कोप, टेलीस्कोप आदि की स्थापना के लिये यहाँ आदर्श वातावरण उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त पूरे देश के अभिजात शासक वर्ग के बच्चों के लिये शिक्षा के सर्वोत्तम केन्द्र भी यहीं है।

औद्योगिक विकास की दृष्टि से नैनीताल एवं ऊधमसिंह नगर जिले का सर्वाधिक विकास हुआ है। ऊधमसिंह नगर जो उत्तर प्रदेश का कनाडा कहा जाता था में 400 से अधिक लघु उद्योगों की पूरी श्रंखला ही स्थित है। फिर कारखानों की संख्या के हिसाब से देहरादून का नम्बर आता है। इसके बाद अल्मोड़ा, पौढ़ी गढवाल, टिहरी गढ़वाल, पिथौरागढ, चमोली और उत्तरकाशी आते है। नैनीताल, ऊधमसिंह नगर और देहरादून में लगे अधिकांश कारखाने तराई क्षेत्र में स्थित होने के कारण ही क्षेत्रीय असन्तुलन बरकरार है।

आर्थिक नियोजन की समस्यायें एवं विकास का प्रारूप

क्षेत्रीय विषमताओं एवं आर्थिक पिछड़ेपन से निजात पाने की मजबूरी में स्थानीय जनता ने आन्दोलित होकर नये राज्य की मांग उठाई थी। लम्बे समय तक चले जन संघर्षों के फलस्वरूप नवम्बर 2000 में नये राज्य का गठन भी हो गया। राज्य से अपेक्षा थी कि लोगों की रोजमर्रा की तकलीफों का समाधान होगा। वे अपने विकास के अधिकार का स्वयं उपयोग कर पायेंगे। स्थानीय जल, जंगल, जमीन जैसे मूलभूत संसाधनों पर उनका अपना अधिकार होगा। अपने नागरिकों की कार्यकुशलता वृद्धि के लिये राज्य उन आवश्यक सुविधाओं को उपलब्ध कराएगा, जिसमें व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनो के हित समाहित होंगे। लेकिन जन—आकांक्षाओं के इस प्रतिबिम्ब को लेकर उत्तरांचल के जनमानस में राज्य के गठन के समय जो खुशी जाहिर की थी वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकी और विकास, पहचान तथा आत्मनिर्भरता का प्रश्न केवल प्रश्न बनकर रह गया है। ढाँचे का अभाव और दिवालिया विरासत इन दो यथार्थो के कारण उत्तरांचल राज्य गठन के लगभग ढ़ाई वर्ष उपरान्त भी लोग स्वयं को उपेक्षित अनुभव कर रहे हैं और ऐसा कोई भी मूलभूत परिवर्तन नई व्यवस्था ने नहीं दिया है जिनसे जनसशक्तीकरण एवं विकास संबधी उनके मूलाधिकारों को सुनिश्चित किया जा सके। प्रदेश में आज भी देश की संवैधानिक अवज्ञा के अनुरूप नये पंचायतीराज अधिनियम को राज्य की विधायिका से पारित कराकर विधि सम्मत सत्ता का स्थानीय स्तर पर हस्तान्तरण नहीं हुआ है। उत्तरांचल के पहाड़ों का अब तक कोई कायाकल्प नहीं हो सका है।[58] उत्तरांचल के जनप्रतिनिधियों का यह दावा कि उत्तरांचल राज्य अतिशीघ्र विकास की दृष्टि से समृद्ध आत्मनिर्भर, खुशहाल एवं देश का अग्रणी राज्य बन जायेगा और पर्यटन के क्षेत्र में स्वीट्जरलैण्ड से भी अधिक उन्नति कर लेगा, इस दृष्टि से संदेह भरता है कि समृद्धि की घोषणा करने वाले उसके तरीके अभी तक उजागर नहीं किये गये।

यद्यपि नवम्बर 2000 में उत्तरांचल के साथ ही छत्तीसगढ़ और वनांचल राज्य भी अस्तित्व में आये, किन्तु इनमें से उत्तरांचल राज्य की स्थिति सामरिक दृष्टि से पूर्वोत्तर राज्यों के समान ही है। इस नवगठित राज्य की जनसंख्या का एक बड़ा भाग राष्ट्र की सुरक्षा हेतु सेना एवं अर्द्धसैनिक बलों में भर्ती

58. दीक्षित, संजय (नव० 6, 2001), *जागरण उदय,* पृ0 12 ।

है। इस क्षेत्र के निवासियों की पूर्ण राज्य की माग लम्बे समय के बाद पूरी हो सकी है। अब उत्तरांचल सरकार का लक्ष्य इस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप यहाँ का चहुँमुखी विकास सुनिश्चित करना होना चाहिये। लेकिन वर्तमान प्रवृत्तियां इस दिशा में आगे बढ़ती नहीं दिखाई देतीं।

नवगठित राज्य को दाने–पानी के ठिकाने के लिये अभी भी उत्तर प्रदेश की सहानुभूति चाहिये और डेढ़ साल में यह खोज अभी पूरी नहीं हुयी है।[59] मूल रूप से नई अंतरिम सरकार के समक्ष परिसम्पत्तियों का बंटवारा और परिसीमन का कार्य कराने के अलावा रूकी हुयी जल विद्युत परियोजनाओं को शुरू कराना, राज्य की स्थापना सम्बन्धी व्यवस्थायें करना, वित्तीय प्रबन्धन, कृषि एवं ग्रामीण विकास, पर्यटन क्षेत्रों का बहुमुखी विकास, उद्योगों की व्यवस्था करना, दुर्गम भौगोलिक स्थितियों में बसे गाँवों तक का स्वास्थ्य, शिक्षा, पेयजल की व्यवस्था करना था। लेकिन अंतरिम सरकार अधिकतर मोर्चे पर फिसड्डी साबित हुयी है। फिलहाल नवगठित राज्य सिर्फ नीतियों का प्रदेश बनकर रह गया है। क्योंकि इन नीतियों के क्रियान्वयन में धन का अभाव आड़े आ रहा है।

परिसंपत्तियों के बंटवारे का प्रश्न अभी तक उत्तरांचल व उत्तर प्रदेश के बीच हल नहीं हो पाया है। उत्तरांचल बनने से पूर्व उत्तर प्रदेश के सभी 104 विभागाध्यक्ष कार्यालयों के स्टोर्स का मूल्यांकन किया गया था, जिनकी कुल कीमत 22.38 करोड़ आकी गयी थी।[60] उत्तर प्रदेश इस धनराशि को जनसंख्या के अनुपात (1321 : 70) के आधार पर बांटना चाहता है। इस आधार पर उत्तरांचल के हिस्से मे मात्र 1.13 करोड़ रू0 की धनराशि आयेगी। उत्तरांचल में स्थित सात विभागों के स्टोर्स की कीमत 78 लाख रूपये आंकी गयी है, जिसे 1.13 करोड़ में से घटाकर शेष 35 लाख रूपयें की धनराशि उत्तर प्रदेश उत्तरांचल को देना चाहता है।[61] इसी तरह जल विद्युत परियोजनाओं से पैदा होने वाली विद्युत में से 60 प्रतिशत विद्युत उत्तर प्रदेश को देने की मांग की जा रही है। इन तमाम विवादों का निपटारा अभी केन्द्र को करना है। फिलहाल उत्तरांचल के जल विद्युत संसाधन पर उत्तर प्रदेश सरकार का नियन्त्रण रखा गया है। इसके अलावा दोनो राज्यों के मध्य कर्मचारियों के आदान–प्रदान की जटिल समस्या भी बनी हुई है।

वर्तमान में उत्तरांचल के सामने सबसे बड़ी चुनौती विकास की है। शिक्षा, स्वास्थ व पेयजल सरीखी मूल आवश्यकताएं अभी दुर्गम भौगोलिक परिस्थितियों के कारण राज्य की अधिकांश जनता से कोसों दूर है। मूलरूप आवश्यकताओं के लिये जो भी योजनाएं बनाई गयीं हैं उनमें दूरदृष्टि का अभाव है। नये राज्य में उद्योगों की कमी हैं और जो उद्योग यहाँ पर हैं भी उनमें भी बिजली व अन्य सुविधाओं की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। अर्थात् औद्योगिक वातावरण का यहाँ अभाव है। हालांकि यहाँ के जन–प्रतिनिधि यह कहते हुये नहीं थकते कि 'हमारे पास प्राकृतिक संसाधनों–जल, जंगल और जमीन का अपार भण्डार है और इन संसाधनों के बल पर यह अतिशीघ्र समृद्ध तथा विकसित राज्य बन जाएगा, परन्तु अब तक इस बात का खुलासा नहीं किया गया है कि यह किस प्रकार और कैसे हो सकता है। हालांकि सभी प्रमुख नदियां उत्तरांचल से ही निकलती हैं किन्तु

59. तदैव, ।
60. तदैव, पृ0 13 ।
61 तदैव ।

सुसगठित एव व्यवस्थित प्रबन्धन की कमी के कारण ये नदिया स्थानीय लोगो के लिये अनुपयोगी ही बनी हुयी है और सुदूरवर्ती गांवों मे आज भी महिलाओ को 5–10 कि0मी0 पैदल चलकर पानी की व्यवस्था करनी पड़ती है। इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या हो सकता है कि छलछलाती नदियों के बाद भी यहाँ के लोग अपनी प्यास नहीं बुझा पाते हैं ? अतः जब तक लोगो की समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता तब तक उत्तरांचल के आत्मनिर्भर और समृद्ध होने के दावे मात्र कागजी घोडे दौडाने के समान है।

उत्तराचल राज्य आर्थिक रूप से कृषि वन और औद्योगिकी के ऊपर पूरी तरह से निर्भर है। इसकी अर्थव्यवस्था को सुदृढ करने के लिये सरकार विशिष्ट क्षेत्रो का चयन करके वहा आगामी दस वर्षों की अवधि मे कृषि अवस्थापना व अन्य अवयवो मे होने वाले निवेश पर गौर करने के लिये उत्तराचल एग्रोविजन 2010 तैयार करा रही है। राज्य में फलों और सब्जियो के विपणन की समस्या से निपटने के लिये मदर डेयरी फ्रूट एण्ड वेजीटेबिल प्रोजेक्ट के माध्यम से गांव मे बैठे लोगों को बाजार उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जा रही है। लेकिन सरकार कुछ भी कहे मूल समस्या ससाधनो की और स्थानीय आवश्यकताओ के अनुरूप उनके उचित दोहन हेतु तृणमूल स्तर पर अपनी विकास योजनाओं के निर्माण, संचालन एवं मूल्याकन के लिये अधिकारो को सौपने की है। क्योकि विशेषज्ञों द्वारा बन्द कमरो मे निर्मित स्थानीय विकास योजनाओ मे जन सामान्य की भागीदारी सुनिश्चित नहीं हो सकती।

अतएव, विकास के मूलभूत सामाजिक मानकों से वंचित उत्तराखण्ड की जनता की जन–आकांक्षाओं की पूर्ति एवं सुदृढ सामाजिक विकास की नींव सुनिश्चित करने के लिये राज्य मे लोकभागीदारी युक्त विकेन्द्रीकृत विकास प्रक्रिया का शुभारम्भ किये जाने की आवश्यकता है। प्राकृतिक सम्पदा की प्रचुरता के साथ पूर्ण शिक्षित मानवीय संसाधन, आत्म–अनुशासित, कर्मशील एवं शिक्षित महिला श्रम शक्ति और समृद्ध सास्कृतिक एवं सामाजिक विरासत राज्य में जनसहभागी विकास प्रक्रिया को आगे बढाने मे निर्णायक भूमिका अदा कर सकते है। पर्वतीय समाज सामुदायिक जीवन जीने का आदी और अपने प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति सदैव सहिष्णु रहा है। सामाजिक सद्भाव एवं कठिन शारीरिक श्रम स्थानीय समुदाय की मूलभूत प्रकृति रही है। भारत के अन्य राज्यो की तुलना मे यहाँ धनी–निर्धन, बडे भूपति–भूमि विहीन, धार्मिक एवं जातीय ऊँच–नीच जैसी सामाजिक विषमताएं कम है। पारम्परिक ग्राम पंचायतों, वन पंचायतो एव अन्य सामुदायिक समूहों ने विकास कार्यों तथा सामाजिक न्याय सुलभ कराने में ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। नये राज्य मे दूर–दूर तक बिखरे छोटी–छोटी औसत जनसख्या वाले एकीकृत गॉव समूह सवैधानिक अनुज्ञा के अनुरूप त्रिस्तरीय पंचायतीराज व्यवस्था के निर्माण हेतु आदर्श स्वरूप प्रदान करते हैं। ऐसे समरस तथा सुसंगठित ग्रामीण तथा शहरी परिवेश में गठित स्थानीय सरकारों से तुलनात्मक रूप से और अधिक कार्यकुशलता से कार्य करने की अपेक्षा की जा सकती है।[62]

अनुकुल सामाजिक, सांस्कृतिक एव भौगोलिक स्थितियों से लाभ उठाते हुए प्रान्तीय सरकार को वास्तविक सत्ता के हस्तान्तरण से स्थानीय स्वशासी सरकारों का गठन कर विकास प्रक्रिया को

62 भट्ट, के0एन0 (2003), "केरल मे सशक्तिकृत स्थानीय निकाय क्या कुछ सीख सकता है उत्तराखण्ड" अप्रकाशित, गोविन्द बल्लभपन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, झूसी, इलाहाबाद

तृणमूल स्तर से शीघ्रातिशीघ्र प्रारम्भ कर देना चाहिए। लेकिन ऐसा करने से पूर्व राज्य सरकार को वर्तमान व्यवस्था मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने होंगे। राज्य की विधायिका को सर्वप्रथम नया उत्तरांचल राज्य पंचायत अधिनियम पारित करना होगा। इस अधिनियम में प्रान्तीय तथा त्रिस्तरीय उप–प्रान्तीय सरकारों के मध्य समस्त राजनैतिक एवं आर्थिक सत्ता का वैसे ही विधि सम्मत विभाजन करना होगा जैसा सुस्पष्ट विषय विभाजन केन्द्र एवं राज्यों के मध्य है। केरल के पंचायत अधिनियम से नया राज्य सीख लेकर अपनी [illegible] वास्तविकताओं के अनुरूप व्यवस्था अपना सकता है। सत्ता के व्यापक हस्तान्तरण के साथ ही तृणमूल स्तर के नियोजन में प्रत्येक नागरिक की कार्यक्षमता में वृद्धि हेतु एक व्यापक 'लोक नियोजन अभियान' प्रारम्भ करना होगा। योजना निर्माण के प्रत्येक तकनीकी पहलू यथा स्थानीय आवश्यकताओं का ऑकलन, वित्तीय लागत, परियोजना प्रबन्धन, कार्यान्वियन एवं मूल्यांकन जैसी विधाओं में लोगों को सक्षम बनाना होगा। पंचायतीतंत्र की तुलना में ग्राम सभाओं को अधिक व्यापक अधिकारों से शक्ति सम्पन्न कर आम–व्यक्ति के सूचना के अधिकार को सुनिश्चित करना होगा। ये कार्य भी उतने ही महत्वपूर्ण है जितना सत्ता का निचले स्तर पर हस्तान्तरण। तभी प्रत्येक स्थानीय व्यक्ति को अपने विकास का अधिकार प्राप्त हो सकेगा और इसी से वह अपने कर्तव्यों के समुचित निर्वाह में सक्षम हो पायेगा।

निचले स्तर पर राजनीतिक सत्ता की भागीदारी सुनिश्चित करने के साथ ही उत्तरांचल की संसाधनिक क्षमताओं को विकसित और दोहन करने के लिये, तात्कालिक आय की आशा किये बिना योजनाओ पर आवश्यक पूंजी निवेश कर आधारभूत ढाँचे के निर्माण के लिये एक समयवद्ध दीर्घकालिक नियोजन नीति बनाये जाने की आवश्यकता है। तभी एक निश्चित समयावधि के पश्चात् ये संसाधन उत्तरांचल की आय के मजबूत एवं स्थायी आर्थिक स्रोत बन सकेंगे। इसके लिये उत्तरांचल की भूगोलजनित संरचना और उसमें उपलब्ध संसाधनों को दृष्टि में रखते हुये आर्थिक नियोजन की सर्वथा नयी नीति बनानी होगी। इस आर्थिक नियोजन नीति की दिशा क्या होनी चाहिये और उत्तरांचल के विकास का प्रारूप कैसा होना चाहियें इसे संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

1. प्राकृतिक संसाधनों का आधार

(क) जल संसाधनों (बिजली, सिंचाई, पेयजल) का विकास और दोहन

उत्तरांचल के पास जल संसाधन का क्षेत्र सर्वाधिक सम्भावनाशील आधार के रूप में मौजूद हैं। प्राप्त जानकारी के अनुसार लगभग 22,000 मिलियन क्यूबिक मीटर से अधिक जल प्रति वर्ष उत्तरांचल में प्रवाहित होता है।[63] यदि इस संसाधनिक आधार को योजनाबद्ध रूप से विकसित किया जाय तो यह उत्तरांचल का मुख्य आर्थिक स्रोत बन सकता है। विभिन्न अनुमानों के अनुसार यहां कम से कम 10,000 मेगावाट विद्युत उत्पादन की क्षमता पहचानी गयी है जबकि इस समय लगभग 1030 मेगावाट विद्युत का ही उत्पादन हो रहा है जिसमें उत्तरांचल की कुल खपत 450 मेगावाट है।[64] इस प्रकार शेष विद्युत बेंचकर राज्य अच्छी आय प्राप्त कर सकता है।

इसके लिये पारिस्थितिकी तन्त्र पर कोई दुष्प्रभाव न डालने वाली 'रन ऑव द रिवर सिस्टम'

---

63. विस्तार के लिये देखें इसी शोध ग्रन्थ के पृ0 135 पर।
64. सिंह, डॉ0 दिलीप (दिसम्बर 2001), *कुरुक्षेत्र*, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पृ0 14 ।

पर आधारित व छोटी–छोटी पनबिजली योजनाओं की श्रृंखलायें तैयार की जांय और इन्हीं योजनाओं के माध्यम से छोटे–छोटे नदी–नालों मे भी पानी के बहाव को नियन्त्रित किया जाय और लघु सिचाई नहरों का निर्माण किया जाय। साथ ही इन परियोजनाओं से प्राप्त बिजली से ही सिंचाई व पेयजल आपूर्ति के लिये पानी को आवश्यकतानुसार ऊंचे इलाकों में चढाया जाय। यह तरीका बड़ी नदी धाराओं में भी लागू किया जाय तथा एक ही अति विशाल बांध परियोजना के स्थान पर पर्यावरणीय व भूगर्भीय दृष्टि से सुरक्षित, आबादी रहित और कृषि भूमि रहित क्षेत्रों में छोटे–छोटे बांधों की श्रृंखला तैयार कर जल नियोजन किया जाय तथा इन श्रृंखलाओं से ही आवश्यकतानुसार पानी मुक्त कर सिंचाई के लिये मैदानी क्षेत्रों को जलापूर्ति की जाय। लघु पनबिजली परियोजना क्षेत्र की ऊर्जा आपूर्ति के पश्चात् शेष बिजली के उपयोग एवं पुनर्वितरण के लिये राज्य ग्रिड का निर्माण किया जाय तथा राज्य ग्रिड से अधिक ऊर्जा आवश्यकता वाले क्षेत्र जैसे मध्यम एवं बड़े उद्योगों और उन क्षेत्रों, जिनमें पनबिजली परियोजनायें न पड़े, को बिजली आपूर्ति करनी होगी। इसके बाद ही शेष बिजली को अन्य ग्रिडों को निर्यात किया जाये। इस तरह जहाँ एक ओर क्षेत्र के सभी गांवों को पेयजल सुविधा दे पायेंगे और कृषि भूमि को सिंचित कर पायेंगे वहीं देश के लिये भी ऊर्जा आपूर्ति की जा सकेगी।

इस क्षेत्र से उत्तरांचल में रोजगार सृजन की सबसे अधिक सम्भावनायें हैं और इस संसाधन का विकास क्षेत्र की कम से कम 8 से 10 प्रतिशत जनसंख्या को सीधे–सीधे रोजगार उपलब्ध कराने में सक्षम होगा। उत्तरांचल के जल संसाधनों का दोहन संक्षेप में, निम्न रूपों में किया जा सकता है :–

(i) बड़ी, मध्यम, लघु तथा सूक्ष्म पनबिजली परियोजनायें बनाकर ;
(ii) प्रमुख नदियों के उद्‌गम पर मिनरल वाटर प्लांटों की स्थापना ;
(iii) ठण्डे पानी की मछलियों के पालन की व्यापक कार्ययोजना बनाकर। इसके लिये यूरोपीय देशों से मत्स्य बीज आयात किया जाना चाहिये।
(iv) जल पर्यटन का विकास (पर्यटन के अन्तर्गत अलग से)

उत्तरांचल के जल संसाधनों पर आधारित योजनाओं से प्राप्त होने वाली कुल वार्षिक आय का अनुमान लगा पाना भी कठिन है परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जल संसाधनों से उत्तरांचल को सर्वाधिक आय प्राप्त होगी।

(ख) वन संसाधनों का दोहन और विकास

वन हिमालयी समाज के आंचलिक, सांस्कृतिक व आर्थिक जीवन का हिस्सा रहे हैं, इसलिये वनों की स्थिति में क्रान्तिकारी सुधार नितान्त जरूरी है। साथ ही वन नीति और वन नियन्त्रण में व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता है। यह कार्य वन पंचायतों को और अधिक लोकतान्त्रिक, अधिकार सम्पन्न बनाने और वनों के विकास के प्रति जनता को और अधिक प्रतिबद्ध करने से सम्भव होगा। इसके साथ ही यह सुनिश्चित किया जाना चाहिये कि भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार वैज्ञानिक वन तकनीक का विकास किया जाय। साथ ही विरल वनों को सघन बनाये जाने हेतु सघनीकरण कार्यक्रमों में जनता की भागीदारी बढ़ाते हुये जनांदोलन के रूप में विकसित किया जाय। पारिस्थितिकीय संरचना के अनुसार वृक्ष प्रजातियों का निर्धारण किया जाना चाहिये। जहाँ एक ओर बांज, बुरांस, काफल, देवदार, रीठा, बांस, अखरोट, दालचीनी, शीशम, खैर, साल, तुन, उतीस, विलो आदि को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये, वहीं दूसरी ओर यूकेलिप्टस, चीड़ और पॉपुलर जैसी

प्रजातियों को हतोत्साहित किया जाना चाहियें। इसके साथ ही यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहियें कि हिमालयी वनों के साथ जुड़ी बहुमूल्य जड़ी–बूटियों के संरक्षण, वैज्ञानिक दोहन और इन्हीं वनों से पुन: उत्पादन पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ने पाये।

उत्तराचल में इस समय 35,01,285 हेक्टेयर वन क्षेत्र है जो उत्तराचल की आय का मुख्य स्रोत भी है। परन्तु वन सम्पदा पर पर्याप्त पूंजी निवेश की आवश्यकता है। यह नये इमारती लकड़ी के वन लगाने के साथ ही जड़ी–बूटियों के योजनाबद्ध उत्पादन कार्य पर लगाने के लिये अपेक्षित है। यदि उत्तरांचल में वन–व्यवसाय को उद्योग की तर्ज पर विकसित किया जाय तो उत्तरांचल मे वनों से पूर्ण व्यवसाय रोजगार सृजन की सम्भावना है। वनों पर आधारित यह उद्योग निम्न दो रूपो में विकसित किया जाना चाहिये :

(i) बडे स्तर के उद्योग जो सीधे–सीधे वन संसाधनों के आधार पर चल सकते हैं यथा– कागज व लुग्दी उद्योग, लीसा पर आधारित उद्योग, लकड़ी पर आधारित उद्योग, खेल सामाग्री बनाने का उद्योग, जडी–बूटी आधारित औषधि निर्माण उद्योग, धूपबत्ती–अगरबत्ती उद्योग, दियासलाई उद्योग। या

(ii) फिर ग्राम स्तर पर जिनमें वनोत्पादन यथा–जड़ी बूटियों का संग्रहण, जिसे बड़े उद्योगों के लिये कच्चे माल के संग्रहण के रूप में स्थापित और संचालित किया जाये। इसके अन्तर्गत बांस, रियाल व बेत पर आधारित चटाई, टोकरी एवं हस्तशिल्प आधारित अन्य उपयोगी वस्तुयें बनाने का उद्योग विकसित किया जाना चाहिये।

इन्हें यदि ऊपर दिये गये सुझावों के अनुरूप विकसित किया जाय तथा व्यावसायिक प्रजातियों की सघनता बढ़ाने के साथ वन उत्पादों के व्यवसाय को माफिया तन्त्र व भ्रष्ट नौकरशाहों के चंगुल से मुक्त करा वनों पर आधारित उद्योग पर्वतों में ही स्थापित किये जांय तो क्षेत्र की गरीबी–बेकारी को दूर कर इस क्षेत्र को समृद्ध व सम्पन्न बनाया जा सकता है।

(ग) सौर तथा पवन ऊर्जा की उपलब्धता का दोहन

उत्तरांचल में पवन तथा सौर ऊर्जा की उपलब्धता को लेकर यदि एक व्यापक कार्ययोजना बनायी जाय और इन दोनों प्राकृतिक उपलब्धताओं को वैज्ञानिक रीति से दोहन किया जाय तो इन दोनों संसाधनों से उत्तरांचल को इतनी विद्युत आपूर्ति हो सकती है कि इससे सम्पूर्ण उत्तरांचल को रोशनी पहुंचायी जा सकती है तथा जल संसाधनों से उत्पन्न विद्युत ऊर्जा को बेचा जा सकता है। इस प्रकार इसे आय के अतिरिक्त स्रोत के रूप में विकसित किया जा सकता है। लेकिन इस पर भी पर्याप्त पूंजी निवेश की आवश्यकता होगी।

2. भौगोलिक संरचना का आधार (पर्यटन का विकास)

उत्तरांचल में जल संसाधन के बाद पर्यटन महत्वपूर्ण दूसरा आधार बन सकता है। अत: पर्यटन के लिये व्यापक नीति बनाकर साथ ही पर्यटन का आधारभूत ढांचा विकसित कर इसे आय का एक मजबूत और नियमित स्रोत बनाया जा सकता है। पर्यटन क्षेत्र में जल संसाधन से अधिक रोजगार सृजन के साथ ही उस पर आधारित रोजगार के क्षेत्रों के विकसित करने की व्यापक सम्भावनायें हैं। इसके लिये उत्तरांचल में पर्यटन परिवहन निगम को स्थापित किये जाने और उत्तरांचल में वादुदूत सेवा का एक नेटवर्क स्थापित किये जाने की जरूरत भी है। उत्तरांचल में पर्यटन को निम्न दो भागों में विभाजित कर विकसित करना होगा–

(क) घुमक्कड़ी, मनोरंजन तथा साहसी पर्यटन रूपों का विकास जिसमें पर्वतारोहण, ट्रेकिंग, रॉक, क्लाइम्बिंग, स्कीइंग, समर स्कीइंग, रिवर राफ्टिंग आदि है, की जितनी सम्भावनायें उत्तरांचल में है,

शायद ही देश के किसी अन्य भाग में हों। गंगोत्तरी घाटी में रॉक क्लाइबिंग, पिथौरागढ़ में ट्रैकिंग, नैनीताल, कौसानी, रानीखेत, शीतलाखेत, मंसूरी, पौड़ी में घुमक्कड़ी एवं आरामतलबी का पर्यटन और औली, दयारा, आली वैदनी में विंटर स्कीइंग की जबरदस्त सम्भावनायें है। औली में आई.टी.बी.पी. के प्रयास से विंटर स्कीइंग की जो शुरूआत हुयी वह धीरे–धीरे फलने फूलने लगी है। जिसकी शुरूआत अन्य जगहों पर भी हो सकती है। औली में स्कीइंग शुरू करने के लिये 'इन्नर लाइन' को आगे खिसकाना पड़ा था। हरकीदून और बंदरपुंछ में समर स्कीइंग के लिये भी ऐसा ही करना पड़ेगा। प्रसिद्ध स्कीइंग विशेषज्ञ जी0टी0 गिब्सन का कहना है कि समर स्कीइंग के लिये इससे बढिया जगह दुनिया भर में नहीं है। गढ़वाल और कुमाऊं मण्डल दोनो की ही प्राकृतिक सुषमा का कोई जवाब नहीं है।[65]

(ख) धार्मिक पर्यटन को आय के महत्वपूर्ण साधन के रूप में विकसित करने के लिये अलग योजना बनाना अपेक्षित है। क्योंकि बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री, जैसे पवित्र स्थल जहॉ प्रतिवर्ष लाखों तीर्थयात्री आते हैं का प्रबन्ध तन्त्र बहुत ही निराशाजनक है। इसके लिये वैष्णों देवी में तीर्थयात्रा के प्रबन्धन और पर्यटकों को मिलने वालीं सुविधाओं को माडल बनाकर सुख–सुविधायें विकसित की जानी चाहियें। उत्तरांचल में कम से कम 50 महत्वपूर्ण धार्मिक तीर्थस्थल है जिनको विकसित कर अकेले इससे ही 50 करोड़ से ऊपर की वार्षिक आय प्राप्त की जा सकती है।

इसके लिये सड़कों में सुधार और रख–रखाव तथा रज्जु मार्गों का निर्माण किया जाना और पर्यटकों को उचित सुविधायें उपलब्ध कराना आवश्यक है। इसके अलावा उत्तरांचल में बहुआयामी पर्यटन विकसित करने के लिये पदयात्रा–ट्रैकिंग को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

पदयात्रा ट्रैकिंग

जब से तीर्थ यात्रा पैदल के स्थान पर बसों, टैक्सियों या कारों से होने लगी है तब से यात्री दो तीन दिन में ब्रदीनाथ के दर्शन कर लौट जाता है। पहले यात्री पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से पैदल चलते थे। मार्ग में पड़ने वाले सभी स्थलों के लोग लाभान्वित होते थे। एक मास का समय लगता था। यात्री को भी प्राकृतिक सौन्दर्य का अधिक आनन्द प्राप्त होता था। वह पर्वतीय क्षेत्र में अधिक धनराशि व्यय करता था। पदयात्रा के पर्यटन और तीर्थयात्रा को प्रोत्साहित किया जाय तो इसका प्रारम्भ फिर से हो सकता है। विशेषकर 1500मीटर से अधिक ऊंचाई के क्षेत्रों में युवा वर्ग ऐसी ही पदयात्रा ट्रैकिंग का आनन्द लेना चाहेगा, बशर्तें मार्ग में उन्हें ठहरने की सभी सुविधायें उपलब्ध हों। ऐसी पदयात्रा प्रोत्साहित होने से स्थानीय लोगों का व्यापार प्रगति करेगा। वे नये प्रकार के होटल उद्योग प्रारम्भ करने के लिये प्रोत्साहित होगें। पैदल मार्ग द्वारा यमुनोत्तरी से गंगोत्तरी, गंगोत्तरी से बूढ़ा केदार–त्रियुगी नारायण होते हुयें बद्रीनाथ और कैलाश मानसरोवर की पदयात्रा को फिर से विकसित किया जाना चाहिये। इन मार्गों से जाने से 3,000 से 4,000 मीटर की ऊंचाई पर स्थित मनोहारी दृश्यों से भरपूर बुग्यालों–अल्पाइन पाश्चर से होकर जाने का सौभाग्य यात्री को प्राप्त होगा, और वह अत्यन्त रमणीक प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन कर सकेगा। साथ ही उसे साहसिक अभियान का भी अनुपम आनन्द प्राप्त होगा। इन पैदल मार्गों पर मार्गदर्शित (कंडक्टेड एण्ड गाइडेड) यात्रा की भी व्यवस्था की जा सकती है।

इसके लिये पदयात्रा मार्गों, ट्रैकिंग के रख–रखाव के लिये अच्छी व्यवस्था करनी होगी तथा प्रत्येक दस कि0मी0 की दूरी पर ठहरने की अच्छी व्यवस्था भी करनी होगी। इन कार्यो में शासन को बहुत कम पूंजी लगाकर इस क्षेत्र की आर्थिक प्रगति करने में सफलता मिल सकती है। उत्तरांचल

65. धस्माना, राजेन्द्र (1994), *"पृथक राज्य : हर समस्या का हल, हर सवाल का जवाब"*, नौटियाल, सुरेश संपा0, पूर्व उद्धत कृति, पृ0 88 ।

में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक महत्व के असंख्य स्थल उपेक्षित पड़े हैं, उनका भी जीर्णोद्धार हो जायेगा। लेकिन इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिये कि धार्मिक महत्व के स्थानों को धार्मिकता की भावना के अन्तर्गत ही विकसित किया जाना चाहिये जिससे इन धार्मिक स्थानों को विकसित करते समय उनका धार्मिक महत्व और प्राचीन संस्कृति नष्ट न हों।

उत्तरांचल में पर्यटन के विकास के लिये इन दिशा निर्देशों को ध्यान में रखना जरूरी है :

1. पुरातात्वीय महत्व के स्थानों तथा तीर्थ स्थानों की यात्रा के लिये सम्पूर्ण सुविधाओं का विकास।
2. हिमालय के एक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र से मिलाने वाली यात्रा सुविधाओं की व्यवस्था।
3. ग्लेशियरों की यात्रा करने की सुविधायें।
4. देशी पर्यटकों के लिये यात्री निवासों, होटलों आदि की सस्ती व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटकों के लिये ठहरने के उपयुक्त स्थानों की श्रृंखला का विकास ।

3. परिवहन

उत्तरांचल में परिवहन और यातायात का मौजूदा स्वरूप कई प्रकार की असुविधाओं, आर्थिक दबाव, मंहगाई का कारक बन कर रह गया है। साथ ही भरपूर उद्योग की सम्भावना रखने वाले पर्यटन के विकास में भी बाधक है। इसलिये प्राथमिक रूप से उत्तरांचल की परिवहन और यातायात व्यवस्था को सरल व सुसंगठित स्वरूप प्रदान करने के लिये शत–प्रतिशत सम्भावित क्षेत्रों : टनकपुर–घाट–बागेश्वर, देहरादून–मालखेत (सुरकुंडा सुरंग)– उत्तरकाशी, ऋषिकेश–कर्ण प्रयाग–चमौली तथा रामनगर–भतरौंजरवान–भिकियासैन–चौखुटिया रेल मार्ग का निर्माण करना होगा। रेल मंत्रालय इसके सर्वेक्षण के लिये तैयार था किन्तु तब उत्तर प्रदेश सरकार सम्भाव्यता–सर्वेक्षण का व्यय भार उठाने के लिये तैयार नही हुयी, जो अब किया जाना चाहिये। रेल यातायात के विकास के कारण पर्वतीय परिस्थितियों के अनुरूप औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलेगा तथा पर्यटन को भी बढ़ावा मिलेगा। पर्वतीय क्षेत्र में जलशक्ति प्रचुरमात्रा में है अतः पर्वतीय रेल जल विद्युत से चलायी जा सकती है जिससे तेल और कोयले की भी बचत होगी। इसी प्रकार 'रोपवे' के विकास से दूरियों को कम किया जा सकता है तथा यात्रा को भी आकर्षक बनाया जा सकता है। इसके अलावा वर्तमान सड़क परिवहन पर हावी अनावश्यक प्रशासनिक दबावों और व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर करना होगा.।

4. प्रकृति आधारित विकास का प्रारूप

उत्तरांचल के समग्र और त्वरित आर्थिक विकास का लक्ष्य वहां की प्रकृति को आधार बनाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इस पर सबसे कम पूंजी निवेश होगा साथ ही सबसे अधिकतम् मानव शक्ति को इसमें भागीदार बनाया जा सकेगा और यह उत्तरांचल में रोजगार सृजन तथा पूरे क्षेत्र की आर्थिक और सामाजिक सुदृढ़ता का सबसे अच्छा और सरल कार्यक्रम होगा। भौगोलिक संरचना के कारण उत्तरांचल की प्रकृति बहुआयामी है और वहां विकास की प्राथमिकतायें और सम्भावनायें सर्वथा भिन्न है। अतः उत्तरांचल के विकास का स्वरूप निम्न प्रकार प्रस्तावित है–

(क) सघन कृषि अभियान

वर्तमान अवैज्ञानिक, अनार्थिक, कृषि का रूपान्तरण किया जाना आवश्यक है। मौजूदा भूमि सम्बन्धों में असन्तुलन को ठीक करना होगा, जिसके अन्तर्गत 70प्रतिशत छोटे कृषकों के पास 25 प्रतिशत तथा 3 प्रतिशत बड़े कृषकों के पास 25 प्रतिशत भूमि है। 2,99,608 हेक्टेयर

ऊसर तथा 79,082 हेक्टेयर परती भूमि को कृषि योग्य बनाना होगा। आधारभूत सुविधायें जुटाने के साथ इस भूमि को भूमिहीनों, बेरोजगारों व स्वय काम करने के इच्छुक लोगों में वितरित किया किया जाना चाहिये।

खेती के परम्परागत अवैज्ञानिक तौर–तरीकों को आधुनिक वैज्ञानिक तकनीक में रूपान्तरित करने की अत्यधिक आवश्यकता है। खेती के लिये प्रचलित कम उत्पादन देने वाली प्रजातियों के स्थान पर यहां की विशिष्ट पर्यावरणीय स्थितियों के अनुकूल अधिक उत्पादन देने वाली प्रजातियो का विकास करना होगा। अधिक उत्पादन देने वाली व लाभकारी फसलों, जैसे–राजमा, सोयाबीन, हल्दी, अदरक, आलू, तम्बाकू, चाय, मसाला प्रजातियों, जड़ी–बूटी आदि की खेती और बागवानी को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। इसके लिये व्यापक वैज्ञानिक सर्वेक्षण कर खाद्यान्न कृषि क्षेत्र, जड़ी–बूटी कृषि क्षेत्र, आलू मसाले आदि की खेती तथा सेब, संतरा, माल्टा व दूसरे पहाड़ी फलों और चाय की बागवानी के लिये क्षेत्रों की पहचान की जाय। मसलन, गरूड़ घाटी और पुरौला से नौगाव के बीच की कमल नदी की घाटी अन्नपूर्णा घाटियां हैं। यहां पर और तराई बेल्ट या संधि क्षेत्र, जो देश के उपजाऊ क्षेत्रों में से एक है, में सिंचाई के आवश्यक साधन विकसित कर इसे जापानी पद्धति पर सघन कृषि आन्दोलन क्षेत्र के रूप में विकसित किया जाय तो इस क्षेत्र में न केवल उत्तरांचल राज्य के लिये अपितु अन्य क्षेत्रों में अनाज बेंचने के लिये भी उत्पादन होगा। इसके अलावा हिमालय के सामने पड़ने वाली चार हजार फुट ऊंची पहाड़ियों में, जहाँ आद्रता न हो लेकिन आस–पास बारहमासा पानी के स्रोत हों, बढ़िया किस्म की चाय उगाई जा सकती है। अर्न्तराष्ट्रीय बाजारों में इस चाय की कीमत सात–आठ हजार रूपये प्रति किलो है और पिछले कुछ वर्षों से यह चाय कनाडा और जापान ने भारत से खरीदी हैं। इसके लिये इन क्षेत्रों के कृषकों को सम्बन्धित फसलों को आधुनिक तरीके से उगाने की तकनीक का प्रशिक्षण व दूसरी सुविधायें उपलब्ध की जानीं चाहिये।

(ख) बागवानी एवं नकदी फसलों की बेल्टों का विकास

उत्तरांचल की पर्वतीय कृषि भूमि की ऊपरी परत हर वर्षा ऋतु में बहकर चली जाती है। इसलिये पर्वतीय क्षेत्रों में पारम्परिक कृषि कार्य भूमि के लिये तो हानिकारक है ही, किसानों को भी कम आर्थिक लाभ देती है। यदि आँकलन किया जाय तो उत्तरांचल का कृषक जितना श्रम करता है उस अनुपात में उसे फल प्राप्त नहीं होता। इसलिये पर्वतीय क्षेत्रों में जहां सघन कृषि आन्दोलन नहीं चलाया जा सकता वहां नकदी फसलें, फलों एवं तिलहन बेल्टों का विकास कर 'कैश क्राप्स कृषि अभियान' आरम्भ किया जा सकता है और इनमें नकदी फसलों जैसे–सोयाबीन, सूरजमुखी, तम्बाकू, पपीता आदि उगाये जा सकते हैं। यहां की भू स्थिति को देखते हुये यहां पारम्परिक कृषि को हतोत्साहित किया जाना चाहिये और फलोद्यान पट्टियां स्थापित और विकसित की जानी चाहिये तथा प्रारम्भिक पांच वर्षों में कम से कम 1,000 फल पट्टी क्षेत्र स्थापित करने का लक्ष्य रखा जाना चाहिये। 'कैश क्राप्स' तथा फलों का उत्पादन पारम्परिक कृषि के मुकाबले 5 गुना से भी अधिक लाभकारी है। इसके लिये उत्तरांचल के बाहर से बागवानी विशेषज्ञों को आमंत्रित किया जाना चाहिये क्योंकि उत्तरांचल के उद्यान विभाग का ज्ञान, तकनीक तथा उपलब्ध पौध घटिया है। इससे आरम्भिक पांच–सात वर्षो में ही आय प्राप्त की जा सकती है तथा भविष्य में जनता आर्थिक रूप से समृद्ध हो सकती है। इससे भी उत्तरांचल की सकल आय में वृद्धि होगी।

(ग) ग्राम केन्द्रित आर्थिक कार्यक्रम

उत्तरांचल के समग्र विकास, जिसके केन्द्र में गांव हो, के लक्ष्य को पाने के लिये एक स्वतन्त्र तथा पूर्ण ग्राम केन्द्रित आर्थिक कार्यक्रम बनाये जाने की आवश्यकता है। ग्राम केन्द्रित आर्थिक कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के संसाधनों का अधिकतम् दोहन और उपयोग करना है। इसके केन्द्र में गाव की पहली इकाई अर्थात व्यक्ति होगा अर्थात गांव के व्यक्ति को गांव में ही रोजगार उपलब्ध कराना ग्राम केन्द्रित कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य है। ग्राम केन्द्रित कार्यक्रम का लक्ष्य गांव को एक आत्मनिर्भर इकाई बनाना है। ग्राम्य–विकास के एक सुनिश्चित कार्यक्रम के साथ–साथ गांव में कच्चे माल के उत्पादन तथा संग्रहण केन्द्र भी विकसित करने होगें जो अपना उत्पादन विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों में स्थित निर्माण इकाइयों को भेजेंगे। ग्राम केन्द्रित आर्थिक कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यो को एक ढ़ाँचे के अन्तर्गत लाकर विकसित किया जाना चाहिये : (1) पशुपालन, (2) मशरूम उत्पादन, (3) लुग्दी निर्माण, (4) बकरी एवं भेड़ पालन, (5) रेशम टसर और मधुमक्खी पालन[66], (6) लघु मत्स्य पालन परियोजनायें (नदी स्थित ग्राम क्षेत्रों में) (7) कुक्कुट पालन, (8) ग्राम नियन्त्रित फलोद्यान, (9) स्थानीय कच्चे माल का संग्रहण कार्य एवं (10) फल उत्पादन क्षेत्रों के निकट जूस, जैम, अचार बनाने के कुटीर उद्योग इत्यादि।

5. औद्योगिक विकास का प्रारूप

उत्तरांचल क्षेत्र में उद्योगों का समुचित विकास नहीं हुआ है। ऐसी मान्यता है कि यहां का पर्यावरण औद्योगिक विकास के लिये अनुकूल नहीं है। किन्तु यदि हम ऐसे ही पर्यावरण वाले स्विट्जरलैण्ड जैसे औद्योगिक दृष्टि से अत्यधिक विकसित देश का अनुकरण करें तो उत्तरांचल का औद्योगिक विकास भी उसी स्तर का किया जा सकता है। इसके लिये किसी क्षेत्र विशेष के निषेध का प्रश्न खड़ा न किया जाकर संसाधनों की स्थानिक उपलब्धता को महत्व देना होगा। उत्तरांचल में उद्योगों का विकास निम्न तीन दृष्टियों के आधार पर किया जाना चाहिये।

(क) उत्तरांचल में जो खनिज तथा अन्य संसाधन उपलब्ध है उन पर आधारित उद्योग श्रृंखला की यहां स्थापना की जा सकती है यथा–कागज उद्योग, टरपेंटाइन उद्योग, औषधि उद्योग, प्लाईवुड उद्योग, फल कैनिंग उद्योग, सीमेन्ट उद्योग तथा इनके अलावा यहाँ के संसाधनों पर आधारित व्यापक उद्योग श्रृखला जिसे व्यापक रूप से चिन्हित करने की आवश्यकता है।

(ख) उत्तराचल की जलवायु और पर्यावरण परिस्थितियाँ कुछ उद्योगों के बहुत ही अनुकूल है। ऐसे उद्योग प्राइवेट तथा पब्लिक दोनो ही सेक्टरों में लगाये जाने चाहियें। इनमें लेंस उद्योग, घडी उद्योग, रत्न कटिंग एवं घिसाई उद्योग तथा इलेक्ट्रानिक उद्योग के अलावा जलवायु और पर्यावरण के अनुकूल अन्य उद्योगों की श्रृंखला जिसे व्यापक रूप से चिन्हित करने की जरूरत है।

(ग) तराई क्षेत्र का विकास उत्तरांचल के औद्योगिक बेल्ट के रूप में किया जाना चाहिये और वहां नोएडा की तर्ज पर भारी उद्योग लगाये जाने चाहिये। इन उद्योगों में–

(i) ऐसे समस्त उद्योग जो उत्तरांचल के संसाधनों पर आधारित हों,

(ii) ऐसे उद्योगों, जो उत्तरांचल के संसाधनों में प्रयुक्त की जाने वाली पूरक मशीनरी के निर्माण के लिये आवश्यक है, जैसे–पवन चक्की निर्माण, पावर हाउस संयन्त्रों का निर्माण, पर्यटन से

---

66. चीड़ के वनों के स्थान पर मिश्रित बांज वन लगाने से टसर कीट पालन व मधुमक्खी पालन आम आदमी का रोजगार बन सकता है। इसके लिये समुचित प्रशिक्षण व्यवस्था और वनों पर जनता के अधिकारों की गारन्टी करनी होगी साथ ही उत्पादित कच्चे माल की क्रय व्यवस्था पर आधारित उद्योगों की स्थापना सुनिश्चित की जानी चाहियें।

सम्बन्धित नावों तथा अन्य सामग्री का निर्माण, फल पैकिंग पेटियों का निर्माण आदि जिन्हें व्यापक रूप से चिन्हित किये जाने की जरूरत है।

इसके साथ ही उत्तरांचल की इस प्रस्तावित औद्योगिक बेल्ट में दस वर्षो में कम से कम 2000 मध्यम तथा वृहत् औद्योगिक इकाइयां स्थापित कराने के लिये आवश्यक आधारभूत ढांचे का निर्माण तथा सुविधाओं को उपलब्ध कराने का लक्ष्य घोषित किया जाना चाहियें।

अन्ततः नवगठित उत्तरांचल को कुशल प्रशासक और अनुभवी एवं ईमानदार नेतृत्व की आवश्यकता है। ऐसा नेतृत्व जो उत्तरांचल के सामाजिक–सांस्कृतिक संसाधनों के समुचित उपयोग, सांस्कृतिक नीति, शिक्षा, बेरोजगारी की समाप्ति, पलायन पर रोक, सामुदायिकता की भावना को मजबूत करने, राज्य सरकार की कुशलता बढ़ाने, नौकरशाही को संवेदनशील बनाने और सार्वजनिक धन के सही उपयोग, समयबद्ध, सक्षम और कार्यक्रमों को कड़ाई से लागू करने की रणनीति तथा भ्रष्टाचार पर रोक लगाते हुये जन–प्रतिनिधियों की परिसम्पत्तियों का ब्योरा स्पष्ट करवायें। इसके साथ ही, ऐसी योजनाओं का निर्माण किया जाय कि पर्यावरण और विकास समान रूप से चलते रहें और पर्यावरण संरक्षण के लिये जन जागृति लाई जा सके। परम्परागत कृषि व्यवस्था को नई तकनीक से जोडा जाय। नकदी फसलों को प्रोत्साहित किया जाय। जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण लगाया जाय। पलायन की समस्या को रोकने के लिये रोजगार के साधन यहीं पर उपलब्ध करवायें जायें। वस्तुतः आम आदमी तक विकास की किरण पहुंच सके इसकी समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये, तभी सामरिक और सीमान्त राज्य उत्तरांचल विकास की मुख्यधारा से जुडकर जनता के सपनों का राज्य बन पायेंगा। हमारे नीति–निर्माताओं व प्रशासकों को यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि इस क्षेत्र के पिछडेपन, अल्प विकास व सुविधाओं की कमी का परिणाम 1962 के भारत–चीन युद्ध में राष्ट्र सैनिक पराजय के रूप में भुगत चुका है। लेकिन यदि जनता की आशाओं के अनुरूप राज्य निर्माण के बाद भी बेरोजगारी, पलायन आदि समस्याओ की ओर ध्यान नहीं दिया गया और क्षेत्र में अशांति रहती है तो यह राष्ट्र और राज्य दोनों के लिये हितकर नहीं होगा। अतएव पहाड़ के लोगों की पहाड सरीखी समस्याओं को दूर करने के लिये आवश्यक है कि 'विकास की गंगा' को देहरादून से गंगोत्री ले चला जाय, तभी स्थितियों में बदलाव आएगा अन्यथा जो स्थितियां कल थी, वहीं आगे भी बनी रहेंगी तथा नये राज्य बनने का कोई भी असर नहीं दिखाई देगा।

सप्तम् अध्याय
पृथक राज्य आन्दोलन
पहचान का संकट :
एक आलोचनात्मक मूल्यांकन
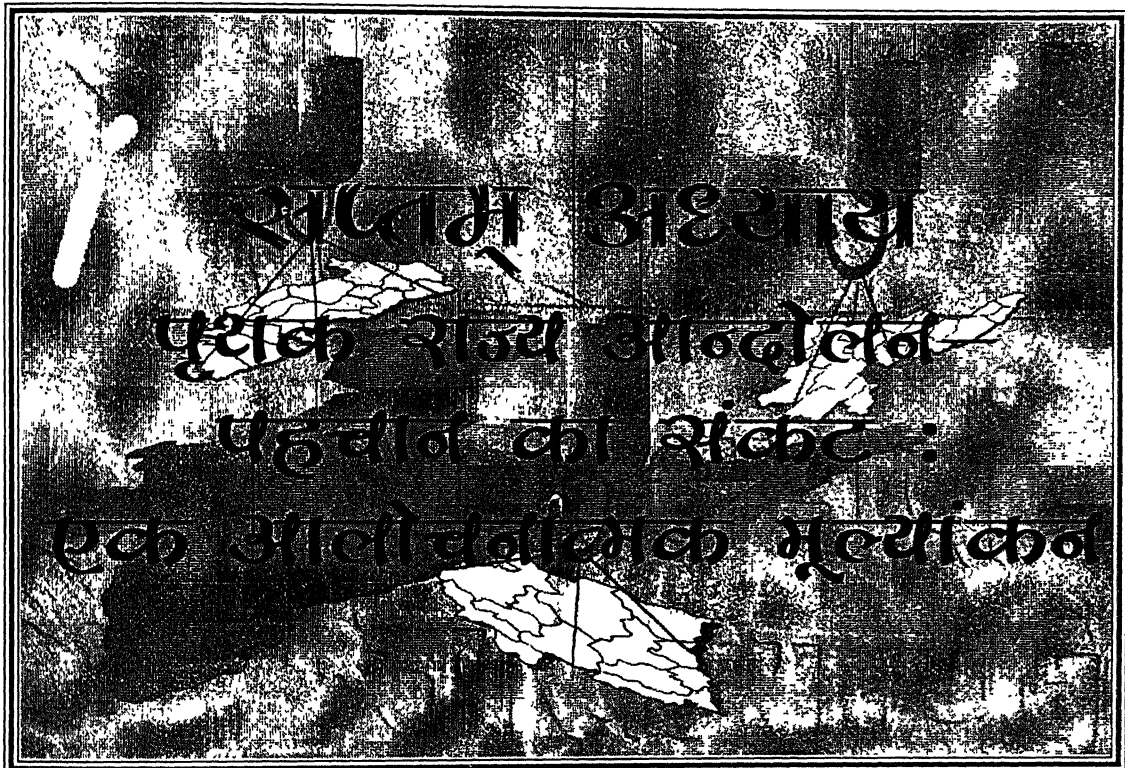
पृथक राज्य आन्दोलन– पहचान का संकट : एक आलोचनात्मक मूल्यांकन

भाषायी आधार पर राज्यों के निर्माण के इतिहास में झांकने पर स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय अखण्डता के नाम पर पृथक राज्य के निर्माण के सन्दर्भ में बहुत ही अक्खडता के साथ अपनी असन्तुष्ट भावनाओं को प्रकट किया था; जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1920 में नागपुर बैठक में यह वादा किया था कि भाषाओं के आधार पर राज्यों का विस्तृत पुनर्गठन किया जायेगा। जैसा कि ज्ञात है कि भाषायी राज्य आन्ध्र प्रदेश जो स्वतन्त्रता के बाद जनता के अत्यधिक दबाव के बावजूद भाषायी आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया था (वैसे उड़ीसा पहला राज्य था जो 1912 में बिहार से अलग किया गया), को व्यापक हिंसा के बाद जिसमें बहुत सारे लोगों को, श्री रामुलु की आमरण अनशन में मृत्यु के पश्चात् जीवन, गवाना पड़ा, को 1953 में बहुभाषी राज्य से अलग किया गया। जबकि स्वतन्त्रता के बाद गठित धर आयोग तथा जे.वी.पी. समिति दोनो ने ही भाषायी आधार पर लोक–दबाव के बावजूद राज्यों के निर्माण को अस्वीकृत कर दिया था।

भाषायी अभिजनों के हर तरीके के धर्मोपदेश को राष्ट्रीय नेतृत्व ने क्षेत्रीय अखण्डता के नाम पर नकार दिया क्योंकि उनके विचार में जिन राज्यों का भाषायी आधार पर सीमांकन किया जायेगा उनमे भाषायी देशभक्ति की भावना मजबूती से जड़े जमा लेंगी। आन्ध्रा के मामले में यह मसला इस लिये रूक गया कि भा.क.पा. ने मद्रास क्षेत्र के उत्तर तटीय जिलों में आन्दोलन शुरू कर दिया जिसने बाद मे तीव्र गति पकड़ ली जिसे रोक पाना सम्भव नहीं था। यहाँ पर तेलगू भाषाइयों ने एक संघर्ष छेड़ दिया कि विशाल आन्ध्र का निर्माण किया जाय जो 1956 में हैदराबाद स्टेट को समाप्त करने के बाद शान्त हो गया। राज्य पुनर्गठन आयोग जिसके सुझावों के आधार पर 1956 में भारी मात्रा में पुनर्गठन का कार्य किया गया, उन्होंने बहुत बेमन से बहुत सारे भाषायी राज्यों को उसके क्षेत्राधिकार से बाहर रखा, जिनमें मुख्य महाराष्ट्र, गुजरात तथा पंजाब थे। इन राज्यों का निर्माण अगले दस वर्षों में या उसके बाद केवल उस समय हुआ जब कांग्रेस ने भारी मात्रा में इन वर्षों में अपना लोक समर्थन वहाँ खो दिया।

यदि कोई गंभीर रूप से भाषाई देशभक्ति अथवा क्षेत्रीयता के मुद्दें का परीक्षण करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन लोगों का भय इस मान्यता पर आधारित है कि भारी मात्रा में किया गया कोई परिवर्तन भारतीय राज्यों के लिये संकट अवश्य उत्पन्न करेगा। 1920 का प्रयास जिसके द्वारा भाषावाद को भारतीय राजनीति में जोड़ा गया का लक्ष्य मुख्य रूप से तथा परिणामस्वरूप राजनीति को प्रतिक्रियावादी बनाना था। जो कि, बावजूद इसके कि मिश्रित प्रयास किये गये, यह केवल कट्टरपंथी लोगों के बीच में ही सीमित रहा। अन्तर यह है कि इसी प्रकार की रणनीति आजादी के बाद के दिनों में कुछ अपरिहार्य कारणोंवश खतरनाक तथा असुविधाजनक हो गयीं। 1920 तथा 30 के दशक मे भाषावाद या भाषाई क्षेत्रवाद, जिसमें ज्यादा से ज्यादा लोगों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में एक उपकरण के रूप में कार्य किया वहीं अचानक 50वें तथा 60वें दशक में 'राष्ट्रीय एकता की बाधा' बन

गया। फिर भी, किसी को भी दूसरी बहुत सारी कहावतें भाषाओं के अलावा याद होंगी जिसको दूसरे तथा तीसरे दशक में प्रयोग किया गया था और जिसने भारी मात्रा में लोगों में गतिशीलता लाई थी। दूसरे प्रकार की गतिशीलता भारतीय राजनीति के धर्म निरपेक्षता के खाके में सही नहीं थी। इस सम्बन्ध मे भाषा तुलनात्मक रूप से ज्यादा सही थी जिसकी अपील बहुधा लोगों ने बाद में बौद्धिक आधार पर की।

केन्द्र ने आजादी के बाद के दशक में जो तिरस्कारपूर्ण रवैय्या अपनाया उसने स्वाभाविक रूप से पुनर्गठन के मामलों को बेमन से किया गया बना दिया। शायद किसी भी मात्रा में कोई ऐसा प्रयास आश्वासन वाला नहीं किया गया जिसमें राज्यों की भाषायी एकता को ध्यान में रखा गया हो। यहॉ पर यह बात ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि केवल भाषा किसी बड़े राज्य को छोटे राज्य में नहीं बाटती है। उदाहरण के लियें–बहुत सारे छोटे–छोटे कबीलाई राज्य जो आज भारत के उत्तर पूर्व क्षेत्र में बिन्दु के रूप में स्थित है का निर्माण जातीय आधार पर हुआ। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश आदि राज्यों को मौजूदा भाषायी आधार पर कोई मान्यता नहीं मिली। यह बात कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है कि कोई भाषाई सिद्धान्त जो किसी क्षेत्र में काफी मात्रा में पाया जाता है वो उनके सीमान्त जिलों में मिली–जुली भाषाओं के होने के कारण एक–दूसरे पर चढ़ने लगता हैं।

मौलिक रूप से भाषा एक ऐसा तत्व बन गया है जो राज्य की सीमाओं को न केवल विवेकपूर्ण बनाता है बल्कि दूसरे भाषायी समूहों को उन भाषाइयों के ऊपर दमन करने से भी रोकता है। उड़िया भाषाइयों की बिहार तथा बंगाल से पृथकता की मांग तथा तेलगू भाषाइयों की मद्रास से पृथकता की मांग इसी मुद्दें पर आधारित है। बंगाली भाषाइयों तथा तमिल भाषाइयों के आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रभुत्व ने इन दोनो क्षेत्रों के पृथकतावादियों को एक वास्तविक आधार दिया; जो प्रत्यक्ष रूप से इन राज्यों की क्षेत्रीय भाषा के मुद्दें से जुडी हुयी थी। यह भाषा ही थी जो कि एक प्रतीक बनी जिसने क्षेत्रीय भावना को एक सामूहिक रूप में प्रकट किया।

तत्कालीन परिस्थितियों में जब प्रजातन्त्र का विस्तार समाज के विभिन्न वर्गों में हुआ (जो केवल शाब्दिक नहीं था), तब इस तरह की भावनायें केवल भाषायी परम्परावादियों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि इसमें बहुत सारी वो जनता भी शामिल हो गयी जो कि बहुत ही अल्पविकसित हिस्से थे, लेकिन इन्ही भाषायी राज्यों में रहते हैं। ज्यादातार मामलों में ये सभी अविकसित क्षेत्र जिनकों अपनी भाषा का कोई साहित्यिक रूप नहीं पता था, उनको आन्दोलन को प्रभावशाली बनाने के लिये साधारण रूप से शामिल कर लिया गया ताकि भाषा आधारित जनसंख्या का निर्माण राज्य बनाने के लिए किया जा सकें। चूंकि उनके खुद के परम्परावादी लोग सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण की दृष्टि से पिछड़े हुये थें और उनके राजनैतिक चेतना का स्तर कम था, इसलिये उनके पास कोई भी चुनाव नहीं बचा था सिवाय इसके कि भाषा की प्रभुत्वशाली परम्पराओं के अधीन हो जाय।

इन दिनों में एक बार फिर से यह प्रश्न उठाया गया है कि केवल राजनीतिक सीमाओं को देकर राज्य नहीं बनता है बल्कि एक विस्तृत पुनर्गठन होना चाहियें। वास्तव में कुछ सालों के

अन्दर अपेक्षाकृत ज्यादा अविकसित क्षेत्रों में यह अनुभव किया गया कि ''विकासशील राज्यों का विकास हो रहा है'', परिणामतः ये आन्तरिक उपनिवेशवाद के स्पष्ट मामलों के रूप में उभरकर सामने आयें। इस प्रकार के कुछ मामलें उत्तरांचल, झारखण्ड या वनांचल, विदर्भ मराठवाड़ा, छत्तीसगढ तथा कोंकण है।

ज्यादातर मामलों में पुनर्गठन की मांग का आधार भाषायी उतना नहीं था जितना कि आर्थिक। यहाँ तक कि मौलिक रूप से जो भाषायी आधार पर राज्यों की मांग कर रहे थे, उस क्षेत्रवाद में भी बाद वाला आधार (आर्थिक) अधिक था क्योंकि विभिन्न बहुभाषायी समूहों के द्वारा एक भाषायी क्षेत्रों की अपेक्षा आर्थिक संसाधनों के वितरण में हमेशा फर्क रखा गया। मौजूदा समय में बहुत सारे ये 'उप क्षेत्र' सभी राज्यों के अन्दर है; जिनके पास एक क्षेत्र तथा जनसंख्या का आकार है जिसके आधार पर प्रशासनिक तथा राजनैतिक पृथक्करण की मांग की जा सकती है।

केवल उ0प्र0 और बिहार जैसे राज्य ही नहीं हैं जिनमे पुनर्गठन की आवश्यकता है तथा जिनके पुनर्गठन में भाषायी आधारों को नजरांदाज किया गया है। बल्कि, खुद ऐसे राज्य भी है जिन्हें भाषाय राज्य कहा जा सकता है जैसे–आन्ध्र प्रदेश तथा महाराष्ट्र आदि। हिन्दी भाषा–भाषी राज्य जैसे म0प्र0, उ0प्र0 तथा बिहार का दुबारा पुनर्गठन 'अर्न्तक्षेत्रीय' असन्तुलन को सावधानीपूर्वक ध्यान में रखकर करना होगा। साथ ही साथ पूर्ण स्वरूप प्राप्त परम्परागत राज्य–बुन्देलखण्ड, रूहेलखण्ड, भोजपुर मालवा, आदि; जिनके पास व्यवहारिक लक्ष्य, स्पष्ट भाषा तथा पूर्ण विकसित साहित्यिक रूप है, बनाये जाने वाले राज्य है। ऐसे राज्यों का निर्माण इनकी परम्पराओं तथा अन्य विकास के लिये मार्ग प्रशस्त करेगा।

यदि भविष्य में झांका जाय तो बहुत सारे मुद्दें सामने आयेंगे जिनमें से कुछ को निम्नलिखित तरीके से जाना जा सकता है। सर्वप्रथम, भाषायी राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार की होनी चाहियें कि राज्य बनाने की मांग को तुरन्त स्वीकार कर लिया जाय। यह वांछित नहीं होगा कि संघीय नीतियों के संदर्भ में मांग में रखे गये सभी पक्षों का केवल अध्ययन किया जाय; बल्कि इनकी न्यायपूर्णता भी संघीय नीतियों के परिप्रेक्ष्य में देखनी चाहियें। प्रशासनिक विभिन्नतायें, भौगोलिक एकरूपता की समस्या, अल्पसंख्यक भाषायी श्रेणियाँ जो छिपी हुई हैं की समस्या, नये राज्यों के बनने से होने वाली जटिलतायें तथा विभिन्न रूपों में जन्म लेने वाली नये अल्पसंख्यक समूह के तथ्यों को भी ध्यान मे रखना चाहियें।

जो चीज बहुत ही महत्वपूर्ण है कि किसी भी तथ्य पर आधारित मांग को तुरन्त अस्वीकृत करने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि इन वर्षों में किया गया है। बहुत कुछ पंजाब के पुनर्गठन के अनुभव से सीखा जा सकता है, जिसमें केन्द्र से लम्बी तनातनी का परिणाम यह हुआ कि अकाली दल ने केद्र का रूप सिक्ख विरोधी तथा पंजाब विरोधी चित्रित करके रख दिया। फिर भी जैसा कि झारखण्ड क्षेत्र के मामलें में महसूस किया गया बहुत ही दुःखद था, जिसमें 18–25 जिलों को मिलाकर एक राज्य बनाने की काफी समय से चली आ रही मांग का परिणाम लम्बे हिंसात्मक संघर्ष के बाद ही प्राप्त हो सका। इसलिये उचित विकल्प तो यहीं होगा कि जहाँ पर एक लम्बे समय तक

हिंसा तथा सघर्ष का आभाष हो तो उसमें राज्य का स्वरूप प्राप्त करने वाले मौजूदा गुणों का परीक्षण किया जाना चाहिये।

दूसरे स्थान पर, वे क्षेत्र अथवा उपक्षेत्र आते है जिनको पुनर्गठन की परिधि से परे रखा गया और जिनको भाषायी क्षेत्र के रूप में कोई मान्यता नही प्रदान की गयी। बावजूद इसके ऐसे क्षेत्रो (बृज, भोजपुरी, मैथली, बुन्देलखण्डी तथा कबीलाई भाषायी क्षेत्र) में भाषा–भाषाई शक्ति उनकी परम्पराओ के कारण दुगनी हो गयी। ऐसा नहीं है कि ये सभी क्षेत्र एक पृथक राजनीतिक इकाई के लिये तीव्र इच्छा नही रखते तथापि ये क्षेत्र पृथक राज्य के लिये अपने आपको सक्षम सिद्ध नही कर सके।

फिर भी जनतांत्रिक प्रक्रिया का स्वरूप जो निम्न स्तर तक पहुँचकर अधिकार देता है, काफी सीमा तक परिवर्तित हो गया है। परम्पराओ पर आधारित समुदाय मूलरूप से आजकल वैसी ही शिकायते प्रस्तुत करते हैं जैसा कि भाषायी परम्परागत राज्यों ने भाषायी प्रभुत्वशाली समूहों के विरूद्ध बहुभाषा–भाषाई राज्यों मे की है। भाषाई ससाधनो के पुनर्वितरण तथा उनके आर्थिक विकास का तिरस्कार हमेशा एक उज्जवल कारण रहा है, जिसके आधार पर अलग भाषायी राज्य बने। झारखण्ड, उत्तरांचल और छत्तीसगढ राज्य बनाये जाने के बाद आगामी वर्षों में इन क्षेत्रो में पृथक राजनैतिक इकाइयों– बुन्देलखण्ड, पूर्वांचल, मिथिलांचल, मालवाचल, भोजपुर, हरित प्रदेश आदि की माग बढने की सम्भावना है ताकि इन क्षेत्रों में स्वतन्त्र राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की जा सके। यदि इस तरह की मांग बढ़ती गयी तो इसकी तार्किक परिणति यह होगी कि पहले भाषायी पुनर्गठन (1956) के बाद एक और राज्य पुनर्गठन की मांग बढ जायेगी।

तीसरी श्रेणी, दो अर्थों में उन उप-क्षेत्रों के भाषाइयों को शामिल करती है जिनके पास न केवल अपनी एक भाषा ही है बल्कि वह दूसरी भाषाओं के समुदाय में घुले मिलें है जिन्होंने 1950 में एक भाषाई राज्य की मांग की थी। ये उपक्षेत्र जैसे– विदर्भ, मराठवाडा (महाराष्ट्र), कोंकण (बम्बई और गोवा के बीच के तटीय क्षेत्र), सौराष्ट्र, कच्छ (गुजरात) तथा तेलंगाना (आन्ध्र प्रदेश) ने पर्याप्त विरोध अपने मुख्य संरक्षक राज्यों का किया। जिसका की बाह्य और आन्तरिक विरोध इन क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। अन्य शब्दों में विशिष्ट विचार यह है कि यह कहानी इन क्षेत्रों में तिरस्कार तथा आर्थिक शोषण की है जो कि विकास तथा अल्प विकास के नाम पर की जा रही है।

यह याद रखना महत्वपूर्ण होगा कि आर्थिक अल्प विकास इसके लिये पर्याप्त नहीं है। वास्तव में कुछ मामलों में यह व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का विषय बन जाता है जिसमें राजनीतिक तथा प्रशासनिक स्वशासन के द्वारा ऐसे क्षेत्र अपनी प्रतिष्ठित संस्कृति तथा परम्पराओं की रक्षा करना चाहते हैं।

दूसरा बिन्दु जिसमें यहां जोर देने की आवश्यकता है, वो सभी क्षेत्र जो पृथक राज्य की मांग करते हैं, आवश्यक नहीं है कि वह कमजोर केन्द्र का परिणाम है अथवा चाहते हैं। त्रासदी यह है कि उनमें बहुत इस पक्ष में भी है कि केन्द्र का नियन्त्रण हों। वास्तव में ये लोग विकास के लिये ज्यादा से ज्यादा संरक्षण की मांग करते है। इनकी शिकायतें वास्तव में केन्द्र के खिलाफ नहीं है

बल्कि उस मौजूदा राज्य के प्रति है जिसके वो हिस्से हैं। केन्द्र वास्तव में इन लोगों को ज्यादा बडा संरक्षक लगता है। इसलिये उत्तराखण्डी नेतृत्व ने प्रथमतः इस बात का समर्थन किया कि उनके क्षेत्र को केन्द्र शासित बना दिया जाय; बाद में तो वे लोग केवल घटनात्मक रूप से पूर्ण राज्य की कल्पना करने लगें।[1]

यहॉ तक कि वे राज्य जो वर्तमान में है और आज स्वायत्तता की माग कर रहे हैं (कुछ अपवादों को छोड़कर), एक कमजोर केन्द्र नहीं चाहते हैं बल्कि केन्द्र के प्रति अपने कुछ अधिकारों को भी विघटित करने को तैयार है। अन्य शब्दों में, यह एक स्पष्ट सी मांग है कि ईमानदारी का खेल हों जिससे योजना आयोग द्वारा दिये जाने वाले हिस्सों का संघटन एवं राष्ट्रपति शासन को लागू करने के प्रावधानों का गलत प्रयोग न हो। यह केवल राजनैतिक अतिवादी प्रकार के लोग है जो संघवादी है (जिनमें से पंजाब के कुछ अकाली हैं), और जो इस बात पर जोर देते हैं कि केन्द्र के पास केवल तीन–चार शक्तियॉ ही हों। फिर भी, ये लोग व्यापक रूप से रणनीति के द्वारा आम जनता में गतिशीलता उत्पन्न करते है।

अकाली लोग जो कि प्रारम्भिक रूप से एक धार्मिक अल्पसंख्यक है, वे चाहते है कि केन्द्र को सम्पूर्ण संघीय राज्य में अल्पसंख्यकों के अधिकारों तथा उनकी सुख–सुविधाओं की रक्षा करनी चाहिये। हुकुम सिंह तथा मौलाना हसरत मुहानी जो केन्द्रवाद के प्रति भारत की सविधान, सभा में शत्रुतापूर्ण थें, ने इस बिन्दु पर यह मुद्दा उठाया कि पंजाब के बाहर (हैदराबाद तथा आसाम आदि में) जो गुरूद्वारे है उनकी रक्षा की जाय और लोगों को यह अधिकार होना चाहियें कि वे अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपनी मादरी जबान (उर्दू) में, उस राज्य (जैसे उ0प्र0, म0प्र0 आदि) में जहाँ पर यह बहुमत समुदाय के लोगों की भाषा नहीं है प्राप्त कर सकते हैं।

प्रायः ऐसा होता है जैसा कि हुआ नहीं जिनके लिये उपमाओं का प्रयोग किया जा सकता है जैसे– 'पेंडोरा के बाक्स खोलना' या 'कष्टो से भरा घोंसाला बनाना' आदि प्रयोग किये गये थे, जब कभी राज्यों के पुनर्गठन की मांग की गई। यह सच है कि किसी भी राज्य को यदि दो या तीन भागों में बाटा जाता है तो वहाँ पर देश के किसी भी हिस्से में जहाँ विभाजन हुआ है ऐसी भावनायें संगठित तथा संचालित होती है, जो कि आसानी से स्पष्ट नहीं किया जा सकता न केवल राजनीतिज्ञो बल्कि बुद्धिजीवियों के दिमाग में भी ऐसा उत्पन्न करता है। अगर इस भय को महसूस करना है तो महत्वपूर्ण यह होगा कि इतिहास को आंका जाय।

इसके पीछे लाभ यही है कि आसानी से समझा जा सकता है कि भाषायी क्षेत्रवाद गणतन्त्र की अविच्छिन्नता पर कोई दबाव नहीं डालता है। मौर्य, गुप्त तथा मुगल साम्राज्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि ये राज्य इतने ताकतवर केन्द्रीयकरण के कारण नहीं बल्कि उन नीतियों के कारण थे जिसमें राष्ट्रीय शक्तियों ने केन्द्रीयकरण के साथ–साथ समानता का प्रयोग किया था। पूर्ववर्ती साम्राज्य जो सामन्ती अथवा अर्द्ध–सामन्ती वातावरण में पल्लवित हुये थे एक सीमा के बाद

---

1. डबराल, शिवप्रसाद (1995), *"जनता उत्तराखण्ड को केन्द्र शासित बनाने का विरोध न करे"*, दैनिक जागरण मार्च 24 एवं कुमार, प्रदीप (1996), *"डिमाण्ड फॉर ए हिल स्टेशन इन यू.पी. : न्यू रियल्टीज"*, मेनस्ट्रीम, जून 29 ।

उपयुक्त नही थे क्योंकि 'शक्ति' तथा 'सत्ता' दोनो ही जनता के द्वारा प्रदर्शित नहीं होती थी बल्कि शासक वर्ग के हाथ में थी। आज बड़े अलंकारिक भाषा में कहाँ जाता है कि राष्ट्र की शक्ति का स्वरूप जनता है क्योंकि एक जनतान्त्रिक व्यवस्था है। लेकिन काफी सीमा तक यह नेतृत्व पर निर्भर करता है जिसके ऊपर यह जिम्मेदारी है कि वह राजनीतिक मामलों में आम जनता को सन्तुष्ट करें।

आर्थिक पिछड़ेपन तथा सामाजिक भेदभाव के मुद्दें को 'स्रोत की कमी' तथा 'कार्यान्वयन की समस्या' का तर्क देकर टाला जा सकता है। लेकिन विशुद्ध राजनीतिक निर्णय जिसमें कोई ज्यादा निवेश नहीं करना है को चुनाव तथा जन भावनाओं को ध्यान में रखते हुए बहुत समय तक नहीं टाला जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में राज्य के लिये लोगों के विरोध का दबाव एक सह–उत्पादन का रूप धारण कर लेता है। पंजाब का मामला स्वाभाविक था जिसमें 1966 में, पुनर्गठन में देरी करने से अकाली लोगों को बल मिला कि वह लोगों से कह सकते थे कि केन्द्र पंजाबी तथा सिक्ख लोगों के साथ खुलकर भेदभाव कर रहे हैं।

भारत के किसी भी राज्य में विघटनकारी प्रवृत्तियों को भाषायी एकरूपता के आधार पर नहीं दर्शाया जा सकता है। वास्तव में इस अभाव ने उस राज्य की पहचान के लिये संकट पैदा कर दिया है जैसे– आसाम में बंगाली, पंजाब में हिन्दी भाषा–भाषी तथा महाराष्ट्र में दक्षिण भारतीय हैं।

सोवियत संघ के विघटन और तत्पश्चात् स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्रो के अस्तित्व की महत्वपूर्ण घटना को हम नजरान्दाज नहीं कर सकते। जिस समय यह घटना घटी तो बहुत सारा शोर–शराबा हुआ और भारतीय राज्यों की नीति की इससे तुलना की जाने लगी। कुछ बौद्धिक समूहों में यह तर्क भी दिया गया कि सोवियत संघ के विघटन से भारत में इस प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा। क्योंकि विघटनकारी प्रवृत्तियों को हमेशा एक प्रोत्साहन बल विश्व में होने वाली घटनाओं से मिलता रहा है। लेकिन भारतीय मामलों को साधारण रूप से देखा जाय तो इसकी सोवियत संघ के मामले से तुलना नहीं की जा सकती है। क्योंकि जारशाही साम्राज्य का विस्तार ताकत के आधार पर हुआ था और बलपूर्वक बहुत सारे क्षेत्रों को रूसी भू–भाग में सम्मिलित कर लिया गया था। याल्टा सम्मेलन और 'लाल रक्षक' (रेड गार्डस) का राज्यों को संघ में मिलाने का योगदान भी जारशाही की पुनरावृत्ति के रूप में ही जाना जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सोवियत संघ के विघटन का सबसे बडा कारण लोगों की प्रजातान्त्रिक भावनाओं तथा उनकी क्षेत्रीय तथा भाषायी पहचान को पूर्णतः नकारना था। यद्यपि आर्थिक अभाव तथा गोर्ब्याचोब के राजनीतिक दर्शन 'पेरोस्त्राइका' तथा 'ग्लास्तनोत' ने भी राष्ट्र की इस विच्छिन्नता में बडा योगदान दिया। यह केवल इत्तफाक ही है कि भारत के किसी भी राज्य (सिर्फ जम्मू कश्मीर को छोडकर) में जनता ने सामान्यतया कभी विच्छिन्नता को समर्थन नहीं दिया और सत्य तो यह है कि देश के हर हिस्से में जम्मू और कश्मीर के पृथक होने का खतरा एक चिन्ता का विषय बना हुआ है। जिस समय हम लोग भारतीय जनता की बात करते है तो बात केवल हिन्दी भाषी प्रभुत्व वाले क्षेत्रों की ही नही होती बल्कि उन राज्यों की भी होती है जो भाषाई मुद्दें के आधार पर केन्द्र से विरोध अथवा केन्द्र–राज्य सौदेबाजी करते हैं।

इसी तरह से जो सयुक्त राज्य अमेरिका के ज्यामितीय सीमाओं से प्रभावित हैं, वे एक ऐसे देश की जो विविधताओं से युक्त है की तुलना महाशक्ति की स्थिति वाले देश के समान समझने की भूल कर रहे हैं। भारतीय संघात्मक समाज की एक ऐसे समाज से तुलना करना जिसका अस्तित्व महज 500 साल पुराना हों और जो 200 साल या उससे अधिक समय से तीव्र गति से विकास तथा औद्योगीकरण के द्वारा मजबूती प्राप्त कर चुका हो; एक महान भूल होगी। क्या ऐसी तुलना तर्क पूर्ण होगी जिसमें एक कमजोर सा समाज हो दूसरी ओर सुदृढ़ समाज हो। हमारा समाज एक ऐसा समाज हे जिसकी हर परत स्पष्ट तथा पहचान करने योग्य है। सौभाग्य से भाषा या संस्कृति इकलौते बड़े तत्व है जो वास्तव में हमारे बहुलता वाले समाज को संघीय रूप प्रदान करते हैं। जाति तथा धर्म के ऊपर भाषा और संस्कृति अपने आधिक्य के द्वारा अकेले ही क्षेत्रीय संगठनों के विभेंदों को नष्ट करती है। यहाँ पर सौभाग्य शब्द का प्रयोग इसलियें किया गया है कि भाषा तथा संस्कृति के बावजूद इसके कि इसमें एक नकारात्मक अतिवाद होता है, कम खतरनाक तथा बन्द धारणा है; जाति अथवा प्रजाति की पहचान की अपेक्षा।

कोई भी विघटनकारी प्रवृत्ति यदि शक्ति प्राप्त करती है तो तत्काल ही दूसरे राज्यों में उसकी प्रतिक्रियावादी श्रृंखला प्रारम्भ हो जाती है। लोगों को यह भय है कि अगर भारी मात्रा में राज्यों का पुनर्गठन किया गया तो छोटे–छोटे 50–60 राज्य हो जायेंगे। पर, छोटे राज्यों की ज्यादा संख्या वास्तव मे इस आश्वासन के रूप में कार्य करेगी कि एक राज्य दूसरे राज्य के विरूद्ध प्रभुत्व नहीं जमा पायेगा। यह इस बात को भी सुनिश्चित कर देगा कि किसी भी राज्य के अन्दर यह मिथ्याभाव नहीं आयेगा कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है जितने ज्यादा अन्तर आश्रित तथा प्रतिक्रिया पूर्ण प्रक्रिया छोटे राज्यों को जन्म देगी, उतना ही ज्यादा छोटे राज्यों को सम्मिलित भाषाओं की प्रतिक्रिया के बारे में सोचना होगा।

यद्यपि राज्यों के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की वार्ता हम लोगों को यह विश्वास नहीं दिलाती कि पुनर्गठन क्षेत्रीय समस्याओं या तनावों के लिये एक मात्र संजीवनी है। पहचान का मुद्दा तथा एक शक्तिशाली समूह के द्वारा दूसरे समूह पर प्रभुत्व तब भी बने रहेंगे, चाहे पुनर्गठन के लिये कितने भी दौर चला दिये जाय। उदा0 के लिये छोटे से राज्य मेघालय में भी जयन्ती, गारों तथा खासी के मध्य वास्तविक संघर्ष है। एक अन्य दूसरे छोटे राज्य मिजोरम में मिजोरियों के ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि वह चकमस के ऊपर प्रभुत्व जमायें हैं। सिक्किम में नेपाली भोटिया तथा लेप्चा की दया पर निर्भर है। मणिपुर में कुकी तथा नागा के मध्य संघर्ष है। यहाँ तक कि नवनिर्वाचित राज्य झारखण्ड में भी बहुत सारी जातियाँ राजनीतिक प्रभुत्व में आ जायेगी जिनमें मुण्डा, संथाल, ओरॉव आदि है।

फिर भी यह सब कुछ हमकों इस ओर नहीं ले जाता है कि हम नयें राज्यों के निर्माण का विचार ही छोड दें। यह सच है कि प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की पृथक पहचान बनाने की भावनाओं का कोई अन्त नहीं है। लेकिन हम लोगों को यह नही भूलना चाहियें कि कोई एक भूमि या रेखा ऐसी नहीं खींची जा सकती जिसे स्थायी माना जाय। स्वाभाविक रूप से समय काल के परिवर्तन

के अनुसार यह बदलती रहती है। यह पूर्णतः सम्भव है कि पृथकता के लिये छोटे राज्यों को काटना उन्हें पुनः छोटे समूहों में करना एक दिन ऐसा परिणाम दें जो सम्मिश्रण की ओर विपरीत प्रवृत्ति के रूप में परिणति हों।

भाषाओं के आधार पर राज्यों की मांग केवल छोटे राज्य की मांग नहीं है और कम से कम आन्ध्र प्रदेश तथा महाराष्ट्र ने एक बहुत बड़े क्षेत्र की मांग की थी जो उनके जनक राज्यों से भी बड़ा था। इसी तरह का मामला मैसूर के साथ का भी था जिसमें बहुत सारे कन्नड़ भाषी क्षेत्र को राजवंशीय राज्यों में मिला दिया गया। वर्तमान प्रवृत्तियाँ यूरोपीय संघ में सदियों के नफरत तथा पृथकतावाद के बाद विश्व राजनीति के परिप्रेक्ष्य में उलटकर अधिक से अधिक यूरोपीय एकीकरण के रूप में परिणति हो रही हैं। कोई भी सुझाव ऐसा नहीं है जो भविष्य के समाजों को अटूट बंधन में बांध सकें। फिर भी, 20–30 वर्षों तक जो कदम वैध होता है उसका तीव्र गति से परिवर्तित होने वाले विश्व में स्वागत ही किया जायेगा, वह भी वहाँ पर जहाँ सम्प्रभु राष्ट की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा विखंडित न हो रही हों।

संघीय सरकारों में क्षेत्रीय विचारों का अध्ययन इस बात पर प्रकाश डालता है कि उसमे केन्द्र विरोधी सक्रियता पायी जाती हैं, जिसको एक लोक समर्पण के रूप में 'भावनात्मक राष्ट्रीयता' कहा जाता है। इसलियें जो मामले उल्लिखित किये जाते हैं उन्हें क्षेत्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए क्षेत्रीय राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रवाद की मुख्य धारा में देखना होगा। जैसा कि पूर्व में चर्चा की गई है कि 50 वें व 60 वें दशक की भाषाई राज्यों की परिणति कमोवेश इस भाषाई/क्षेत्रीय राष्ट्रीयता का प्रदर्शन था। परिणामस्वरूप, इन सभी मामलों में भाषा, संस्कृति, क्षेत्रीयता, धर्म तथा इतिहास आदि तत्व सबसे महत्वपूर्ण मुद्दें थे। जबकि, शायद ज्यादा दिखने वाली समस्यायें जैसे–विकास को इसकी पृष्ठभूमि में उछाला गया तथा गौण रूप से प्रदर्शित किया गया। ज्यादातर राज्य जो परिणामस्वरूप बने थे, या तो उनका केन्द्र शासित क्षेत्र का विस्तार करके स्वतन्त्र अस्तित्व दिया गया (जैसे–गोवा, मिजोरम तथा अरूणाचल प्रदेश) या भावनात्मक आधार पर उनका निर्माण किया गया (जैसे–मेघालय)। वास्तव में उत्तर–पूर्व के ज्यादातर राज्यों का किसी भी मामले में देखा जाय 'भाषा विरोधी' राज्यों का निर्माण किया गया; क्योंकि गैर असमी भाषी जनसंख्या जो वृहत आसाम के किसी भाग में थी, वे ''आसाम राजभाषा अधिनियम–1960 के द्वारा असमी भाषा तथा व्यवहारों को लोगों पर लादा जाय का विरोध कर रहे थे।

जब 80 व 90 वें के दशक में दूसरे दौर की मांगों की शुरूआत हुयी तो ये काफी बडी हो गयी। यद्यपि यह सभी तात्कालिक नहीं थी; वास्वत में कुछ जैसे झारखण्ड का इतिहास अपेक्षाकृत अन्य भाषायी 50वें दशक की मागों से भी पुराना था एवं इसमें भाषायी संस्कृतिवार पर जोर काफी सीमा तक गायब था। इन मांगों में से कुछ जैसे–विदर्भ, मराठवाड़ा, तेलंगाना आदि भाषा विरोधी थे और विशेष रूप से उनके लक्ष्य का भाषायी क्रियाकलापों से कुछ लेना–देना नहीं था। इन क्षेत्रों की शिकायतें भाषायी नहीं बल्कि आर्थिक थी। इसके अलावा उनके ऊपर संगठित राज्यों की परम्पराओं का लादा जाना था; जो 1950 में बहुत अधिक संगठित और ताकतवर नहीं था लेकिन बाद के आने

वाले वर्षों मे असहनीय हो गया। तेलगाना और विदर्भ राज्य की मांग के बावजूद इसके कि इसे राज्य पुनर्गठन आयोग द्वारा स्वीकृति मिल चुकी थी, केन्द्रीय नेतृत्व ने अस्वीकार कर दिया, जिसकी वजह से उनके आर्थिक शोषण पर राज्यों की चेतना बढ गई थी। बाद में होने वाले विकास से यह लोगों की व्यक्तिगत विचारधारा बन गई जिसमें आर्थिक आंकडे ज्यादा प्रभावशाली नहीं थे।

यदि पृथकता की मांग की औचित्यता को हम देखना चाहे या आर्थिक सहयोग न देने वाली प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया जाय तो अधिक सहायता नहीं मिलेगी। बल्कि पृथकता की मांग को उसी भाषायी राज्य में मजबूत बनाने के लिये संरक्षक राज्य की परम्पराओं का पृथकतावादी क्षेत्रो मे लादे जाने एवं उन नारों के रूप में देखा जाना चाहियें जो आर्थिक तिरस्कार से ज्यादा उस राज्य के समृद्धता के खिलाफ बनी। स्वाभाविक रूप से राज्य के अन्दर उन क्षेत्रों में यह भावना आ गयी थी कि, उनका प्रयोग उपनिवेशों की तरह किया जा रहा है; जिसने आन्दोलन को पर्याप्त राजनीतिक गतिशीलता प्रदान की। इस तरह आर्थिक तत्व जो राज्यों के पुनर्गठन के पहले दौर पर पिछली पृष्ठभूमि में था 1980–90 के दशक में भाषायी सांस्कृतिक एकरूपता के साथ समानान्तर नारों का अंग बन गया।

अगर यह भाषायी राज्यों की कहानी थी तो पूर्व वर्णित आभाषायी राज्यों (जैसे–उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश) मे उनकी सामुदायिक परम्परा के आधार पर काफी मात्रा में उपराज्यीय गतिशीलता प्रगट होने लगी। इन मामलों में सामुदायिक परम्परा वाली जैसे–भोजपुरी, गढ़वाली, कुमाऊँनी, मैथली, अवधी आदि के पास पर्याप्त कारण थे कि अपने आर्थिक पृथककरण की बात सांस्कृतिक पृथक्करण के रूप में कहे क्योंकि सामुदायिक परम्परा वाली सीमायें समय के साथ स्पष्ट रूप से और लगभग आर्थिक तिरस्कार का कारण बन जाती है। स्थायी रूप से आर्थिक पथ पर बीमारू राज्यों की नीचे की ओर जाती प्रवृत्तियों ने क्षेत्रीय परम्पराओं को काफी बल दिया है। जिसमें सांस्कृतिक कहावतों का प्रयोग करते हुये जनता को गतिशील बनाया जाता है। यहाँ पर हिन्दी भाषी पट्टी के गरीब क्षेत्रों ने बावजूद इसके कि उनका कुछ विकास नहीं हुआ, केन्द्र विरोधी आन्दोलन विकास के मुद्दें पर नहीं बनाया। वास्तव में राज्यों को पृथक करने की मांग क्षेत्रीय परम्पराओं के आधार पर परम्परावादी लोगों ने नही की; बल्कि उन क्षेत्रों के बाहर विद्वानों द्वारा की गयी। प्रायः इन मांगों का लक्ष्य उस क्षेत्र के विकास का उतना नहीं था जितना बडे राज्यों के रहने से बडे राज्यों की राजनीतिक कमियों का विरोध करना था। ऐसे आन्दोलनों में गतिशीलता का अभाव इसलिये भी था क्योंकि साधारण रूप से हिन्दी की सभी परम्पराओं को जो साहित्यिक रूप से बहुत समृद्ध थी, उसे कभी आम जनता ने भाषाओं के द्वारा बांधने का प्रयोग या सामुदायिक भाषाओं के द्वारा उन्हें एक सांस्कृतिक ताने–बाने में बुनने का प्रयास नहीं किया था। यह समुदाय अपेक्षाकृत यह सोचते हैं कि उनके अस्तित्व की वास्तविकता विशाल हिन्दी भाषी समुदायों का हिस्सा बनकर रहने में है; जिसको उन्होंने सम्भवत विशाल भारतीय राष्ट्रीयता की पहचाना माना है। इस तरह की विचारधारा के परिणामस्वरूप ही पिछले पॉच दशकों में विकास की असफलता के कारण उत्पन्न भावनायें अथवा हताशा कभी भी छोटे राज्य की मांग की भावना के रूप में अनुदित नहीं हुयी है।

इसलिये यह आवश्यक है कि कुछ ऐसी चेतना विकसित होनी चाहियें जो आर्थिक तिरस्कार की स्थिति में कुछ अधिक दबाव पैदा करें जैसा कि ज्यादातर मामलों में होता है जिसे राजनीतिक पहचान कहते हैं। अन्य शब्दों में एक क्षेत्र (भाषा विरोधी कुछ मामलों में तथा अभाषी मामलों) में तब तक तिरस्कार की भावना लोगों को मजबूत बनाने मे सफल नहीं हो सकती जब तक कि वर्तमान राज्य एक क्षेत्र का रूप धारण न कर लें या जो मूल रूप से लोगों के मन में यह विचार पैदा न करे कि भाषायी क्षेत्र भी कोई होता है, जैसा कि परम्परावादी मामलों में माना गया है। यह एक आदेशात्मक तथ्य है कि इस क्षेत्र के राजनीतिक नेतृत्व को उद्देश्यपूर्वक ऐसा निर्माण करना होगा ताकि लोगों में क्षेत्रीयता की पहचान हो तथा वहां पर रहने वाले समूह के मन में आर्थिक तिरस्कार की भावना पैदा हों। तर्क के आधार पर इसे आसानी से समझा जा सकता है। आप किसी भी समूह को चाहे उसमे गतिशीलता अधिक हो या कम आर्थिक तिरस्कार की बात तब तक नहीं समझा सकते हैं जब तक पहले उनके अन्दर उनके एक होने की पहचान का अहसास न करा दें।

यहॉ पर ध्यान रखने वाली महत्वपूर्ण बात यह है कि ये सभी पहचानें कृतिम तौर पर बनायी गयी है यद्यपि उन्हें सफलता के लिये ऐसा दिखावा करना पड़ता है तथा करना चाहिये कि वह स्वाभाविक लगें। इस तरह की बातें करना एक बड़ा ही उलझन भरा कार्य है जो कि सभी क्षेत्र के लोग सफलतापूर्वक नहीं कर पाते हैं। परिणामस्वरूप हम पाते हैं कि तेलंगाना, मराठवाडा या विदर्भ को उतनी अधिक राजनीतिक सफलता नहीं मिली जितना कि अन्य क्षेत्रों जैसे– झारखण्ड, उत्तरांचल या छत्तीसगढ को मिली।

ये समूह जो उनके प्रभुत्व राज्य होते हैं उनके प्रभावी सांस्कृतिक अहम की समस्या से ग्रसित होते हैं और वास्तव में वे एक राजनीतिक स्वायत्तता चाहते हैं तथा उनकी संस्कृति पर होने वाले किसी भी अतिक्रमण का विरोध करना चाहते हैं। लेकिन इस तरीके के पहचान वाले क्षेत्र सिर्फ एक स्वतन्त्र प्रशासनिक ढ़ाँचे की तलाश में रहते हैं। इनकी मांगे भावनात्मक राष्ट्रीयता में योगदान नहीं देती हैं बल्कि ये प्रभावशाली राष्ट्रीय मुख्यधारा वाली संस्कृति का हिस्सा बनकर रह जाती है। यह ऐसे समूह है जो पृथक राज्य के अस्तित्व की मांग अपने हितों की रक्षा हेतु चाहते हैं लेकिन उन समूहों के तरह नहीं होते जो अपनी भावनात्मक आजादी के लिये संघर्ष करते हैं।

एक संघीय समाज हमेशा विभिन्नताओं का समाज होता है जिसमें भारी मात्रा में विभिन्न प्रकार की पहचानें पायी जाती हैं जो धर्म, भाषा, संस्कृति, कबीलाई अथवा अन्य किसी आधार पर आधारित होती है। यह सभी पहचान एक प्रजातान्त्रिक समाज में महत्वपूर्ण है। ये केवल ऐसी पहचाने हैं जो क्षेत्रीय या भू–भाग के समूह पर अवधारित होती है जो कि समाज के संघीय प्रकृति के दृष्टिकोण से उपयुक्त है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि केवल क्षेत्रीय रूप से संगठित पहचान वास्तव में राजनीतिक स्वायत्तता या किसी भी प्रकार के विकेन्द्रीकरण की मांग कर सकती है। इस संदर्भ में भारतीय संघ में भाषायी संस्कृति की पहचान को मान्यता भी प्रदान की गयी। 1950 तथा 60 के दशक में राज्यों के पुनर्गठन का सबसे बड़ा आधार भाषा था। एक बात जिसकी आवश्यकता यहाँ पर जोरे देने की है कि सभी पहचानों में एकरूपता नहीं थी, जैसे कोई भी भाषायी तथा सांस्कृतिक समूह उस समूह

के सभी सदस्यों के हितों के प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकता था और वास्तव में ऐसा किया भी नहीं। उसने जो कुछ भी किया उस क्षेत्र में जो प्रभावशाली भाग था उसके हितों का प्रतिनिधित्व किया। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसके नेताओं में नेतृत्व की कमी थी। बल्कि, यह स्वाभाविक तथ्य है कि कोई भी क्षेत्र वास्तव में एकरूपता का क्षेत्र हो ही नही सकता। वास्तव में सभी क्षेत्रों में कुछ उपक्षेत्र होते हैं तथा उपक्षेत्र के भी उपक्षेत्र होते हैं। ये उप क्षेत्र अथवा उप–उपक्षेत्र, बड़े क्षेत्रों के हितों के प्रति अपनी सहमति जता भी सकते है और कभी नहीं भी जताते, लेकिन कभी भी इनके विरूद्ध विरोधाभाषी सम्बन्धों को लेकर खड़े हो सकते हैं। कोई भी सिक्किम में भोटिया तथा लेप्चा के मामलों को प्रस्तुत कर सकता है। इसी प्रकार बंगाली तथा भोटिया का मसला पश्चिम बंगाल के गोरखा प्रभुत्व वाले दार्जिलिंग में उठाया गया। चकमाओं ने मिजोरम में, कूच बिहारी तथा अन्य कबीलों ने असम में तथा हिन्दुओं ने पंजाब में इसे इसी प्रकार उठाया।

जो चीज महत्वपूर्ण है वह यह कि इन क्षेत्रों के नेतृत्व को सामान्य रूप से अपने दावों तथा मुद्दों को सम्पूर्ण क्षेत्र को आधार बनाकर रखना चाहिये। यह आवश्यक है कि ऐसी प्रवृत्तियॉ पैदा की जाय जिसमें क्षेत्र के बड़े से बड़े भाग का समर्थन प्राप्त हो साथ ही साथ उस क्षेत्र के लोग मांगों को वैधानिकता भी प्रदान करें। जैसा कि पूर्व में चर्चा की गयी है, पहले स्थान पर महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी पहचानें कृतिम रूप से निर्मित होती है या उसका कृतिम निर्माण इस आशय से किया जाता है कि वो एक विशेष राजनीतिक पहचान बन जाय जो कि अध्ययन की दृष्टि से प्रासंगिक होती है। यह केवल तभी होता है जब एक समुदाय अपनी पृथक तथा स्वतन्त्र पहचान के लिये सचेत (जागरूक) होता है और व्यक्तिगत क्षेत्र से मिलकर सार्वजनिक क्षेत्र में कदम बढ़ाता है। परिणामस्वरूप, उसका प्रवेश राजनीतिक क्षेत्र में होता है, जो उसे एक ऐसी प्रासंगिक पहचान दे देता है जो लोगों को स्वीकार्य होने लगती है। इस अर्थ में सभी पहचानें कृतिम निर्माण के बावजूद एक राजनैतिक पहचान से जुड़ी रहती है।

हम सब बहुत सारी पहचानों के साथ रहते है जो कि अधिकतर हमारे साथ रहती है लेकिन उन सबके प्रति हम जागरूक नहीं होते हैं। इनमें से कुछ प्रभावशाली बनी रहती हैं तथा दूसरी कुछ मौकों पर अपना रूप धारण करती हैं, जबकि बाकी कभी भी सक्रियता का रूप धारण नहीं करती। ये केवल उन पहचानों के लिये होता है जो सफलतापूर्वक कुछ मौकों पर सक्रिय व प्रभावशाली हो जाती है, जबकि कोई राजनैतिक संगठन दूसरी पहचानों को कमजोर बनाने का प्रयास करता है, तो हम वास्तव में इस विश्वास की ओर प्रवक्त हो जाते हैं कि वह प्रभुत्व वाली पहचान ही केवल वास्तविक पहचान है तथा दूसरी पहचान या तो उसके अधीन है अथवा एक प्रांसगिक पहचान को बनाने के लिये गतिशील है।

जैसा कि पहले ही व्याख्या की जा चुकी है, शब्द 'राजनैतिक' का प्रयोग व्यापक रूप से 'सार्वजनिक क्षेत्र' जो 'व्यक्तिगत सत्ता' के विरूद्ध होता है के अर्थों में किया गया है। इसके विपरीत 'कृतिम' का अर्थ एक ऐसा निर्माण है जो मानवीय हस्तक्षेप के द्वारा उत्पन्न हुआ है। चूंकि कोई विशेष पहचान दूसरे अन्य लोगों के बीच में स्थापित करना एक चेतना के चुनाव का मामला है, अतः उसी

सीमा तक यह विशेष पहचान कृतिम होती है। यह एक विभेदीकरण का मामला है कि किसी भी प्रभावशाली पहचान को प्रावैधिकता अथवा अन्य पहचानों के आधीन बनाकर निर्माण किया जाता है तो वह कभी स्थायी नहीं हो सकता। परिणामस्वरूप, ऐसी पहचान की अवधि कितनी चलेगी इसके बारे में तय कर पाना काफी कठिन होता है। 1947 में एक धार्मिक पहचान (मुसलमान) इतनी ज्यादा बौद्धिक बनं गयी कि उसने पाकिस्तान का निर्माण कर डाला और सारे मुस्लिम एक समुदाय में, बावजूद इसके कि भाषायी तथा क्षेत्रीय भेदभाव एवं एकरूपता का अभाव था, पिरो दिये गये। उसके फौरन बाद क्षेत्रीय पहचानों ने पाकिस्तानवादी मुस्लिम पहचान को कम करना शुरू कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि बंगाली विचारधारा तथा पंजाबी और मुहाजिरों के बीच गतिरोध उत्पन्न हुआ और अन्त में पाकिस्तान से कटकर 1971 में पृथक बांग्लादेश का निर्माण हुआ।

यहाँ पर यह स्पष्टीकरण देना आवश्यक है कि इस तरीके की पहचाने भले ही इनको सफलतापूर्वक बना दिया गया हो प्रायः विशिष्ट बन जाती है जिसमें बहुत सारे समुदाय सीमान्तीकरण की प्रक्रिया में इसमे शामिल हो जाते है। परिणामस्वरूप जब कभी भी यह विशिष्ट निर्मित पहचाने प्रभुत्वशाली होने का दावा करती है तब सभी अविशिष्ट पहचानें जिनके कुछ वर्ग इसमें होते हैं, इस तरीके की पहचानों के निर्माण के सम्बन्ध में हमेशा प्रतिक्रियावादी होते हैं। इसलिये 'राष्ट्रीय मुख्यधारा' की तरह जो बहुत सारी 'अधीनस्थ' समुदायों को पृथक कर देती है उसमें पूरी राष्ट्रीयधारा को प्रभावशाली ढंग से ले जाने में कठिनाई होती है क्योंकि क्षेत्रीय तथा अन्य सांस्कृतिक पहचाने जो विभिन्न वर्गों को पृथक करती हैं या तो उससे निरन्तर जुडी होती हैं अथवा शत्रुतापूर्ण हो जाती हैं। जैसा कि असमी पहचान के मामले में हुआ जब असमी भाषा अधिनियम के एक पैरा में जो विधानसभा में पढा गया था, ने बहुत सारे गैर असमी राष्ट्रयता वाले लोग जो 1960 के प्रारम्भ में वृहत्तर असम में रहते थे के मन में एक भय पैदा कर दिया जिसने पृथक राजनैतिक पहचानों के लिये भागों की गतिशील बनाया और अन्त में वे अपने लिये एक पृथक राज्य पाने में सफल भी हो गये।

इसी तरह से मिजो पहचान में चकमाओं ने मिजोरम में भागीदारी नहीं की। भूटिया तथा लेप्चा गोरखाणी पहचान से गोरखालैण्ड में जुडे रहे तथा सिक्कमी और नेपाली सिक्किम की पहचान से जुडे रहे। जब मणिपुरी को 1980 में 18वीं राजकीय भाषा के रूप में संविधान की आठवीं अनुसूची में जोडा गया तो कुछ जातियों ने, जो वहाँ के ऊंचे पठारों में रहती थी ने इस निर्णय का विरोध किया। क्योंकि मणिपुरी मुख्य रूप से नीतियों की भाषा थी या मेटीज या हिन्दुओं की भाषा थी। कोई भी इस उदाहरण के द्वारा कह सकता है कि पंजाब में बावजूद इसके कि परिस्थितियाँ इसके विपरीत थीं पंजाबी पहचान को वहाँ के हिन्दुओं के द्वारा बड़े जोश के साथ स्वीकार नहीं किया गया था। झारखण्ड में झारखण्डी पहचान को गैर कबीलाई लोगों तथा सभी कबीलों के द्वारा पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं था।

इस तरह की कृतिम निर्मित काल्पनिक, राजनैतिक पहचानों की सफलता का परीक्षण यह है कि जिस समय ये कृतिम तथा विशिष्ट होती है, उस समय यह उनके मानने वालों को 'स्वाभाविक'

तथा 'सर्व अविशिष्ट' लगनी चाहिये। एक बार यह सफलतापूर्वक हो जाता है तो वह पहचान एक विक्रय का उत्पाद बन जाता है। यह केवल क्षेत्रीय पहचानों के लिये ही सही नहीं है जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है बल्कि सामाजिक पहचानों के लिये भी लागू होता है जैसे – अन्य पिछडा वर्ग, दलित आदि। यह कहना आवश्यक नहीं है कि यह निर्माण पूर्णतः 'कार्यात्मक' होता है जिसमे एक संगठित तथा केन्द्रित समूह एक ऐसा दबाव उत्पन्न करता है जो चुनावी प्रजातन्त्र में राजनैतिक निर्णयों को प्रभावित करता हे। इस प्रकार 'समावेशन' पृथक्करण से ज्यादा स्वाभाविक पहचान बनाने वाला परिणाम देता है।

यह एक नई निर्मित तथा संगठित बडी पहचान होती है जो ज्यादा से ज्यादा 'कृतिम' तथा 'काल्पनिक' होती है अपेक्षाकृत मौलिक छोटी पहचान के जो अपने समूहों के करीब होती है उनके अन्दर एक अनुभूति पैदा करती है। लेकिन कृतिम निर्मित पहचान राजनैतिक गतिशीलता तथा स्पष्टीकरण में प्रासंगिक हो जाती है। इस तरीके से पश्चात् वाले समूह के ज्यादातर सदस्य धीरे–धीरे बडी पहचान वाले समूह से लाभ उठाना शुरू कर देते हैं और अपनी पहचान उसी समूह के सदस्य के रूप में बनाने लगते है। इसका बहुत ही मनोरंजक उदाहरण यादविस्तान के मामले का है। बिहार तथा उ0प्र0 में जहॉ कहीं भी अहीर,अभीर,भूसीवाला, दूधिया, ग्वाल, गोप, मण्डल थे, सभी आपस में संगठित हो गये और इन लोगो ने अपनी पैतृक पहचान 'यादवों' के रूप में बना ली। इसलिये इन राज्यों में यादवों का प्रतिशत काफी सीमा तक बढ़ गया। इसी प्रकार हिन्दी पट्टी में भाषायी पहचान के मामले लिये जाय तो बहुत सारे भाषायी समुदाय के लोगों ने वर्षों के अन्तराल में अपनी पहचान एक हिन्दी भाषा बोलने वाले के हिस्से के रूप में बना ली। इस प्रकार बृज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी तथा राजस्थानी जिनको इतिहास में भाषाओं का पूर्ण अस्तित्व प्राप्त था, वर्षों के बाद मात्र हिन्दी की पारंपरिक बोली बन गया। 1961 के अन्तिम समय तक राजस्थानी भाषायी जनगणना में एक स्वतन्त्र भाषा थी। फिर भी, जहॉ तक हिन्दी पहचान का मामला है यह बहुत ज्यादा मात्रा में राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रही है और राष्ट्रीय सांस्कृति मुख्य धारा की पहचान बनाने में इतनी गतिशील थी कि इसे हिन्दी पहचान का नाम दे दिया गया। हालांकि इसमें कुछ कमियां थीं।

झारखण्ड तथा उत्तरांचल का मसला उससे भी ज्यादा मनोरंजक है। झारखण्ड में चूँकि झारखण्डियों के पास गणितीय बहुलता थी इसलिये उन्होंने अपने स्वायत्त कबीलों पर इस बात के लिये दबाव डाला कि वो सामान्य तथा विस्तृत झारखण्डी पहचान में विलीन हो जाय। इसीलिये मुण्डा, ओरांव, होरो, संथाल तथा बहुत सारे दूसरे छोटे कबीले वर्षो के बाद सम्पूर्ण झारखण्डी पहचान में सम्मिलित हो गये। केवल इतना ही नहीं बहुत सारे इस प्रकार के कबीलाई निवासीगण जो सदान समुदाय के थे, को भी झारखण्डी पहचान में जोड़ दिया गया ताकि समूह की गणितीय शक्ति बढ़ जाय।

पिछले कुछ दशकों में उत्तरांचल की पहाडियों में ऐसा ही विकास प्रारम्भ हुआ। यद्यपि एक पृथक पहाडी राज्य की मांग स्वतन्त्रता से बहुत पहले रखी गयी थी और बाद में कामरेड पी0सी0 जोशी ने 1950 के दशक में यह मांग रखी। तब से अभी तक पहाड के रहने वाले लोगों

की पहचान एक गढवाली, कुमांऊनी तथा जौनसारी आदि के रूप में होती है, जिसमें से शुरू के दो अपने इतिहास परंपराओं तथा व्यक्तिगत विचारधाराओं के आधार पर बिल्कुल अलग है। फिर भी, एक एकाकी संघर्ष पिछले डेढ दशकों में छेडा गया जिसने इन .सभी पहचानों को सामान्य उत्तराखण्डी पहचान के रूप में परिवर्तित कर दिया। कोई भी गढ़वाली तथा कुमाऊँनी भेदभाव की बात नहीं करता है बल्कि पूरा जोर इस बात पर दिया जाता है कि मैदानों मे रहने वाले लोगों के खिलाफ तथा तुलना में इन लोगों की सहभागीदारी के पीछे जो आपसी विरोधाभाष अथवा वर्षों से चली आने वाली राजनीतिक प्रतिद्धंदिता थी उसे एक ओर रख दिया गया और बडी ही आसानी से उसे नकार दिया गया।

ऐसी क्या बात थी जिसने क्षेत्रीय पहचान के निर्माण के लिये एक शक्तिशाली व्यवहार को संभव बनाया ? इसके विपरीत ऐसी क्या बात थी जिसने दूसरे समूहों को ऐसी पहचानों को टालना मुश्किल कर दिया और अन्त में विभिन्न प्रकार के सामाजिक, भाषायी, सांस्कृतिक तथा आर्थिक तत्वों का इस तरह की पहचान बनाने में या न बनाने मे क्या योगदान रहा ?

लगभग तीन दशक पहले एक राजनीतिक वैज्ञानिक इकबाल नरायण[2] ने यह तर्क दिया था कि क्षेत्रवाद को बढाने में जाति, भाषा, धर्म, भूगोल, इतिहास आदि महत्वपूर्ण योगदान करते है। उन्होंने पुनः जोड़ा–सारी आर्थिक नाराजगी का एक कारक तत्व होता है जो एक धारा (प्रवाह) का संचार करता है। विभिन्न प्रकार के पहचाने जाने वाले तत्वों के योगदान को समझने पर जिनका गुप्त रूप से फायदा मिलता है, ऐसा लगता है कि आर्थिक तत्व एक आवश्यक तत्व है लेकिन पर्याप्त तत्व नहीं है। यह अकेला क्षेत्रीय पहचान को सफलतापूर्वक बनाने में कभी सफल नहीं हो सकता है। इसीलिये विभिन्न स्तरों पर क्षेत्रीय पहचान की व्याख्या या वर्णन में 50वें, 60वें तथा बाद में 80 व 90वों के दशक में जाति, धर्म तथा भाषा जैसे तत्व काफी प्रभावशाली रहे हैं। लेकिन साथ ही साथ बहुभाषी राज्यों में इनकी पृष्ठभूमि में आर्थिक अलगाव के आरोप की विचारधारा भी थी। इसमें पुनः जोर दिया जा सकता है कि यहाँ पर 'विचारधारा' एक व्यक्तिगत चेतना है न कि 'वस्तुपरक वास्तविकता' जो कि क्षेत्रीय पहचान को बनाने में महत्वपूर्ण है। यह वहीं व्यक्तिगत विचारधारा है जो गतिशील समूहों के अन्दर राजनीति में आवाज बनाने का अहसास कराती है।

यह सत्य है कि वस्तुगत दशायें किसी भी व्यक्तिगत विचारधारा के विकास के लिये हमेशा महत्वपूर्ण होती है। यह वस्तुपरकता काफी सीमा तक वस्तुगत स्थितियों के मामले मे व्यक्तिगत विचार विस्तृत करती है। यह इन अर्थों में है जैसा कि हमने पहले ही स्थापित किया है कि सभी पहचाने कृतिम रूप से निर्मित होती है और वो राजनैतिक भी होती है। इसको दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह एक विशेष सीमाओं के अन्दर रहने वाले (जिसके सम्बन्ध में विभेद रहता है) समूह का राजनीतिकरण है जो इस समूह के सदस्यों को काफी सक्रिया बना देता है और इस तरह यह संभव कर देता है कि वो इस तरीके से कार्य करे कि वे सार्वजनिक क्षेत्र में अपने खुद का अधिकार (कब्जा) बनाने के लिये व बढ़ाने के लिये संघर्ष करें।

2. नारायन, इकबाल (1976), *"कल्चरल प्लूयरिज्म, नेशनल इन्टीग्रेशन एण्ड डेमोक्रेसी इन इण्डिया"*, एशियन सर्वे,

इस क्रम में संक्षेप में, यह भी चर्चा करनी होगी कि इन पहचानों को बढ़ाने में राजनीतिज्ञों का यदा–कदा क्या योगदान होता है, जबकि राजनीति अपने संकीर्ण अर्थों में इसको कमजोर बनाने का काम करती है और राजनीतिज्ञ इस तरह की पहचानो का लाभ राजनैतिक पूंजी के रूप में उठाते हैं। लेकिन इनका योगदान इस अस्पष्ट सीमाओं वाली पहचानों को तेज तथा विशुद्ध बनाने से ज्यादा कुछ नही होता है। वास्तव में राजनीतिज्ञ प्रायः एक सहायक अनुसरणकर्ता का सा योगदान करते हैं जो राजनैतिक रणनीति को लागू करता है। जो पहले से ही क्षेत्रीय जुनून के द्वारा बनायी जा चुकी है। बाद में यह केवल संगठित शक्तिशाली तथा उपलब्ध राजनैतिक दलों के उपकरणों द्वारा श्रृंखलावद्ध हो जाती है लेकिन यह जुनून तथा भावनायें आवश्यक नहीं है कि आरम्भ में इन राजनीतिक दलों के द्वारा आरम्भ की गई हों।

कोई भी भाषायी राज्यों की पुरानी कहानियां देख सकता है जो भारत की आजादी के तुरन्त के बाद के वर्षों में हुयी। केन्द्रीय नेतृत्व को न केवल इन भाषायी राज्यों के निर्माण में अरूचि थी बल्कि यहॉ तक कि वास्तव में इनके प्रति काफी शत्रुतापूर्ण (कठोर) थे। उनके विचारों में इस तरीके की क्रियायें विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रान्तों के अन्दर प्रोत्साहित करेगी जो राष्ट्रीय अविच्छिन्नता के लिये विरोधी होगा। यह तो राजनैतिक भावनाओं का भयंकर दबाव था जो क्षेत्रीय राजनैतिक परम्पराओं के द्वारा श्रृंखलाबद्ध तथा संग्रहीत हुआ था जिसकी वजह से केन्द्रीय नेताओं को इस दबाव के आगे झुकना पड़ा। जैसा कि महाराष्ट्र के मामले में हुआ जहॉ कांग्रेस की हार ने अन्त में कांग्रेसी नेतृत्व पर नई दिल्ली में दबाव डाला कि वह संयुक्त महाराष्ट्र की मांग पर ध्यान दें। पंजाब के मसले को भी जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु के बाद तक ध्यान नहीं दिया गया। लेकिन कांग्रेस पंजाब में द्विभाषी राज्य की नीति काफी समय तक नही चला पायी।

इन सभी मामलों में कांग्रेस का केन्द्रीय नेतृत्व हमेशा उदासीनता दिखाता रहा। भाषायी राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया में स्थानीय राजनीतिक नेतृत्व जो कि ज्यादातर मामलों में (सिर्फ पंजाब को छोडकर जहॉ पर अकालियों ने पंजाबी सूबे की भावना का संचार किया था) 1950 तथा 60 के दशक में कांग्रेस दल से आया था उसने केन्द्र पर केवल इसलिये दबाव डाला क्योंकि नेतृत्व स्वयं कठोर राजनैतिक दबाव में था जो उसके गहराइयों से जमे कार्यकर्ताओं द्वारा दिया गया था।

उत्तरांचल, झारखण्ड, विदर्भ या छत्तीसगढ़ और भी ज्यादा रहस्य खोलने वाले मसले हैं एक दल जैसे भाजपा जो एक मजबूत केन्द्रीय दल के रूप में उभरी और जो शुरू में छोटे राज्यों के निर्माण का हमेशा विरोध करती रही ने अपना दृष्टिकोण बदल दिया और इन राज्यों के निर्माण के समर्थन में तर्क देने लगी। उत्तरांचल के मामले में सभी राजनीतिक दलों को आरम्भ से ही पृथक राज्य के आन्दोलन से दूर रखा गया था। यह बात दूसरी है कि बात में राजनैतिक दलों ने इस आन्दोलन की औचित्यता को लेकर एक दूसरे के ऊपर आरोप लगाना शुरू कर दिया।

भारत में क्षेत्रीय पहचान का निर्माण दो स्तरों में हुआ पहला स्तर जो 1966 में पंजाब सूबे के निर्माण तक चली कि विशेषता यह थी कि इसमें क्षेत्रीय राष्ट्रवाद की राष्ट्र की मुख्य धारा के साथ राजनीतिक क्षेत्र के लिये वार्तायें हुयी। एक तरीके से ये क्षेत्रीय पहचान सामाजिक, सांस्कृतिक तथा

भाषायी तत्वो की सक्रियता का परिणाम थी, जो पृष्ठभूमि में कार्य करते थे। लेकिन साथ ही साथ राष्ट्रीयता की मुख्य धारा भी थी जो केन्द्र में संघीय सरकार के अन्दर काफी जोश के साथ राष्ट्रवाद की मुख्य धारा में काम कर रही थी। इसके विपरीत क्षेत्रीय मांगों का दूसरा स्तर 'पृथक राजनीतिक इकाई के लिये मांग' को देश में 1980 के दशक में महसूस किया और अभी भी पूर्णतः अलग तरीके से अनुभव कर रहा है, जहाँ पर केन्द्र ने अनचाहे रूप में सांस्कृतिक क्षेत्र के लिये संघर्ष करने वाली एकता देखी है। इसके विपरीत कुछ मामलों में जैसा कि उत्तरांचल मे था जहॉ साथ ही साथ एक मजबूत भावना इस बात पर भी जोर दे रही थी कि उसे केन्द्र शासित क्षेत्र बना दिया जाय। इसे पूर्णतः आर्थिक अलगाव के दृष्टिकोण से समझा जा सकता है जिसमें कोई आरोप सामाजिक या भाषायी भेदभाव का नहीं था जिन्हें पहचान बनाने वाला उत्प्रेरक तत्व माना जाता।

गैर भाषायी राज्यों के निर्माण का इतिहास जो बिना उनकी स्वयं की क्षेत्रीय पहचान के आधार पर किया गया का परिणाम यह हुआ कि ये इतने बडे हो गये थे कि वह संघीय सन्तुलन नहीं निर्मित कर सके थे। इसलिये कई बार विद्वानों ने इस बात की आवश्यकता पर चर्चा की कि उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश जैसे बडे राज्यों से छोटे राज्यों को काटकर अलग कर दिया जाय। रशीदुदीन खान जो भारतीय संघवाद के बहुत ही जाने माने विद्वान हैं, ने समय–समय पर तर्क दिया और कहा कि इसमें से कुछ राज्य जैसे– उत्तर प्रदेश तथा बिहार की कोई क्षेत्रीय पहचान नहीं है, वास्तव में यह अंग्रेजी साम्राज्यवादी नीतियों का उपहार है जिसमें भू–भागों को जीतकर धीरे–धीरे जोड़ा गया था।[3] उन्होंने उत्तर प्रदेश के बारे में तर्क दिया कि इसका इतना बड़ा अकार है कि यह लोकसभा तथा राज्यसभा में अपनी उपस्थिति से एक जोश भर देता है। इसे सांस्कृतिक आधार पर छोटी–छोटी इकाइयों में बांट दिया जाना चाहिये। भारत के 28 राज्यों में से कम जनसंख्या वाले 14 राज्यों को अगर एक साथ मिला दिया जाय तो जितनी उनकी जनसंख्या है उतनी केवल उत्तर प्रदेश की जनसंख्या है।

अतः इस सन्तुलन को पुर्नस्थापित करने के लिये यह तर्क दिया गया कि राज्य को बांट दिया जाय। हालांकि रशीदुद्दीन खान का यह तर्क कोई नया नहीं है। यहाँ तक कि अपने अस्वीकृत पत्र में श्री राजगोपालाचार्य (1956), के0एम0पणिक्कर ने भी मुख्य रूप में इसी आधार पर उत्तर प्रदेश के बंटवारे को प्रस्तावित किया था। इन बड़े राज्यों में पुनर्गठन के लिये प्रायः इसलिये सलाह दी गई ताकि इन पिछड़े हुये राज्यों की आर्थिक विकास की गति में तेजी आये और इसके लिये प्रशासन को ज्यादा से ज्यादा जिम्मेदार बनाया जाय।

वास्तव में उत्तर प्रदेश तथा कुछ अन्य दूसरे हिन्दी राज्यों के पुनर्गठन की मांग उनके राज्य से नहीं आयी थी, बल्कि इन राज्यों के बाहर से कुछ बुद्धिजीवियों तथा राजनीतिक नेताओं ने की और शायद यह मुख्य रूप से वास्तव में इन कारणों पर आधारित थी कि यहां पर कोई अलग भाषा वाली परम्परा की पहचान बनाने वाली व्यक्तिगत विचारधारा इन विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक क्षेत्रों वाले राज्यों में न थी और न ही ऐसी किसी पहचान से वास्तव में फर्क पड़ता था। जैसा कि पहले

3. खान, रशीदुद्दीन संपा0 (1992), *रेटिंग इण्डियन फेडरलिज्म*, शिमला, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी, पृ0 253–263 ।

भी तर्क दिया जा चुका है कि कोई पहचान केवल वस्तुपरक स्थितियों से नहीं बनती है बल्कि उसके चारो ओर मौजूद जनसंख्या की राजनैतिक गतिशीलता से बनती है और यही पहचान बनाने वाली विशिष्ट इकाई की सीमाओं का रेखांकन करती है।

हिन्दी पट्टियों की एक मजबूत केन्द्रीकृत राजनैतिक संस्कृति ने सामान्यतया इस तरीके की चीजों का कार्य करना बहुत कठिन बना दिया। केवल उत्तरांचल का मामला इस सम्बन्ध में ऐसा है जिसने काफी देर बाद सफलता पायी। यह याद रखना होगा कि राज्य चाहे छोटा हो या बड़ा भारत में इसका निर्माण किसी ऐसी बौद्धिकता के आधार पर नहीं हुआ है जिसमे प्रशासनिक उत्तरदायित्व को अथवा आर्थिक विकास को ज्यादा से ज्यादा गतिशील बनाने के लिये जोर दिया गया हों। पहचान की बात अन्य तत्वों की अपेक्षा इन निर्माणों के पीछे एक महत्वपूर्ण कारक होता है। कभी–कभी इसे अन्यथा ले लिया जाता है। वास्तव में पंजाब तथा हरियाणा की कहानी ने आर्थिक मुद्दे पर तथा बाद में केरल ने सामाजिक मुद्दे पर सफलता पायी इसलिये यह फैशन सा बन गया है कि विद्वान छोटे राज्य के बारे में ऐसी बातें उछालने लगें।

तर्क में कुछ कमियां है क्योंकि इन राज्यों की सफलता पूरी की पूरी उनके आकार के छोटेपन पर नहीं थी, बल्कि काफी मात्रा में पजाब और हरियाणा ने हरित क्रान्ति की सफलता के कारण अर्जित की थी जिनके तथ्य उनके निर्माण में ही एक दूसरे से मेल खाते थे तथा केरल के मामले में राजनैतिक तथा ऐतिहासिक तत्व जैसे महाराजा ट्रावनकोर की राजनैतिक वादे की ऐतिहासिक परम्परा और कोचीन में साक्षरता का विकास जिसमें ईसाई मिशनरियों का सहयोग था जिसके लिये सागर का मार्ग महत्वपूर्ण ढंग से खोला गया था। किसी मामले में उनका छोटा अकार कभी भी जान–बूझकर विकास की सुविधाओं का आधार नहीं था। यही कारण था जब उनकी सफलताओं की कहानियॉ बुद्धिजीवियों तथा मध्यवर्गी पढ़े–लिखे लोगों के बीच पहुँची तो 'छोटा सुन्दर होता है' का तर्क बहुतों ने गहराई से नहीं लिया। यह एक गलत विश्वास है कि प्रशासनिक क्षमतायें लोकप्रियता बढ़ाती है जैसा कि कुछ विद्वानों ने विरोधाभाषी तरीके से छोटे राज्यों का विरोध प्रस्तुत किया है[4] क्योंकि उनके मत में छोटे राज्य अपने विकास की समस्याओं को हल नहीं कर पाये हैं।

उत्तर प्रदेश में क्षेत्रीय देशभक्ति और क्षेत्रीय गर्व की भावना के अभाव होने के कारण (वह पिछड गया) जनता के बीच में किसी भी प्रकार की गतिशीलता सम्भव नहीं है। यहॉ तक कि हरियाणा तथा हिमाचल प्रदेश में पृथक राज्य बनने के परिणामस्वरूप उनमें एक क्षेत्रीय गर्व की भावना पैदा हुयी और उन्होंने अपेक्षाकृत बहुत तेजी से विकास किया। वास्तव में क्षेत्रीय गर्व लोगों को मनोवैज्ञानिक जंजीरों से तथा हीन भावना की पकड़ से मुक्त करता है जो कि सदियों के आर्थिक पिछड़ेपन के कारण उत्पन्न होती है।

ज्यादातर उत्तर प्रदेश के इन क्षेत्रों का इतिहास, संस्कृति तथा साहित्य नेताओं के अभाव में कमजोर सा बना रहा। उन्होंने कभी भी लोगों को अपने क्षेत्र के बारे में गर्व से नहीं बताया ताकि वे उस पर गर्व महसूस कर सके। पंजाबी या हरियाणवी किसान यह महसूस करते हैं कि वह देश

---

4. दत्ता, प्रभात (1995), *"अनस्टडी स्टेट्स एण्ड स्माल थ्योरीज"*, द टेलीग्राफ, दिसम्बर 4 ।

को 'भोजन दे रहा है'। उ0प्र0 का मजदूर जो इन राज्यों में खेत में काम करता है उसे केवल भलामानुष के रूप में जाना जाता है के कार्य को कोई प्रतिष्ठा अथवा मान्यता नहीं दी जाती है।[5]

यह आशा की जाती है कि एक पहचान बन जाने से कोई भी क्षेत्र हीन भावना या पागलपन से मुक्ति पा जाता है। यह सही विश्वास है कि "पहचान सामाजिक श्रेणियों की एक सीमायें प्रदान करती है ... और एक परिचालक के रूप में उत्प्रेरक भावनाओं को श्रेणीबद्ध करके गतिशीलता के तथ्य में बदलती है।"[6] पहचानें कोई मानसिक नहीं होती है जो पहले से निश्चित अविवेकपूर्ण तथा मूलभूत आधारों पर आधारित हों। बल्कि यह अजीबो–गरीब प्रकार का पारम्परिक समाज होता है, जो कभी–कभी मध्यम वर्ग के उत्थान से बनने वाली गतिशील परम्पराओं के कारण उत्पन्न होता है। इसके विपरीत पहचानों का निर्माण समाज में एक विशेष चीज होती है जो तेजी से होने वाले विकास की गति में एक और भी अच्छे क्षेत्र को पाने के लिये कार्य करती है। अन्य शब्दों में, यह एक ऐसा उपकरण है जो लोगों को अस्तित्व रक्षा तथा अस्तित्व जैसे मुद्दों पर जोश संचार करता है।

---

5. शाह, राजीव लोचन (1997), *"उत्तराखण्डी भलामानुस होता है"*, नैनीताल समाचार, नवम्बर 1 ।
6. डीमरी, आलोक ए (1997), *उत्तराखण्ड मूवमेन्ट एण्ड द इश्यूज ऑफ मोबलाइजेशन*, एम.फिल. डिजरटेशन, अप्रकाशित, नई दिल्ली, जे.एन.यू., पृ. 22।

अष्टम् अध्याय
निष्कर्ष
एवं
सुझाव

निष्कर्ष एवं सुझाव

जन्मभूमि से प्रेम अथवा किसी जगह या क्षेत्र या राज्य, उसकी भाषा और संस्कृति के प्रति प्रेम या लगाव का अर्थ पृथकतावाद नहीं है और न ही राष्ट्र के लिये वह खतरनाक होता है। वह राष्ट्र भक्ति और राष्ट्र प्रेम के साथ सुसंगत होता है। अपने राज्य अथवा क्षेत्र के प्रति गौरव महसूस करना भी पृथकतावाद नहीं है। एक व्यक्ति अपनी अलग क्षेत्रीय पहचान के प्रति सचेत और गौरवान्वित हो सकता है। अपने तमिल या पंजाबी या बंगाली या गुजराती होने का गर्व भी बिना किसी दूसरे क्षेत्र के लोगों के प्रति अनादर अथवा शत्रुता की भावना के और अपने भारतीय होने पर उतना ही गौरव महसूस करते हुए भी हो सकता है। यह बात 1909 में गांधी जी द्वारा स्पष्ट तौर पर कहीं गई थी : ''भारतीय के रूप में मेरे गौरव के आधार स्वरूप मुझे अपने गुजराती होने पर भी उतना ही गर्व होना चाहिये। नहीं तो हम लोग बिना किसी जड के रह जायेंगे''।

भारत जैसे विशाल और विभिन्नता वाले देश में राजनीतिक पहचान और निष्ठा कई स्तरों पर काम कर सकती है और लगातार अपने दायरें का विस्तार कर सकती है। जैसा कि गांधी जी ने कहा था, ''व्यक्ति को परिवार के लिये मरना पडता है, परिवार को गांव के लिये मरना पड़ता है, गांव को जिला के लिये, जिला को राज्य के लिये और राज्य को देश के लिये मरना पड़ता है।'' गांधी जी इससे भी आगे चले गये और उन्होंने कहा कि एक देश ''यदि आवश्यकता पडे तो दुनिया के फायदे के लिये मर सकता है।''

इसी तरह अपने क्षेत्र अथवा राज्य को विकसित करने के लिये विशेष प्रयास करने या गरीबी दूर करने, सामाजिक न्याय दिलाने की कोशिश को पृथकतावाद के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता। यहां तक कि इस प्रकार के सकारात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति पर आधारित थोड़ी अंतर्क्षेत्रीय प्रतियोगिता काफी स्वस्थ चीज हो सकती है। वास्तव में हम लोगों में यह जितनी होनी चाहिये उससे काफी कम ही है। मातृभूमि से प्रेम लोगों को जाति या धार्मिक समुदायों के प्रति खतरनाक लगाव से अलग हटाकर एक सकारात्मक भूमिका भी निभा सकता है।

संविधान की संघीय विशिष्टताओं की हिफाजत करने को भी उग्र क्षेत्रीयतावाद के रूप में नहीं देखा जाना चाहिये। भारत संघ के अन्दर एक अलग राज्य की मांग अथवा किसी मौजूदा राज्य के अन्दर स्वायत्त क्षेत्र की मांग अथवा नीचे राज्य स्तर तक सत्ता और शक्ति का विकेन्द्रीकरण, आदि का विरोध कई व्यावहारिक परेशानियों के आधार पर किया जा सकता है परन्तु इसे तब तक पृथकतावादी नहीं माना जा सकता जब तक कि इसे राज्य की शेष जनता के विरूद्ध शत्रुताभाव से सामने नहीं रखा जाता। पृथकतावाद का मामला तब हमारे सामने आता है जब एक राज्य अथवा क्षेत्र के हितों को पूरे देश अथवा दूसरे क्षेत्रों या राज्यों के विरूद्ध प्रस्तुत करने की कोशिश की जाती है और ऐसे तथाकथित हितों के आधार पर संघर्ष को प्रोत्साहित करने की कोशिश की जाती है।

पार्थक्यवादी विचारधारा भारत में तभी फल–फूल सकती थी, जब किसी क्षेत्र अथवा राज्य को यह महसूस होता है कि उसके ऊपर सांस्कृतिक वर्चस्व या भेदभाव आरोपित करने की कोशिश की

जा रही है। सेलिंग हैरिसन नामक अमरीकी विद्वान और पत्रकार ने 1960 में अपनी प्रसिद्ध कृति 'इंडिया–द मोस्ट डेंजरस डीकेड्स' में भारतीय एकता पर बहुत बडे खतरे की बात कही, क्योंकि उनके अनुसार राष्ट्रीय सरकार और क्षेत्रों के बीच संघर्ष का एक वास्तविक खतरा क्षेत्रों द्वारा अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान के लिये दबाव डालने के कारण पैदा हो रहा था। परन्तु नेहरू के शब्दों में दरअसल भारत देश भारतीय सांस्कृतिक विभिन्नता को न केवल अपने अंदर समाहित करने बल्कि उन्हे गौरव की वस्तु बनाने में काफी सफल रहा है। भारत के विभिन्न सास्कृतिक क्षेत्रों की अपनी पूर्ण सांस्कृतिक स्वायत्तता रही है और अपनी सांस्कृतिक महत्वाकाक्षाओं की संतुष्टि पूरी तरह उनके अधिकारों के अन्तर्गत ही है। भारत का भाषाई पुनर्गठन और राजभाषा विवाद के समुचित समाधान ने इस मामलें में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है ; इसने इनके सांस्कृतिक ह्रास या सांस्कृतिक वर्चस्व की भावनां को समाप्त कर अतर्क्षेत्रीय संघर्षो के एक बहुत बडे कारण का उन्मूलन कर दिया।

निश्चय ही कई क्षेत्रीय विवाद अभी बने हुए हैं और ये राज्यों के बीच शत्रुतापूर्ण भावना को हवा देने की क्षमता भी रखते हैं। नदी जल बंटवारे को लेकर कई राज्यों के बीच तीखे विवाद पनप चुके हैं। जैसे–तमिलनाडु और कर्नाटक, कर्नाटक और आन्ध्र, पंजाब– हरियाणा और राजस्थान आदि राज्यों के बीच झगड़े इसके उदाहरण हैं। भाषाई राज्यों के निर्माण के फलस्वरूप कई राज्यों के बीच सीमा विवाद पैदा हुए हैं ; जैसे–बेलगाम और चण्डीगढ़ सम्बन्धी विवाद। बिजली एवं सिंचाई के लिये बडे बांधों का निर्माण भी राज्यों के बीच विवाद और संघर्ष की परिस्थितियां पैदा करता है। परन्तु जहॉ एक तरफ ये संघर्ष लम्बे समय तक बने रहते हैं और समय–समय पर उत्तेजना पैदा करते हैं, वहीं दूसरी तरफ सम्पूर्ण रूप से देखा जाय तो संकीर्ण और यहां तक कि स्वीकार्य सीमाओं मे निहित रहे हैं और अधिकाशंतः केन्द्र सरकार ऐसे विवादों में मध्यस्थ की भूमिका निभानें में सफल रही है। हालांकि इसके कारण कभी–कभी एक या दूसरे पक्ष का कोपभाजन भी इसे बनना पड़ा है, फिर भी तीखे अंतर्क्षेत्रीय संघर्षों को रोकने में इसे सफलता मिली है।

राष्ट्रीय एकता और समन्वय की दृष्टि से कहीं ज्यादा गम्भीर समस्या राज्यों और क्षेत्रों के बीच आर्थिक असमानता की समस्या रही है। पर असंतोष उत्पन्न करने और राजनीतिक व्यवस्था पर भारी दबाव पैदा करने के बावजूद इस समस्या ने सामान्यतया अब तक किसी क्षेत्र में पृथकतावाद की भावना उत्पन्न नहीं की है।

अखिल भारतीय स्तर पर क्षेत्रीय विषमताओं का दूर न हो पाने का मुख्य कारण आर्थिक विकास की निम्न दर रही है। विषमता उन्मूलन प्रभाव के लिये राष्ट्रीय विकास की उच्च दर एवं उसके वितरण में सामानता स्थापित करने की आवश्यकता होती है ताकि विशाल राजस्व इकट्ठा किया जा सके और उसे पिछड़े क्षेत्रों के विकास पर बिना राष्ट्रीय विकास की दर को प्रभावित किये बढ़ाया जा सके। जनसंख्या की उच्च विकास दर के कारण भी देश की आर्थिक वृद्धि दर कमतर होती चली गयी। मात्र पिछले कुछ वर्षों में ही यह सम्भव हो पाया है कि अर्थव्यवस्था की विकास दर 7 प्रतिशत तक पहुंच गयी, जबकि जनसंख्या वृद्धि की रफ्तार धीमी होने लगी है। अन्यथा यह 1970 के दशक तक 3.5 प्रतिशत और 1980 के दशक में 5 प्रतिशत के करीब रही है। इसलिये हो

सकता है कि आने वाले दिनों में हमें आर्थिक असमानता में गिरावट देखने को मिले, बशर्तें क्षेत्रीय विकास के लिये सही नीतियों का पालन जारी रखा जाय। हम यह भी महसूस कर सकते हैं कि कुछ राज्यों के पिछडेपन का कारण बहुत हद तक उनके अपने आतरिक सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक संगठनों की निम्न कार्यकुशलता हो सकती है। इस स्थिति के लिये जिम्मेदार एक अन्य कारण कुछ पिछड़े राज्यों में राजनीतिक और प्रशासनिक तन्त्र का असफल हो जाना भी देखा जा सकता है।

विकास की असमान गति के कारण उत्पन्न क्षेत्रीय विषमता प्रत्येक राज्य के अन्दर भी विभिन्न जिलो के बीच दिखाई देती है। कई संदर्भों में यह असमानता तनाव का स्रोत भी बन गयी है और उप क्षेत्रों में भारतीय संघ के अन्दर अलग राज्य की मांग को लेकर या उसी राज्य के अन्दर स्वायत्त क्षेत्र की स्थापना के लिये उसने भारी आन्दोलनों को भी जन्म दिया है। कई बार सिर्फ विशेष सहायता, रोजगार और शिक्षा के मामले में विशेष सुरक्षा तथा अधिक वित्तीय संसाधनों के लिये भी आन्दोलन हुए हैं। इन उप–क्षेत्रीय भावनाओं का उदाहरण आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र, मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश में उत्तरांचल और बुन्देलखण्ड, पश्चिम बंगाल में दार्जिलिंग क्षेत्र या गोरखालैण्ड, आसाम में बोडोलैण्ड तथा उड़ीसा में पुराने रजवाड़ों के इलाके में देखे जा सकते हैं।

मोटे तौर पर भारतीय संघ के अन्दर जनजातीय लोग अपने को सुरक्षित महसूस करते हैं जिसमें उनकी सांस्कृतिक और आर्थिक स्वायत्तता बनी हुई है। हालांकि छोटे–मोटे अलगाववादी और विद्रोही आन्दोलन अभी चल ही रहे हैं और मध्य–पूर्व भारत की जनजातियां उतनी बढ़िया स्थिति में नहीं हैं जितना कि पूर्वोत्तर भारत की जनजातियां है। यह गौर करना भी जरूरी है कि हर गुजरते हुए दिन के साथ जनजातीय लोगों की राजनीतिक शक्तियां और स्वयं जनजातीय समूह पहले से ज्यादा सशक्त होते जा रहे हैं।

जैसा कि पहले प्रस्तुत किया जा चुका है, स्वभावतः भाषा क्षेत्र और जनजातियों से सम्बन्धित सभी समस्यायें अभी तक पूरी तरह सुलझी नहीं है। अन्य देशों के साथ हमारे अपने ऐतिहासिक अनुभव ने यह साबित कर रखा है कि तीव्र सामाजिक परिवर्तन लगातार बढ़ते आपसी संघर्षों को जन्म देता है, क्योंकि अक्सर ऐसे परिवर्तन असमान होते हैं और विभिन्न सामाजिक समूहों, क्षेत्रों और राज्यों को असमान रूप से प्रभावित करते हैं। यहां तक कि भाषा समस्या भी आने वाले सभी समयो के लिये नहीं सुलझायी जा सकी है और भविष्य में भाषाई अहंकारवाद एक गम्भीर खतरे के रूप में सिर उठाने की क्षमता रखता है। प्रवासियों की समस्या, राज्य के प्रमुख भाषाई समूहों द्वारा भाषाई अल्पसंख्यको को भेदभावपूर्ण व्यवहार करने तथा 'धरती के बेटे' दर्शन में अब भी काफी विस्फोटक सम्भावनायें बची हुई है। क्षेत्रीय विषमता भी इस मामलें में कोई कम नहीं है।

भारतीय नेतृत्व ने यह बात साफ कर दी थी कि वे किसी भी प्रकार के अलगाववादी आन्दोलन को बर्दाश्त नहीं करेंगे और देश के किसी हिस्से को अलग नहीं होने देंगे। आवश्यक होने पर यथोचित शक्ति के साथ ऐसे आन्दोलनों को कुचल डालेंगे। उसी समय यह भी कहा गया कि

कोई भी उचित मांग, जो संविधान के मूल ढाँचें के अन्दर और विशाल आबादी द्वारा समर्थित हो, जिसके समर्थन की पुष्टि चुनावों और अहिंसक आन्दोलनो द्वारा की जा चुकी हो, उस पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जायेगा और जहां तक सम्भव हो, उसे मान लिया जाएगा।

भारतीय नेतृत्व द्वारा यह महसूस किया जाना भी महत्वपूर्ण है कि भारतीय एकता को प्रोत्साहित और सुरक्षित रखने के लिये मजबूत और शक्तिशाली राज्य एवं केन्द्रीय सरकार आवश्यक है। एक शक्तिशाली केन्द्र ही राज्यों का भाषाई आधार पर पुनर्गठन कर सकता था जबकि राज्यों में शामिल किये जाने वाले इलाकों के ऊपर भारी विवाद चल रहा था। सिर्फ मजबूत राष्ट्रीय सरकार ही भारत की सांस्कृतिक बहुलता को बनायें रख सकती है और सांस्कृतिक, जनजातीय, भाषायी एवं अन्य अल्पसंख्यक तथा आतंरिक प्रवासियों को राज्य के वर्चस्वकारी सामाजिक समूह तथा राज्य सरकारों के भेदभावपूर्ण व्यवहार से बचा सकती है, साथ ही भारतीय नागरिकों के देश के विभिन्न भागों में जाने–आने की गारन्टी दे सकती है।

एक मजबूत राष्ट्रीय सरकार ही क्षेत्रीय विषमताओं को दूर करने के लिये आर्थिक एवं अन्य कदम उठा सकती है, खासकर जबकि इनमें केन्द्रीय संसाधनों और निवेशों के आवंटन, उद्योगों के स्थान निर्धारण तथा निजी क्षेत्रों द्वारा निवेश के लिये निर्देशों और प्रलोभनों का प्रश्न जुड़ा हुआ हो। पिछड़े राज्यों में आर्थिक विकास की दर तीव्र करने, समृद्ध राज्यों से गरीब राज्यों को संसाधनों के हस्तान्तरण और श्रमिकों की बहुलता तथा गरीब इलाकों से श्रमिकों के अभाव वाले क्षेत्रों की तरफ प्रवाह को प्रोत्साहित करना शक्तिशाली केन्द्रीय हस्तक्षेप के बिना सम्भव नहीं है। जनजातियों को समाप्त होने से बचाने, समाज के गैर जनजातीय तबकों द्वारा उनको शोषण से बचाने तथा जनजातीय लोगों को अपने तरीकों और रफ्तार से विकसित होने देने के लिये भी मजबूत राष्ट्रीय सरकार अनिवार्य है। सिर्फ शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार ही संसाधनों के लिये युद्ध तत्पर राज्यों के बीच मध्यस्थता के योग्य हो सकती है।

इस मामले में गलतफहमियों को दूर करने के लिये यह समझ लेना बहुत जरूरी है कि शक्तिशाली राज्य का अर्थ निरंकुश राज्य नहीं होता है। न ही शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार का अर्थ कमजोर राज्य स्तरीय सरकारें होती हैं जो संविधान के संघीय प्रावधानों को ताक पर रखकर काम करे। सघवाद का अर्थ कमजोर राष्ट्रीय सरकार नहीं होता। इसका अर्थ होता है, हावी न होने वाली ऐसी राष्ट्रीय सरकार जो राजनीति के संघीय ढ़ाँचे की अवहेलना न करें। यह राज्यों के मजबूत बनने की प्रक्रिया को राष्ट्रीय सरकार के लिये समर्थन के रूप में देखें। इसलिये एक विकासशील देश में एक राष्ट्रीय जनसत्ता के लिये जनवादी परन्तु शक्तिशाली सरकार, जिसमें संघीय विशिष्टतायें हों, बहुत आवश्यक है।

यहीं कारण था कि स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान हमारे समाज ने एक ऐसी राजव्यवस्था की स्थापना का सपना देखा था जिस पर जनता का अंकुश होगा तथा जिसकी रचना एवं संचालन में जनता की अधिकतम् सहभागिता होगी। इसीलिये भारतीय जनता ने सुदूर लंदन में स्थापित बिट्रिश संसद एवं अतिनिकट स्थित देशी राजवंशों को समान रूप से अस्वीकार किया। एक में आधुनिक

अन्यायों की बहुलता थी और दूसरें में पम्परागत स्वच्छन्दता का दोष था। स्वाधीनोत्तर संविधान ने प्रत्येक वयस्क भारतीय की राजनीतिक समानता तथा मौलिक अधिकारों की गारन्टी की बुनियाद पर गतिशील संघात्मक संसदीय जनतन्त्र की स्थापना की शुरूआत की, लेकिन विगत दिनो में हुए आर्थिक–राजनीतिक परिवर्तनों से इस स्वरूप की कई कमियां सामने आ चुकी हैं। अत. भारतीय गणतन्त्र की शासन व्यवस्था को स्वाधीनता आन्दोलन के संकल्पों तथा एक प्रगतिशील जनतन्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल बनाने के लिये पुनर्गठित करना आवश्यक हो गया है। क्योंकि क्षेत्रीय विफलता तथा सांस्कृतिक अस्मिता की संयुक्त चेतना से भारतीय राष्ट्र की अब तक की केन्द्रोन्मुख परिभाषा को सीमांत प्रदेशों, तटीय प्रदेशों तथा मध्य देश के क्षेत्रों में आत्मसात् नहीं किया जा सका है। अतः केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को त्यागतें हुयें एक विकेन्द्रित राज्य संरचना की तरफ कदम उठाने की जरूरत है। भारतीय राष्ट्रीयता की नयी जरूरतों के अनुकूल हमारी प्रशासनिक व्यवस्था के पुनर्गठन के प्रति उन्नत नयी राष्ट्रीय सहमति को क्रियान्वित किये बिना हम राष्ट्र निर्माण की दिशा में उत्पन्न अवरोधों का निराकरण नहीं कर सकते।

वर्तमान में उन अनेक क्षेत्रों में जो पुनर्गठन के वक्त अपने मूल राज्यों से जुड़े थे, वहाँ अलग राज्य की मांग हो रही है। दरअसल देखा जाय तो इसके कारण, राज्यों के निर्माण और उसकी विकास नीति के गर्भ में ही मौजूद रहे हैं। 1956 में भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन कर इसे समस्या का इति श्री मान लिया गया। बाद में यह भाषाई पुनर्गठन पर्याप्त साबित नहीं हुआ और इसकी सीमायें उजागर होने लगी। क्षेत्रीय विषमता से प्रभावित समूहों का असन्तोष और उपभाषा (बोली) का प्रभाव उजागर होने लगा। इसका मुख्य कारण अंग्रेजी राज के बाद भी उसी शैली पर देश में शासन एवं विकास की प्रक्रिया को स्थापित करना रहा है।

असंतोष का दूसरा कारण अदूरदर्शितापूर्ण गठित राज्यों में आन्तरिक समरसता का अभाव है। क्योंकि इनमें स्थानीय अस्मिता और परम्परा अलग–अलग प्रकार की रही है। यही कारण है कि भाषायी आधार पर राज्यों का गठन हो जाने के बावजूद छत्तीसगढ़, उत्तराखण्ड और झारखण्ड की जनता भोपाल, लखनऊ और पटना से मानसिक तौर पर जुड़ नहीं सकी। यही उप–सांस्कृतिक भिन्नता अति लघु राज्य बन जाने के बाद भी पूर्वोत्तर के राज्यों में है। यहाँ भिन्नता छोटे कबीलों के स्तर पर है, जहाँ सात राज्य बन जाने के बावजूद इन लघु इकाइयों के अन्दर और भी मौजूद उपध् ाारायें, जो वर्तमान केन्द्रीकृत शासन की नीति में अपने आपको समायोजित नहीं कर सकी हैं, में और छोटे स्तर के क्षेत्रीय हित समूह समय पाकर अपने को अलग करने का आन्दोलन चलाते रहे हैं।

इसके साथ ही आकार की दृष्टि से भी देखा जाय, तो छोटे और बड़े राज्यों में गहरी असमानता है। क्षेत्रफल की दृष्टि से देश के तीन सबसे छोटे राज्य गोवा, सिक्किम और त्रिपुरा है जिनका क्षेत्रफल क्रमशः 3702 वर्ग किमी0, 7096 वर्ग किमी0 और 10486 वर्ग किमी0 है। जनसंख्या की दृष्टि से सबसे कम आबादी वाले राज्य सिक्किम, मिजोरम और अरूणाचल प्रदेश हैं जिनकी आबादी क्रमशः 5.4 लाख, 8.9 लाख और 10.9 लाख है। दूसरी ओर क्षेत्रफल की दृष्टि से बड़े आकार वाले तीन राज्य राजस्थान, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र है जिनका क्षेत्रफल क्रमशः 3.42,239 किमी0^2,

3,08,000 किमी0^2 और 3,07,713 किमी0^2 है तथा जनसंख्या की दृष्टि से तीन सबसे बडे राज्य उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और पश्चिम बंगाल हैं जिनकी आबादी क्रमशः 16.6 करोड़, 9.68 करोड़ और 8.2 करोड़ है।

स्पष्ट है कि इस बहुकोणीय समस्या से निबटने के लिये ऐसी नीति अपनाये जाने की आवश्यकता है, जो लोकतन्त्र और संघीय सरकार को मजबूत करने के साथ समस्या का स्थाई निराकरण प्रदान करें तथा हर क्षेत्र के असन्तोष को दूर कर सके। इसके लिये एक बहुआयामी प्रक्रिया अपनाने की जरूरत है– तृणमूल स्तर पर सत्ता के हस्तान्तरण से विकास की दिशा बदलना, केन्द्र राज्य सम्बन्धों की व्यापक दृष्टिकोण से समीक्षा करना तथा आवश्यकता पड़ने पर राज्यों के विभाजन पर पुनर्विचार करना शामिल है।

स्वत्तन्त्रता का अर्थ पिछले लगभग 55 वर्षों में आम आदमी के पक्ष में कितना रहा है इसे देश मे सुरसा के मुंह सी बढ़ती हुई बेरोजगारी और भ्रष्टाचार से होते हुये पंजाब, असम, बोड़ो, झारखण्ड, कश्मीर और पृथक राज्य आन्दोलनों के रूप में समझा जा सकता है। देश भर में हो रहे विभिन्न आन्दोलनों के अभिप्रेत में बदहाल साधारणजन की आत्मा का विद्रोह ही परिलक्षित होता है। यहां उल्लेखनीय है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग ने भाषा को आधार बनाकर राज्यों के पुनर्गठन की जो व्यवस्था दी, उससे भविष्य में भाषावार प्रान्त बनाने की मांग को लेकर हिंसात्मक आन्दोलनों की भूमिका तैयार हो गई। गोरखालैण्ड, बोडोलैण्ड, झारखण्ड व हाल ही मे उत्तरांचल आन्दोलन (राज्य गठन के पूर्व) खूनी संघर्ष के जिस दौर में पहुंचे, उसके पीछे राजनेताओं द्वारा इन क्षेत्रों के निवासियों की निरन्तर उपेक्षा ही प्रमुख कारण रहा है। इन आन्दोलनों को बिना इनकी पृष्ठभूमि में निहित तथ्यों के विश्लेषण किये ही पृथकतावादी या अलगाववादी कह देना अनुचित होगा। उचित तो यह है कि इन आन्दोलनों की रोशनी में केन्द्र व सम्बन्धित राज्य सरकारों के बुनियादी चरित्र को पूरे राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय, आज उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, असम, नागालैण्ड, मणिपुर, मिजोरम आदि सरीखे विभिन्न राज्यों के लोग किसी न किसी रूप में अपने को आहत महसूस करते हुये ही आन्दोलित हैं। पूर्वोत्तर राज्यों के कुछ आन्दोलनों पर तो उग्रवादियों की पकड़ मजबूत हो रही है। नेशनलिस्ट सोशलिस्ट काउन्सिल ऑफ नागालैण्ड के प्रशिक्षण केन्द्र वर्मा व बाँग्लादेश में हैं। मिजो नेशनल फ्रण्ट, त्रिपुरा वालेण्टियर फोर्स, यूनाइटेड लिबरेशन फ्रण्ट ऑफ असम (उल्फा) व बोड़ो सिक्योरिटी फोर्स काफी संगठित व उग्रवादी संगठन है। बांग्लादेश में बढ़ रही गरीबी और अकाल के कारण बड़ी संख्या में लोग पूर्वोत्तर राज्यों में आ रहे हैं। स्थानीय लोगों में इन विदेशी लोगों के खिलाफ भारी आक्रोश है। विदेशी के सवाल को लेकर 'आसू' ने लम्बे समय तक आन्दोलन चलाया था। अब इस आंदोलन की डोर उल्फा व बोडों सिक्योरिटी फोर्स के हाथों में है। बेरोजगार युवकों को इन उग्रवादी संगठनों में प्रमुखता से आश्रय मिलता है। सरकार का ढुलमुल रवैया व लचर नीति किसी भी मामलें को सर से पानी गुजर जाने की हद तक पहुंचाने की रही है। इस समय जिस दार्जिलिंग स्वायत्त परिषद की स्थापना के बाद क्षेत्र में शान्ति की आशा की जा रही थी, वही पुनः अब पृथक गोरखालैण्ड की मांग उठाने लगी है।

इसी प्रकार बोडो स्वायत्त संगठन का निर्माण जल्दबाजी में कर दिया गया है, लेकिन उसका सीमांकन नही हुआ है। समर्पण करने वाले उग्रवादी पुनः हथियार उठाने लगे है। इन लोगों को आसानी से विदेशी मदद व फिरौती में देशी पैसा सहज ही मिल जाता है। इस प्रकार जहाँ पूर्वोत्तर राज्यों में उग्रवाद की समस्या से निबटने के लिये आर्थिक विकास के दीर्घकालीन कार्यक्रमों की नितान्त आवश्यकता है, वहीं दूसरी ओर यह भी उतना ही विचारणीय है कि देश के अन्य राज्यों में पृथक राज्य की मांग कर रहे आन्दोलन कहीं उग्रवादियों के हाथों में पहुंचकर अलगाववादी रूख अख्तियार न कर लें।

देश के संविधान के भीतर नये राज्य की संकल्पना उत्तरांचलवासियों या इसी प्रकार के अन्य पृथक राज्य के आन्दोलनकारियों के दिमाग की उपज मात्र नहीं है। इण्डियन स्टेच्युटरी कमीशन ने 1930 में कहा था कि जो लोग एक ही भाषा बोलते हैं वे यदि ऐसा स्वावलम्बी क्षेत्र बना लें कि वह अपनी स्थिति और साधनों के बल पर पृथक प्रान्त की स्थिति को स्थिर रख सकें तो इसमें संदेह नही कि एक भाषा का प्रयोग प्रान्तीय पृथकता का प्रबल और स्वाभाविक आधार माना जायेगा। अविभाजित कम्युनिष्ट पार्टी ने 1952 में अपने घोषणा पत्र में कहा कि राज्यों के पर्याप्त अधिकार होने चाहिये और उनके आत्मनिर्णय के अधिकार को भी उनमें शामिल किया जाना चाहियें। स्वयं कांग्रेस पार्टी ने 1953 में कहा कि राज्यों के पुनर्गठन पर विचार करते हुयें भारत की एकता, राष्ट्र की सुरक्षा और प्रतिरक्षा, संस्कृति एवं भाषा, प्रशासनिक सुविधा, वित्तीय समस्याओं, आर्थिक समुन्नति इत्यादि सभी बातों को ध्यान में रखा जाना चाहियें। यहाँ सवाल खडा होता है कि कांग्रेस पार्टी अपनी इस राय और 1956 मे राज्य पुनर्गठन आयोग के सदस्य के0एम0पणिक्कर की उत्तर प्रदेश के विभाजन के पक्ष में सोलह पृष्ठ की टिप्पणी लिखे जाने के बाद भी इस विषय पर मौन क्यों रही। यही नहीं, 1918 में माण्टेंग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में साफ–साफ लिखा है कि यदि शासन की इकाइयां छोटी और एकरूप होंगी तो शासन का कार्य सम्पादित करना निश्चय ही सरल हो जायेगा।

यह स्वाभाविक ही है कि क्षेत्र विशेष की राष्ट्र से और राष्ट्र विशेष की विश्व भर से तकरार बनी ही रहती है। इस नजर से देखें तो क्षेत्रीय आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में एक कारण तो सदैव दिखाई देगा, वह है पहचान की लड़ाई। यह ऐसा प्राथमिक सवाल है जो कभी–कभी और सम्भवतः सदैव भावनाओं को उद्वेलित करता है और तब यह सवाल और भी अहम् हो जाता है जब जनता की पहचान की लड़ाई के साथ आर्थिक स्वावलंबन के सवाल भी हों।

इतिहास सदैव साक्षी रहा है कि दुनिया में कुछ भी ऐसा नहीं है जो चिरस्थाई हो। गांवों की, क्षेत्रों की, प्रान्तों की और यहां तक कि देशों की सीमायें बनती बिगड़ती रही है। विशाल एवं शक्ति सम्पन्न सोवियत संघ का ताजा उदाहरण हमारे सामने है। अन्तरिक्ष से पृथ्वी हमेशा एक इकाई लगती है क्योंकि वह समग्र रूप में दिखाई देती है। लेकिन इसमें रहते हुये इसे अनुभव करेंगे तो पता चलेगा कि इसमें गम्भीर अन्तर्विरोध पैदा करने वाले तत्व हैं। एक क्षेत्र का आदमी दूसरे क्षेत्र के आदमी के खिलाफ मुस्तैद है। शक्तिशाली राष्ट्र सदैव इस तिकड़म में है कि दूसरे देशों को कैसे पंगु एवं आश्रित बनाये रखा जा सके। इसके अलावा समय–समय पर राजनीतिक सीमायें और

परिभाषायें बदलने के लिये सदैव दबाव बना रहता है। तब यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि क्या संविधान के दायरे में रहकर पृथक राज्य की मांग करना गलत है। शरीर में भी असंख्य अलग–अलग इकाइयां है लेकिन इसके बावजूद शरीर एक है। इन अंगों का एक दूसरे से सीधा सम्बन्ध है और एक का स्वस्थ्य होना दूसरे के स्वास्थ्य की गारन्टी भी है। देश के किसी भी क्षेत्र को अस्वस्थ्य बनाये रखकर क्या भारत की समग्र स्वस्थ्यता की कामना की जा सकती है ? विभिन्न क्षेत्रों में अस्तित्व में आये सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों के तहत नये दबाव और विरोधाभास भी उभरकर सामने आ रहे हैं। इन दबावों की तीक्ष्णता इतनी संवेदनशील है कि स्थानीय जनता के मन में सवाल उभरने स्वाभाविक है। पूरे देश में ऐसे सवाल पैदा हो रहे है लेकिन कुछ विशेष इलाकों में इसकी चुभन अधिक है।

विकास के लिये परिवर्तन आवश्यक है। बदलती हुयी परिस्थितियों में यह महसूस किया जा रहा है कि विकास के लिये स्थानीय संस्थाओं को सशक्तीकृत कर प्रत्यक्ष लोकतन्त्र स्थापित किया जाये और यदि आवश्यक हो तो बड़े राज्यों का आकार छोटा किया जाय। अलग राज्य मांगना और देश से अलग होने की मांग में जमीन–आसमान का अन्तर है। राज्यों का प्रथम पुनर्गठन भी आजादी के बाद ही हुआ है। प्रशासन की जटिलताएँ बढ़ने, आबादी की रफ्तार तेज होने जैसे कारणों के चलते आने वाले समय में प्रशासनिक इकाइयों के स्वरूप भी बदलने पड़ सकते हैं। मुख्य धारा से जुड़े लोगों को भी चाहियें कि वे जन–आकांक्षाओं पर आधारित ऐसे आन्दोलनों को अछूत की तरह न देखें। ऐसे क्षेत्रों और वहां रहने वालो की समस्याओं को समझें। उत्तरांचल, वनांचल, छत्तीसगढ़ की स्थापना के बाद तेलंगाना, विदर्भ, बुन्देलखण्ड, पूर्वांचल, उदयांचल, हरित प्रदेश और लद्दाख और इन्हीं जैसे कुछ और नामों से चल रहे आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में विद्यमान तथ्यों को गहराई से समझने की आवश्यकता है। देश के संविधान के तहत मौजूदा राज्यों की संख्या बढ़ायी भी जा सकती है। देश के संविधान के प्रति सम्मान के साथ अलग राज्य की उचित मांग की जाती है तो राष्ट्रीय स्तर के राजनैतिक दलों द्वारा प्रथम दृष्ट्या इन्हें विघटन, विखण्डन और अलगाव के रूप में परिभाषित नहीं करना चाहिए। इन पार्टियों को समझना चाहिये कि प्रवाह बने रहने मात्र का नाम अलगाव अथवा विखण्डन नहीं होता। झारखण्डी नेता शिबु सोरेन ने एक बार कहा भी था कि समय रहते सरकार नहीं चेती तो इन क्षेत्रों में स्थिति पंजाब या कश्मीर से भी अधिक गम्भीर हो सकती है। यह सच भी है ; विश्व इतिहास साक्षी है कि अति दमन, शोषण और निरंकुशता ने ही बड़ी–बडी क्रान्तियों और विद्रोहों को जन्म दिया है। हमारे कुछ राज्यों का क्षेत्र दर्जनों देशों से भी बड़ा है और उनकी आबादी तो उन्हें दुनिया के कई देशों से भी आगे रखती है। बड़े राज्यों पर शासन करना एक जटिल कार्य होता है। उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में राजनीतिक माहौल सम्भवतया इसीलिये सदा डॉवाडोल रहा है। प्रदेश के रूहेलखण्ड और बुन्देलखण्ड आन्दोलन भी उत्तरांचल आन्दोलन जैसे ही है। तेलंगाना का आन्दोलन भी इससे हटकर नहीं है। इन आन्दोलनों को अफसरशाही एवं भ्रष्टाचार के खिलाफ स्थानीय जनता की अभिव्यक्ति के अलावा और किसी रूप में नहीं देखा जाना चाहिए।

हमारी राज्य व्यवस्था को राजनीतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक के साथ ही सांस्कृतिक धरातल की जरूरत हैं। स्वाधीन शासन में संस्कृति की सक्रिय भूमिका से परस्पर सहमति की आधारशिला बनती है। राज्यों में गांव पंचायत, क्षेत्र पंचायत तथा जिला इकाई को ज्यादा सशक्त बनाये बिना संसदीय जनतन्त्र की मौजूदा विकृतियों का कोई समाधान नहीं हो सकता। इसलिये विराट राज्यों वाले बहुत बोझिल केन्द्र के बजाय जीवंत सांस्कृतिक आधार पर राज्यों के विकास की योजना बनाना एक संवेदनशील राजसत्ता की स्थापना में योगदान करेगा। इससे आतंरिक उपनिवेशवाद की आंशाकाये भी निर्मूल की जा सकती है और क्षेत्रीय विषमता तथा सांस्कृतिक अस्मिता से जुड़े प्रश्नों का भी संतोषजनक उत्तर ढूंढ़ा जा सकता है।

दूसरे शब्दों में, हमारी राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया का केन्द्रोभिमुख विकास पर्याप्त मात्रा में हो चुका है जिसे अब विकेन्द्रीकरण की दिशा मे परिवर्तन करना चाहिये। इसके लिये राजनीतिक सत्ता तथा आर्थिक शक्ति को राज्यों के जरिये गांवों एवं जिलों तक पहुंचाना होगा। लोगों की सक्रियता, हिस्सेदारी और परस्पर सहयोग का माहौल बनाने के लिये कोई और रास्ता नहीं हो सकता। इससे विमुख होना भारतीय राष्ट्रीयता को विखण्डित करने के लिये जरूरी उदासीनता, अलगाव और परस्पर तनाव को बढ़ावा देना ही सिद्ध हो रहा है।

देश मे अनेक वर्तमान राज्य बहुत बड़े है और इनका समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाया है। वे अपने जातीय–सांस्कृतिक समुदायों की आकाक्षाये पूरी नहीं कर पाए हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक जैसे राज्यों में तो यह बात खासतौर से लागू होती है। इनमें कई राज्यो में बड़ी संख्या में जनजातीय लोग रहते हैं। अगर राज्य में एक ही भाषा बोली जाती हो तो भी कृषि–जलवायु क्षेत्र अलग–अलग हो सकते है। इनका बेहतर प्रबन्ध विकेन्द्रीकरण से ही हो सकता है। ऐतिहासिक कारणों से इन क्षेत्रों का असमान विकास हुआ है। आजादी के बाद ये असन्तुलन बरकरार रहें है और कहीं–कहीं तो बढ़े भी हैं। इनकी वजह है गलत आर्थिक नीतियां और विघटनकारी मुद्दों का नाजायज फायदा उठाने की राजनीतिक दलो की प्रवृत्ति। इन सभी कारणों से देश भर में अनेक आन्दोलन पनपे हैं। तृणमूल स्तर से प्रत्यक्ष जनतांत्रिक व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण तथा संविधान की व्यवस्था में रहते हुए विकास की आवश्यकतानुसार छोटे राज्यो के निर्माण से कई लाभ की आशा की जा सकती है। यथा– विकास की क्षेत्रीय जरूरतों पर आवश्यकतानुरूप तुरन्त निर्णय लेकर लागू किया जा सकता है, लोगो को अपना विकास स्वयं करने का अधिकार प्राप्त होने से स्थानीय सम्भ्रान्त जन, अपने विकास की राजनीति में ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकेंगे; ऐसा करने से प्रशासन बेहतर हो सकेगा; एक ही भाषा–भाषी राज्यो की संख्या ज्यादा होने पर भाषा के आधार पर तोड़ने की राजनीति का असर घटेगा।

मुख्य बात है कि राज्यों के पुनर्गठन मात्र से नयें राज्यों की स्वायत्तता बढ़ नहीं सकेंगी और निश्चित रूप से, यह तो नहीं कहा जा सकता कि बिना ज्यादा स्वायत्तता के छोटे राज्य बनाने की खास सार्थकता होगी। पूर्वोत्तर राज्य इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं। अतः प्रथमतः हमें राज्यों की ज्यादा स्वायत्तता पर बल देना चाहिये। वास्तव में स्वायत्तता तो मात्र राज्य तक भी सीमित नहीं रहनी

चाहिये। इसे आगे बढ़ाकर जिला परिषदों, प्रखण्ड मण्डल, पंचायत और ग्राम सभाओं तक पहुंचाया जाना चाहिये। यहां हमें उस मानसिक पूर्वाग्रह के प्रति भी सजग रहना जरूरी है जिसके तहत हम देश की राजनीतिक संरचना को राज्यों, जिला परिषदों, प्रखण्ड पंचायतों और ग्राम सभाओं के रूप में देखते हैं।

स्वदेशी की अवधारणा के आधार पर गांधी जी ने केन्द्रित वृत्तों वाली ऐसी राजनीतिक प्रणाली की कल्पना की थी जिसके केन्द्र में व्यक्ति हों, इसके बाद पहला वृत्त परिवार और दूसरा गांव हों। इसके बाद के वृत्त जिला, राज्य और राष्ट्र है। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि सकेन्द्रित वृत्तों वाली इस प्रणाली में ऊँचाई का कोई आयाम ही नहीं है। इस तरह इसमें बडे–छोटे का पद–क्रम नहीं है। साथ ही, हर सकेन्द्रित वृत्त अपने आप में स्वायत्त इकाई है। सम्भवतः ज्यादा स्वायत्तता के मुद्दें पर बहस सकेन्द्रित वृत्तों वाली इस व्यवस्था की कल्पना से शुरू की जा सकती है।

स्पष्ट है कि ऐसी प्रत्येक सरचना के अपने व्यापक और सुनिर्धारित स्वायत्त अधिकार होंगे। स्पष्ट रूप से निर्धारित ऐसे अधिकार न होने पर यह खतरा बना रहेगा कि बडी राजनीतिक संरचनायें, कुछ समय बाद, छोटी संरचना के अधिकार हड़प लें। आजादी के बाद केन्द्र–राज्य तथा राज्य–स्थानीय निकाय सम्बन्धों के विकास में यह प्रवृत्ति चिन्ताजनक रूप से उभरी है। अतः भविष्य में पुनर्गठन के किसी भी प्रयास मे ऐसी कारगर संवैधानिक व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे छोटी राजनीतिक संस्था शिखर संस्था से जारी विकास राशि की वाहक मात्र बनकर न रह जायें। हर छोटी संस्था के पास पर्याप्त वित्तीय संसाधन होना चाहिये ताकि वह नयी व्यवस्था में मिली स्वायत्त शक्तियों का पूरी तरह उपभोग कर सकें। क्योंकि स्वायत्तता सभी जीवन पद्धतियों का मूलमन्त्र है। यह मूल मन्त्र अर्थव्यवस्था, राजनीतिक प्रणाली तथा समाज को संगठित करने के दिशा निर्देशक की भूमिका निभाता है और वस्तुतः यही सिद्धान्त सभी मानवीय सिद्धान्तों का पथ–प्रदर्शक भी है। जब ऐसा नहीं होता तब सामाजिक जीवन बिखर जाता है, अर्थव्यवस्था शोषक के रूप में सामने आती है और राजनीति हिंसाजनक बन जाती है। मौजूदा भारतीय समाज में यही सब देखने को मिल रहा है, बल्कि हालात इससे भी बदतर हो चले हैं। अब यह पूरी तरह स्पष्ट हो चुका है कि इसका समाधान केवल स्वायत्त व्यवस्था में ही है।

क्षेत्रीय आधार पर स्वदेशी समाज की एकता कायम करना ही शायद सबसे अधिक सच्चा और व्यावहारिक लक्ष्य है। स्वायत्तता के ताने बाने में गूंथकर इस तरह की एकता निःसंदेह ही कायम की जा सकती है। इस व्यवहारिकता के मायने अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग हो सकते हैं। उदाहरण स्वरूप, राजनीतिक स्वायत्तता के मायने पंचायतों को विधायी अधिकार सौंपे जाने से लेकर नये राज्य की स्थापना तक भी हो सकते हैं। इसी तरह आर्थिक स्वायत्तता का अर्थ पंचायतों को राजस्व वसूली अधिकार देने या मौजूदा राज्यों को अधिक वित्तीय स्वायत्तता प्रदान करना भी हो सकता है। यह भी सम्भव है कि स्वायत्तता के मायनें इनमें से कुछ भी न हो या कुछ ऐसे हों जो इन सबसे अलग हों, जिनकी अब तक कल्पना भी न की गयी हो। स्वायत्तता का अर्थ व्यक्तियों या क्षेत्रों द्वारा अपने–अपने जीवन को संवारने के वास्ते अधिकार तथा आजादी को भोगने से है। इसमें

सभी कुछ अर्थात विज्ञान, धर्म, राजनीति, प्रोद्योगिकी, अर्थव्यवस्था इत्यादि शामिल है। स्वायत्तता तथा अन्य समकालीन आदर्शों एवं विचारधाराओं में सबसे प्रमुख अन्तर यह है कि स्वायत्तता की अवधारणा वस्तुतः ताकत के इस्तेमाल को कम करने और अन्त में इसे खत्म करने का प्रयास करती है।

राजनीति का क्षेत्रीयकरण निश्चित रूप से इस बात का संकेत है कि एकता की अवधारणा को आवश्यक रूप से पुनः परिभाषित किया जाना चाहिये। सभी तरह की शक्तियो के केन्द्रीयकरण को तुरन्त समाप्त किया जाना चाहियें तथा राजनीतिक एकता को नया आधार प्रदान करने के लिये क्षेत्रीय अधिकारों को भी दोबारा परिभाषित किया जाना चाहिए। बहरहाल, यह स्वीकार करना ही होगा कि राजनीतिक सत्ता का सवाल चाहे कितना ही बड़ा नजर आता हो लेकिन वस्तुतः यह एक बहुत बड़ी समस्या का छोटा सा पहलू है। सच तो यह है कि राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन के नये सिरे से निर्माण की आवश्यकता है।

ऐसे में हमें विकेन्द्रीकृत व्यवस्था को सुदृढ़ करने की दिशा में गहन विचार करना होगा। वास्तविकता तो यह है कि 1956 के पुनर्गठन में जिन राज्यों को किसी वैज्ञानिक आधार पर मिलाया गया या अलग किया गया, उनमें विकास की गति अपेक्षाकृत उन राज्यों से अधिक रही है, जिन्हें यथावत रहने दिया गया था या जिनके पुनर्गठन के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। भाषायी आधार पर बने चार राज्यों तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक व आन्ध्र प्रदेश ने हर क्षेत्र में अपार उन्नति की है। पंजाब के विभाजन द्वारा बने हिमाचल प्रदेश व हरियाणा का विकास राज्यो के पुनर्गठन को एक पुख्ता आधार प्रदान करता है। दूसरी ओर, जनसंख्या व क्षेत्रफल मे बड़े राज्यो उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश की ओर देखें तो हर क्षेत्र में पिछड़ेपन के ही दर्शन होते हैं। उत्तर प्रदेश को ही ले तो यहां पहले 52 जिले थे अब 83 (उत्तरांचल के गठन के बाद 70) हो गये हैं तथा कुछ और जनपदों की बारी है। बिहार में पहले कुल 17 जिले थे अब 50 से अधिक हो गये हैं। जनपदों का गठन प्रशासनिक व्यवस्था के नाम पर किया जा रहा है। आबादी और मुख्यालय से दूरी इसका मुख्य कारण बताया जा रहा है, लेकिन यह सब चुनावी वादे के नाम पर हो रहा है। इन परिस्थितियो में सत्ता को लोगों के समीप ले जाने जैसे महत्वपूर्ण राजनैतिक एवं आर्थिक मुद्दे को कब तक लटकाये रखा जा सकता है।

यह संयोग मात्र नहीं है कि पृथक राज्यों के लिये आन्दोलन बड़े प्रान्तों में ही चल रहे हैं और यह भी मात्र संयोग नहीं है कि देश के सबसे कम विकसित प्रदेश में ये बड़े प्रदेश प्रमुख है। हमें यह सच्चाई स्वीकार करनी पड़ेगी कि बडे प्रदेश सुचारू रूप से शासित नहीं किये जा सके हैं। शासन का अर्थ केवल कानून–व्यवस्था की स्थिति बनायें रखना नहीं है। यह जरूर है कि शासन के लिये ऐसा होना आवश्यक है। लेकिन यहां पर हमारा अर्थ प्रशासनिक कार्यकुशलता से है। राज्य के सभी क्षेत्रों में पर्याप्त और एक जैसा विकास भी इसमें आ जाता है। उत्तर प्रदेश इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है। उत्तर प्रदेश यदि एक अलग देश भी होता तो दुनियां का नौवाँ सबसे बड़ा देश होता। उत्तर प्रदेश ही क्यों ? देश के बड़े राज्यों में से सबसे छोटा राज्य भी करीब 100 देशों से बड़ा है। हमारे बड़े प्रदेशों में पृथक राज्य की स्थापना के आन्दोलन सम्भवतया इन प्रदेशों के विशाल

आकार का नतीजा है। इन राज्यों मे अधिसंख्य लोग अलग राज्य चाहते हैं। इसीलिये यह तथ्य विचारणीय हो जाता है कि क्या आज के संदर्भ मे हमें राज्यों के पुनर्गठन की एक और आवश्यकता है?

इस कार्य के लिये निश्चित रूप से दूरदर्शी विचारवान और विवेकशील व्यक्तियो के समूह की जरूरत है, जो देश के राज्यो का कारगर पुनर्गठन तय कर सकें। अध्ययन करके यह तय किया जा सकता है कि किन राज्यों के विभाजन की वास्तविक आवश्यकता है। ऐसा करते समय इस तथ्य पर ईमानदारी से विचार किया जाना चाहियें कि छोटे राज्यों का संचालन ठीक–ठाक ढंग से चलाने की हम क्या नई व्यवस्था करेंगे।

पूर्वोत्तर के लघु राज्यों में जहॉ कबीलाई स्तर पर अत्यन्त छोटी अस्मितायें विद्यमान है, पूर्ण स्वायत्तशाषी निकायों का गठन करके वहॉ के लोगों को अपने क्षेत्र के विकास के बारे में फैसला लेने का अधिकार दिया जाना चाहियें। यदि इस प्रकार की अस्मितायें अन्य राज्यों में मौजूद हो तो स्वायत्तशाषी निकायों की स्थापना वहां भी होनी चाहिये एवं संविधान में वर्णित प्रावधानों (इन कबीलाई स्तर पर उनकी संस्कृति से सम्बन्धित अनुसूची पाँच एवं छः) को पूर्ण ईमानदारी के साथ लागू किया जाना चाहिये। इसके साथ ही इस सन्दर्भ में सरकारी नीतियों के लिये कुछ व्यापक मार्गदर्शक सिद्धान्तों की स्थापना की जानी चाहिये। इनमें से कुछ सिद्धान्त निम्न हो सकते हैं –

(i) जनजातीय लोगों को अपनी बुद्धि और चेतना के अनुरूप विकास करने देना चाहिये, बाहर से कोई दबाव या जबरदस्ती नही की जानी चाहियें। गैर–जनजातीय लोगों को उनके पास श्रेष्ठता का अभियान लेकर नहीं जाना चाहियें। बल्कि यह समझ रखनी चाहिये कि देश की साझा संस्कृति और सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के उदय में जनजातियों की भी बराबर की हिस्सेदारी होनी चाहियें।

(ii) भूमि और वन पर जनजातीय अधिकारों का सम्मान किया जाना चाहियें और उनकी कबीलाई जमीनों को बाहरी लोगों के अधिकार में किसी भी हालात में नहीं पहुंचने देना चाहिये। आमतौर पर जनजातीय क्षेत्रों में बाजार की शक्तियों के हस्तक्षेप को कडाई से नियन्त्रित करना चाहिये।

(iii) जनजातीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने के लियें हर प्रकार से सम्भव समर्थन देना चाहियें और उन परिस्थितियों की सुरक्षा करनी चाहिये जिनमें उनका विकास हो सके।

(iv) प्रशासन की जिम्मेदारी स्वयं जनजातीय लोगों को देना चाहिये इसलियें प्रशासकों की भर्ती उन्हीं लोगों के बीच से कर, उन्हें प्रशिक्षित किया जाना चाहियें। जहाँ तक सम्भव हो सके कम से कम बाहरी लोगों को जनजातीय क्षेत्रों में प्रशासक के रूप में भेजा जाना चाहिये और यदि भेजा भी जाए तो उनका चुनाव बहुत सावधानी से किया जाना चाहियें।

(v) जनजातीय क्षेत्रों पर अति प्रशासन नहीं होना चाहियें और यह प्रयास होना चाहिये कि उन पर प्रशासन और उनका विकास जनजातीय सामाजिक और सांस्कृतिक विचारों एवं संस्थानों के माध्यम से ही ज्यादा से ज्यादा हों।

जो लोग छोटे राज्य के विचार का विरोध करते हैं वे आमतौर पर चार तर्क देते हैं : राज्यों की संख्या बढाने से देश के विखण्डन की आशंका बढेगी। यदि छोटे राज्य होंगे तो केन्द्र सर्वशक्तिमान और तानाशाह हो सकता है। अधिक राज्यों के होने का मतलब होगा अधिक अंतर्राज्यीय विवादो की उत्पत्ति और प्रशासनिक खर्चों में वृद्धि होने से आम जनता पर ज्यादा बोझ।

भावना से ऊपर उठकर अगर इन तर्कों का विश्लेषण करें तो पता लगेगा कि ये तर्क न तो तथ्यो पर आधारित नहीं जान पडते। पुराना असम–नेफा आज सात राज्यों में विभाजित है पर उस पर कोई बोझ नहीं बढा है। आज का पंजाब मूल पंजाब का एक तिहाई हिस्सा मात्र है। देश के प्रगतिशील राज्यों मे से पंजाब के एक हिस्से को अलग करके जब हरियाणा बनाया गया तब यह धारणा बनी थी कि यह राज्य आर्थिक रूप से टिकाऊ साबित नहीं होगा, नतीजतन टूट जायेगा। आज हरियाणा खुशहाल है।

यह तर्क भी समझ से परे लगता है कि अगर वर्तमान 25 या 28 राज्यों के बदले देश में चालीस या पचास राज्य हों तो केन्द्र खतरनाक रूप से शक्तिशाली हो जायेंगा। सच तो यह है कि छोटे राज्यों में सत्ता का अधिक विकेन्द्रीकरण हो सकेगा, अधिक लोकतन्त्र होगा और जनता की भागीदारी से प्रशासन पर अंकुश भी लगा रहेगा।

जहॉ तक अन्तर्राज्यीय विवादों का सवाल है यह अतिरंजित भय है। यानी मतलब यह हुआ कि कम राज्यो के होने से अन्तर्राज्यीय विवाद नही होगे। यदि इसी दृष्टि से देखा जाय तो कावेरी जल–विवाद को सुलझाने का एकमात्र रास्ता कर्नाटक और तमिलनाडू का विलय करने से होगा। ऐसा समाधान सम्भवतया किसी को भी आज की परिस्थितियों में स्वीकार्य नहीं होगा। वस्तुत: अंतर्राज्यीय विवादों को निपटाने के लियें जरूरत है संविधान प्रदत्त अंतर्राज्यीय परिषद को अधिक सक्रिय और शक्तिशाली बनाने की, ताकि यह परिषद ऐसे विवादों को हल करने में सक्षम हो।

जहाँ तक प्रशासनिक खर्चों की बात है, उनमें वृद्धि स्वाभाविक है। यदि पुनर्गठन के साथ–साथ दीर्घगामी सुधार कार्यक्रम लागू किये जाय तो इसकी प्रतिपूर्ति की जा सकती है। खर्चे को कम करने के लिये दीर्घगामी सुधार योजना के तहत मन्त्रिमण्डल के आकार को छोटा रखने का संवैधानिक प्रावधान किया जाना चाहिए। विधान परिषद जैसी सफेद हाथी संस्थाओं तथा राज्यपाल के पद को वर्तमान स्वरूप में भी समाप्त कर दिया जाना चाहियें। क्योंकि राज्यपाल का पद एक अलंकृत पद मात्र है और इसका दुरूपयोग भी तो हो रहा है। प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल की अपेक्षा उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी क्षेत्रीय परिषदें गठित की जा सकती है। प्रत्येक परिषद का प्रमुख राज्यपाल को बनाया जा सकता है। इससे राजभवनों पर होने वाले खर्चों में कमी की जा सकती है। यदि मात्र ये तीन सुधार लागू किये जाते हैं तो इनसे होने वाली बचत 20 नये राज्यों के बनने पर होने वाले खर्चे निकाल सकती है। उल्लेखनीय है कि क्षेत्र अध्ययन के अन्तर्गत किए गये एक प्रश्न के उत्तर में 97% लोगों ने यह मत व्यक्त किया कि मंत्रिमण्डल का आकार छोटा रखने का संवैधानिक प्राविधान होना चाहिए। 81% लोगों का मानना है कि वर्तमान स्वरूप वाले राज्यपाल का पद समाप्त करते हुए, क्षेत्रीय परिषदों का गठन कर उसका प्रभुख राज्यपाल को बनाया जाना

चाहिए। विधान परिषद समाप्त करने के सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष का मत बराबर रहा है (परिशिष्ट 'च' का प्रश्न–9)।

छोटे राज्य बनने से बढने वाले खर्चों की अपेक्षा उससे होने वाले लाभ कहीं अधिक लगते हैं। छोटा राज्य होने से लोगों तक प्रशासन की पहुंच सुविधाजनक ढंग से होती है तथा सरकार द्वारा समय–समय पर जारी किये जाने वाले नियमों व कानूनों को आसानी से लागू किया जा सकता है। वैसे भी यदि किसी क्षेत्र में अपने विकास, उन्नति व प्रगति की अपार उत्कंठा है, तो उसे इसका अवसर मिलना भी चाहिये। किसी भी स्थान विशेष को स्वायत्त परिषद बनाने के बजाय उतने क्षेत्र विशेष को स्वायत्त राज्य का दर्जा देने में कोई हानि नहीं है। देश की आजादी के बाद विभिन्न रियासतो के भारतीय संघ में विलीन होने के फलस्वरूप जिस प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखकर राज्यों के पुनर्गठन का विचार किया गया था, उसी नीयत से राज्यों को व्यवस्थित करने और तार्किक परिणति तक पहुंचाने के लिये भाषा, क्षेत्रीय अस्मिता, स्वायत्तता, क्षेत्रीय असन्तुलन, जन इच्छा, विकास की स्थिति, जनसख्या, क्षेत्रफल, प्रशासकीय सुविधा आदि को ध्यान में रखकर तथा इन बिन्दुओं पर व्यापक परिप्रेक्ष्य में उदारता से विचार कर अपनी अनुसंसा देने के लिये दूसरे राज्य पुनर्गठन आयोग को नियुक्त किया जाना चाहियें। तथापि, किसी भी प्रशासनिक इकाई के गठन के तीन मुख्य आधार होने चाहियें– (i) प्रशासनिक सुविधा, (ii) आर्थिक सक्षमता और (iii) भौगोलिक परिस्थितियां जिसकी पुष्टि क्षेत्र अध्ययन के अन्तर्गत किए गये प्रश्न–7 के संबंध में उत्तरदाताओं के द्वारा दिये गये उत्तर से होती है (परिशिष्ट 'च')। इसके अतिरिक्त यदि किसी भी अन्य मुद्दें को इसका मुख्य आधार बनाया जाता है तो वह पुनर्गठन नहीं विभाजन होगा, जो अब तक होता रहा है और जिसकी भूख बढ़ती जा रही है। अतः इस विभाजन को रोकने के लिये पुनर्गठन जरूरी है।

इस प्रकार क्षेत्रीयतावाद की भावना यदि सकारात्मक है तो वह देश के विकास के लिये लाभदायक है। साथ ही जब इसमें सकीर्णता या नकारात्मक भावना घुस आती है तो यह अपने पीछे अनेक दुष्परिणाम छोड़ जाती है जो राष्ट्रीय एकता के लिये घातक है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति क्षेत्रीय उन्नति के स्वार्थी दृष्टिकोण की ओर अधिक झुक जाता है और राष्ट्रीय उन्नति उसके लिये गौण वस्तु हो जाती है। जब एक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र की तुलना में अपने को खड़ा करने हेतु अपने क्षेत्र के निहित स्वार्थों के लिये संघर्ष करता है तो उससे उसकी अन्य क्षेत्रों से प्रतिस्पर्धा ही नहीं होती वरन् उससे तनाव भी बढ़ जाता है। जब प्रत्येक क्षेत्र इस बात को महत्व प्रदान करने लगता है कि उसका सम्पूर्ण कार्य उसकी क्षेत्रीय भाषा में ही हों तो इससे राष्ट्रीय भाषा की प्रगति और विकास स्वतः रूक जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति अब सभी क्षेत्रों में व्याप्त होने लगी है। इससे राज्य और केन्द्र सम्बन्ध ाों पर भी प्रभाव पड़ता है और उनके मध्य तनाव उत्पन्न होते हैं।

नकारात्मक क्षेत्रीयता जो पृथकतावाद का प्रथम चरण है, देश की एकता के लिए बड़ी चुनौती है। किन्तु, सकारात्मक क्षेत्रीयता स्वागत योग्य है, क्योंकि यह समान भाषा क्षेत्र या ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर आधारित भाईचारा व एकता का प्रतीक है। यह अपने क्षेत्र, संस्कृति, भाषा आदि के प्रति प्रेम से संबद्ध राजनीतिक विशेषता है जो उनकी स्वतन्त्र पहचान बनाये रखने के लिये आवश्यक है।

अगर भौगोलिक, प्रशासनिक तथा विकास की दृष्टि से किसी क्षेत्र का स्वतन्त्र गठन आवश्यक हो तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। पुनर्गठन का यह कार्य वैज्ञानिक आधार पर, जहॉ पृथक राज्य की माग उचित हों वहाँ उनकी स्थापना प्रशासनिक कार्यकुशलता, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और आर्थिक समरूपता के आधार पर करके लगभग सम–क्षेत्रीय आकार के राज्यों का गठन हो सकता है। इससे जहाँ उच्च सदन (राज्य सभा) में लगभग सम प्रतिनिधित्व होने के कारण संघीय भावना को बल मिलेगा वहीं लोगों की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति कर उग्र क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणामों से भी बचा जा सकेगा। इससे देश के सभी क्षेत्रों को विकास का समुचित अवसर उपलब्ध हो सकेगा। इसके साथ ही भविष्य में क्षेत्रीयतावाद की नकारात्मक भावना का प्रसार न होने पाये इसके लिये विचारधारा के स्तर पर संघर्ष की जरूरत है। अतः विचारधारा के स्तर पर क्षेत्रीयतावाद की भावना को कम करने के लिये निम्नलिखित उपायों का सहारा लिया जाना चाहिये।

1. स्थानीय संस्थाओं को सशक्तीकृत कर प्रत्यक्ष लोकतंत्र स्थापित किया जायें। इसके लिये पंचायती तंत्र की तुलना में ग्राम सभाओं को अधिक व्यापक अधिकारों से शक्ति सम्पन्न कर प्रत्येक स्थानीय व्यक्ति को अपने विकास का अधिकार दिया जाना चाहिए।
2. स्थानीय स्वशासी सरकारों को सत्ता का वास्तविक हस्तान्तरण किया जाना चाहिए। इसके लिये प्रान्तों तथा त्रिस्तरीय उप–प्रान्तीय सरकारों के मध्य समस्त राजनैतिक एवं आर्थिक सत्ता का वैसा ही विधिसम्मत विभाजन किया जाना चाहिए जैसा सुस्पष्ट विभाजन केन्द्र एवं राज्यो के मध्य है।
3. सरकार को अपनी आर्थिक नीतियों में इस प्रकार परिवर्तन करना चाहिये कि सभी क्षेत्रों का विकास समरूप ढंग से हो सके। सरकार का यह कर्तब्य है कि देश के सभी क्षेत्रों को चाहे वह छोटे हों अथवा बड़े, उनके सामाजिक, आर्थिक विकास के लिये समान योजना एवं समान सहायता के सिद्धान्त को अपनायें। ताकि किसी भी क्षेत्र के व्यक्तियों में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण से हींनता की भावना पैदा न हो।
4. राज्य सरकारें व योजना आयोग को आर्थिक क्षेत्र में कुछ राज्यों या क्षेत्रों द्वारा किये गये खराब प्रदर्शन की जाँच करनी चाहिए और उचित निराकरण के लिए सुझाव देना चाहिए। इसके लिए योजना आयोग द्वारा स्पष्ट मानदण्ड निर्धारित किए जाने चाहिए, जिन्हें सारे देश में समानता से अनुप्रयुक्त किया जा सके।
5. आर्थिक असन्तुलनो को दूर करने के लिए उन राज्यों के प्रशासनिक तन्त्र को सुदृढ़ किया जाए जिनमें ऐसे पिछड़े क्षेत्र हों। कार्मिक व प्रशासनिक सुधारों के विभाग को ऐसे राज्यों के संगठनात्मक संरचनाओं की दुर्बलताओं का विशेष अध्ययन करना चाहिए और उनके सुधार हेतु मूर्त सुझाव देने चाहिए।
6. पिछड़े क्षेत्रों के आर्थिक सुधार हेतु क्षेत्र विशेष के पर्यावरण एवं संसाधनों और उनकी आवश्यकताओं के आधार पर विशेष परियोजनाएं और कार्यक्रम बनाये जाने चाहिए, न कि पूरे देश के लिए एक योजना।

7 सभी क्षेत्रों के भाषा के विकास के लिये समुचित प्रबन्ध किया जाय, किसी भी भाषा को दूसरे भाषायी क्षेत्रो पर जबर्दस्ती लादा न जाय, बल्कि ऐसी पद्धति अपनायी जाय जिससे वह स्वयं दूसरे क्षेत्र की भाषा को पढने और सीखने में रुचि लेने लगें।

8. एक राज्य के विद्यार्थी को दूसरे राज्य की भाषा सीखने के लिये अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये।

9 विभिन्न क्षेत्रों की पुस्तकों का अनुवाद दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं में होना चाहिये इससे क्षेत्रों के मध्य सद्भावना बढेगी।

10. राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण इस दृष्टिकोण से किया जाय जिससे व्यक्तियों मे सद्भावना और प्रेग बढे। उन समस्त पुस्तकों को जब्त कर लेना चाहियें जो देश में साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ाती है।

11. अल्पसंख्यकों के ऊपर हमें विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि उनके अन्दर यह भावना उत्पन्न नहीं होनी चाहियें कि हम अल्पसख्यक है। इस प्रकार की भावना ही साम्प्रदायिकता की भावना उत्पन्न करती है।

12. अल्पसंख्यको को दी जाने वाली विशेष सुविधाओं को समाप्त कर दिया जाना चाहियें, क्योंकि सरकार जब अल्पसंख्यकों की आवश्यकता से अधिक सुविधायें प्रदान करना प्रारम्भ कर देती है तो, अन्य जातियो के अन्दर स्वतः तनाव की भावना उत्पन्न होने लगती है। इसलिये अल्पसंख्यकों को विशेष सुविधायें नहीं प्रदान की जानी चाहिये बल्कि समान सुविधायें प्राप्त होनी चाहिये।

13. जातिवाद के आधार पर जो संस्थायें चल रही है उन्हें बन्द कर देना चाहिये। इस तरह के संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाने से सक्रिय संगठन समाप्त हो जायेंगे जो जातिवाद का विष समाज में फैलाते ही नहीं है वरन् विभिन्न जातीय संगठनों में लड़ाई–झगड़े भी कराते हैं। इस वाद के आधार पर जो पक्षपात किया जाता है उसे समाप्त करने के लिये आवश्यक है कि दोषी व्यक्तियों को कडी सजा दी जाय।

14. व्यक्तियों में बौद्धिक दृष्टिकोण का विकास करें जिससे कि विभिन्न समूहों के मध्य एकता स्थापित हो सके, क्योंकि संवेग अधिक टिकाऊ नहीं होते। इसलिये बौद्धिक विकास का महत्व संवेगात्मक एकता से कहीं अधिक है।

15. विभिन्न क्षेत्रों/राज्यों के मध्य एकता स्थापित करने के लिये सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आदान–प्रदान किया जाना चाहिये। इससे परस्पर प्रेम की भावना बढ़ेगी और क्षेत्रीय कटुता कम होगी।

16 केन्द्र तथा राज्यों की सरकारों में ऐसे प्रबन्ध होना चाहिये कि अधिक से अधिक क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व हो सके। इससे सरकार को अधिक से अधिक क्षेत्रों की समस्याओं का ज्ञान होता रहेगा।

17. सरकार इस बात का भी प्रयत्न करें कि अधिकारियों का तबादला एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों में होता रहे। इससे किसी अमुख क्षेत्र से ही व्यक्ति का लगाव न हो सकेगा और इससे उसमें राष्ट्रीय भावना का जन्म होगा।

18. सरकार को चाहिये कि वह सम्पूर्ण देश के नागरिकों के लिये एक सामान्य रहन–सहन का स्तर निश्चित करे ओर उसी को ध्यान में रखकर प्रत्येक क्षेत्र को विकसित करने का प्रयत्न करें जिससे वहाँ के व्यक्ति उस निश्चित रहन–सहन के स्तर तक पहुच सकें। इससे देश के सभी क्षेत्रों के नागरिको में समानता की भावना का प्रसार होगा।
19. उत्तर–पूर्वी राज्यों में जो विदेशी लोग अवैध ढंग से घुस रहे है, उन्हें रोकने हेतु प्रभावी कार्यवाही की जानी चाहिये और जो लोग पहले ही अन्दर आ चुके हैं उनकी पहचान करनी चाहिये तथा उन्हें जब तक वैध रूप से भारत की नागरिकता प्रदान नहीं कर दी जाती तब तक मतदाता सूची में से उनके नाम हटा दिये जाने चाहिये। जिन विदेशियो को वैध रूप से नागरिकता नही प्रदान की जाती उन्हें देश से निकाल देना चाहिये।
20. हिंसक गतिविधियो के केन्द्र बने उन आर्थिक व सामाजिक रूप से पिछडे क्षेत्रों के विकास को गतिशील बनाने हेतु विशेष कदम उठाये जाने चाहिए।
21. उग्रवादी प्रवृत्तियों पर व्यवस्थित रूप से रोक लगाई जानी चाहिए तथा सभी उपलब्ध संचार साधनों द्वारा एकता पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।
22. जिस प्रकार से रीजनल इंजीनियरिंग कालेजों में 50 प्रतिशत स्थान अन्य राज्यों के विद्यार्थियों के लिये आरक्षित होते हैं और जिस प्रकार से उच्च न्यायालयों के एक तिहाई न्यायाधीश राज्य के बाहर के होते हैं, उसी प्रकार से राज्यों की सेवाओं और शिक्षा संस्थाओं में भी पारस्परिक आधार पर कुछ प्रतिशत स्थान अन्य राज्यों मे रहने वाले व्यक्तियों के लिये आरक्षित होने चाहिये। इस प्रकार से भर्ती किये गये पदाधिकारियों तथा दाखिल किये गये विद्यार्थियों को नौकरी लेने या दाखिला लेने के पश्चात् उस राज्य की भाषा सीखनी चाहिये। इसके अतिरिक्त निजी उद्योगों में भी अनेक सामाजिक वर्गों के विरूद्ध भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये तथा निम्न स्तर की नौकरियों के लिये जहॉ तक सम्भव हो स्थानीय लोगों को ही लिया जाना चाहिये। सब नौकरियों को भी किसी एक समुदाय के वर्ग तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिये।
23. बेरोजगारी की समस्या, विशेषकर पढ़े–लिखे लोगों की बेरोजगारी की समस्या का समाधान तुरन्त किया जाना चाहिये क्योंकि 'भूमिपुत्र सिद्धान्त' का आन्दोलन चलाने के लिये स्वार्थी राजनीतिज्ञ तथा साम्प्रदायिक तत्व साधारणतया विद्यार्थियों का ही प्रयोग करते हैं।
24. कबायली क्षेत्रो में कबायलियों को राज्य सरकार की आज्ञा के बिना उनकी भूमि से उन्हें वंचित नहीं किया जाना चाहियें। साथ ही उनके संरक्षण एवं बेहतरी हेतु किये गये संवैधानिक प्रावधानों को प्रभावी रूप से तुरन्त लागू किया जाना चाहिये।
25. पार्थक्यवादी भावना के प्रसार को रोककर राष्ट्रीय भावना के प्रसार और प्रचार करने का प्रयत्न करना चाहिये।
26. समाज में ऐसी संस्थाओं एवं संगठनों को स्थापित करना चाहिये जो विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय भावना का प्रसार करें और क्षेत्रीयतावाद का खण्डन करें।

27 सरकार ऐसे राजनीतिक दलों पर अंकुश लगाये जो क्षेत्रीयतावाद की भावना को प्रोत्साहित एवं प्रेरित करते है।

क्षेत्रीयतावाद के जन्म के कारण निश्चय ही महत्वपूर्ण है किन्तु क्षेत्रीयतावाद का महत्व केवल विघटनकारी शक्ति के रूप मे ही नहीं है। क्षेत्रीयतावाद यदि सतुलित विकास के संदर्भ में है तो यह न्यायोचित है किन्तु, अगर यह देश से अलग होने का प्रयास है तो वह विघटनकारी साबित होता है। क्षेत्रीयतावाद का सकारात्मक रूप राष्ट्रीय एकीकरण का विरोधी नहीं है। क्षेत्रीय स्वायत्ता क्षेत्र के सन्तुलित एवं सम्पूर्ण विकास के लिये सहयोगी तथा आवश्यक है। ऐसी क्षेत्रीय स्वायत्तता को सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद कह सकते हैं। इसका विकास पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद या क्षेत्रीय स्वायत्तता की भावना क्षेत्र के विकास पर जोर देती है और राष्ट्रीय एकीकरण पूरे राष्ट्र के विकास पर जोर देता है। यदि हम क्षेत्रीयतावाद और राष्ट्रीय एकीकरण के प्रतिद्वन्दी दावों का समाधान चाहते हैं तो देश की राजनीतिक प्रणाली को संघीय और प्रजातान्त्रिक ही बना रहना चाहिये। यह कहना असत्य है कि क्षेत्रीयतावाद के सभी रूप देश की एकता को भंग करते हैं। वस्तुतः दोनो देश की एकता तथा सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद परस्पर पूरक हैं और उनका एक साथ अस्तित्व बना रह सकता है। इसलिए राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय हितो की संतुलित वृद्धि का प्रयास किया जाना चाहिए।

इसे (सकारात्मक क्षेत्रीयतावाद को) देश विरोधी समझकर राजशक्ति द्वारा दमित किया जाना गलत है, बल्कि इसके विपरीत इसके द्वारा एकता की खोज का समर्थन किया जाना चाहिए तथा इसमें अन्तर्निहित लोगों की महत्वाकांक्षाओ का आदर किया जाना चाहिए और इसे राष्ट्रीय एकता अर्थात् 'विभिन्नता में एकता' के रूप में देखा जाना चाहिए। देश का राजनीतिक विकास करने के लिए क्षेत्रीय स्वायत्तता की भावना को रोग न समझकर उसे रोग का निदान समझना चाहिए। स्वायत्तता की भावना इस दृष्टि से भी उपयोगी है कि इससे क्षेत्र के अधिकाधिक लोगों को निर्णय–निर्माण प्रक्रिया में सहभागिता करने का अवसर मिलता है। इसके लिये ग्राम सभाओं को अधिक व्यापक अधिकारों से शक्ति सम्पन्न कर आम व्यक्ति के सूचना के अधिकार को सुनिश्चित करना होगा। इस प्रकार क्षेत्रीय स्वायत्तता अति क्रेन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पर भी रोक लगाता है और इससे प्रशासन में कुशलता आती है।

इसके अतिरिक्त यह भी समझना गलत होगा कि क्षेत्रीय दलों की संख्या बढ़ने से देश की जनता को खतरा है। क्षेत्रीय दल मूलतः पृथकतावादी नहीं होते, बल्कि वे केवल क्षेत्रीय आशाओं व महत्वाकांक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैं और यह सोचना भी गलत होगा कि क्षेत्र से लगाव होना व स्थानीय हितों के लिए संघर्ष करना देश की एकता में बाधक होगा। व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञात होगा कि क्षेत्रीय दल केन्द्रीय सत्ता के लिए खतरा नहीं है। स्थानीय नेताओं को अपने क्षेत्र के लिए विभिन्न योजनाओं व कार्यक्रमों हेतु केन्द्रीय आर्थिक सहायता की मांग करनी पड़ती है किन्तु वे अपनी मांगों को राष्ट्रीय हितों के अनुकूल बना लेते हैं।

क्षेत्रीय स्वायत्तता की भावना राष्ट्रीय एकात्मकता का विघटन नहीं करती। बल्कि राष्ट्रीय एकात्मकता के लिये यह महत्वपूर्ण शर्त है कि राष्ट्रवाद विभिन्न प्रकार की क्षेत्रीय उप–राष्ट्रीयताओं पर अपना नियन्त्रण रख सके। आज का युग सहकारी संघवाद का युग है जो अधिकतम् क्षेत्रीय

स्वायत्तता पर आधारित होता है। यह स्वाभाविक है कि क्षेत्रीय समुदाय जो अपनी विशिष्ट संस्कृति के प्रति सचेत है, उन्हें संघीय सरकार के साथ अधिक समान साझेदारी के आधार पर व्यवहार करना चाहिए। इससे राष्ट्र में केन्द्रित प्रवृत्तियाँ कम होगीं और सत्ता केन्द्र से प्रदेशों की तरफ हस्तान्तरित हो जायेगी। क्षेत्रीयता की भावना विभिन्न वर्ग के लोगों की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति है और उनकी आवश्यकताओं व महत्वाकांक्षाओं को व्यक्त करती है। इस दृष्टि से क्षेत्रीय स्वायत्तता की भावना सत्ता के अति केन्द्रीयकरण के दोषों को दूर करती है। किसी भी रूप में देखा जाय तो स्थानीय स्तर पर स्वायत्तता को सुनिश्चित किये बिना विकास की क्षेत्रीय विषमताओं के कारण उपज रहे असन्तोष को दूर नहीं किया जा सकता। इसीलिये भारत जैसे विशाल संघ में जिसकी संस्कृति के मूल में सदैव ही स्वशासन रहा हो, वहॉ स्थानीय स्वायत्तता प्रदान करना हमारी राष्ट्रीय प्राथमिकता होनी चाहिये। यह प्राथमिकता सत्ता के स्थानीय निकायों के स्तर पर विकेन्द्रीकरण से सुनिश्चित की जानी चाहिये , जहाँ पर यदि आवश्यक हो तो इसके (संघ में सम्पूर्ण और संतुलित विकास के) लिये राज्यों के निर्माण एवं उनके और अधिक सशक्तीकरण से बचना नहीं चाहिये।

परशिष्ट ''क''
उत्तरांचल आन्दोलन : तिथिगत अवलोकन

1897

जून— अल्मोड़ा के राजकीय हाईस्कूल में हुयी बैठक में लिये गये निर्णय के बाद महारानी विक्टोरिया को भेजे पत्र से पर्वतीय क्षेत्र की पृथक 'राजनैतिक व सांस्कृतिक पहचान को मान्यता दिलाने का पहला प्रयास हुआ।

1923

27 नवम्बर— धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक आधार पर उत्तरांखण्ड को संयुक्त प्रान्त से अलग करवाने की मंशा से दो दर्जन से अधिक लोगों के प्रतिनिधि मण्डल द्वारा संयुक्त प्रान्त के गर्वनर को सौंपे ज्ञापन में कहा गया कि 'सरकार को चाहियें कि कुमाऊं को शेष भारत से पृथक करने के लिये जल्द कदम उठाये'।

1928

— पहाड़ के लोगों ने उत्तराखण्ड को विशेष दर्जा दिये जाने की मांग के आशय से ''कुमाऊं एक पृथक प्रान्त'' शीर्षक से लिखा स्मृति पत्र (आगरा अवध के) गवर्नर के मार्फत ब्रिटिश सरकार को दिया।

1929

— पहाड़ के कुछ प्रबुद्ध लोगों ने गर्वनर से भेंट कर कुमाऊं के लिये अलग से प्रशासनिक व्यवस्था निर्धारण के कार्य हेतु एक संसदीय समिति के गठन की मांग के साथ ज्ञापन दिया।

1938

5—6मई— श्रीनगर (गढ़वाल) में आयोजित कांग्रेस के विशेष सम्मेलन में पं0 जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि ''पर्वतीय अंचल को अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुरूप निर्णय लेने तथा अपनी संस्कृति सभ्यता और पहचान को समृद्ध करने का अवसर और अधिकार मिलना चाहिये।'' परन्तु इस बयान के विरूद्ध पं0 गोविन्द वल्लभ पंत सहित अन्य प्रमुख नेता थे।

1946

— हल्द्वानी में बद्रीदत्त पाण्डेय की अध्यक्षता में आयोजित सम्मेलन मे उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र के लिये अलग प्रशासनिक इकाई बनाने की मांग की गई।

1947

— पं0 हरगोविन्द पन्त ने संसद में उत्तराखण्ड पृथक राज्य का प्रस्ताव रखा, किन्तु संयुक्त प्रान्त के प्रीमियर एवं प्रभावशाली नेता पं0 गोविन्द बल्लभ पन्त के इसका विरोधी होने के कारण उन्हें यह प्रस्ताव वापस लेना पड़ा।

1948

— बद्रीदत्त पाण्डे ने उत्तराखण्ड राज्य की मांग को विचार के लिये राज्य पुनर्गठन आयोग के समक्ष रखा।

1950

— दिल्ली में गठित पर्वतीय जन विकास समिति ने कांगड़ा से लेकर अल्मोडा तक एक वृहद हिमाचल राज्य की मांग की।

1952

— भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी के महासचिव कामरेड पी0सी0 जोशी ने पृथक पर्वतीय राज्य के सिलसिले में भारत सरकार को ज्ञापन दिया।

— पेशावर काड के नायक वीर चन्द्र सिह गढवाली ने प्रधानमत्री जवाहर लाल नेहरू के सम्मुख राज्य की योजना का प्रारूप प्रस्तुत किया।

1955

22 मई— दिल्ली में सम्पन्न पर्वतीय जन विकास समिति की आम सभा में उत्तरांखण्ड को प्रस्तावित हिमाचल प्रदेश में मिलाकर वृहद हिमाचल प्रदेश बनाने की मांग की गई।

— कामरेड पी0सी0जोशी ने स्वायत्तशासी पर्वतीय राज्य की मांग पर बल देते हुये सर्वदलीय संघर्ष समिति की स्थापना की लेकिन इसे विशेष सफलता नहीं मिली।

1956

— राज्य पुर्नगठन आयोग ने अपनी रिपोर्ट पृथक उत्तराखण्ड राज्य की स्थापना पर विचार तो किया किन्तु शीर्ष राजनीतिक दबाव की वजह से उत्तराखण्ड की सीमाओं को छुआ तक नहीं। आयोग के एक सदस्य के0एम0पणिक्कर ने अपनी 16 पृष्टीय टिप्पणी में उत्तर प्रदेश के पुनर्गठन की बात की इसमें उत्तराखण्ड का अलग राज्य भी सम्मिलित था।

1957

— मानवेन्द्र शाह और द्वारिका प्रसाद उनियाल ने राज्य आन्दोलन को पुनः उठाया।

19 नवम्बर— उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश एवं पंजाब के ससद सदस्यों ने योजना आयोग के अन्तर्गत एक पहाड़ी योजना समिति का सुझाव पहाडी क्षेत्र को विकासशील बनाने की वजह से दिया था ; जिसे अस्वीकार कर दिया गया।

1960

— चमोली, उत्तरकाशी और पिथौरागढ़ जिलो को सरकारी गजट मे उत्तराखण्ड के रूप में मान्यता मिली।

1966

अगस्त— रामनगर (नैनीताल) में आयोजित गोष्ठी के बाद उ0प्र0 के पर्वतीय क्षेत्र की जनता की ओर से मानवेन्द्र शाह ने प्रधानमंत्री को ज्ञापन दिया।

1967

10—11 जून— चन्द्रभान गुप्त की अध्यक्षता में आयोजित कांग्रेस के रामनगर सम्मेलन में पृथक प्रशासनिक इकाई के लिये प्रस्ताव पारित कर उसकी रिपोर्ट सरकार को सौंपी।

24—25 जून— दयाकृष्ण पाण्डे की अध्यक्षता में आयोजित रामनगर सम्मेलन में पर्वतीय राज्य परिषद का गठन कर पूर्ण राज्य हेतु ठोस शुरूआत की गई।

14–15 अक्टूबर– दिल्ली में आयोजित 'उत्तराखण्ड विकास संगोष्ठी', मे केन्द्रीय मंत्री अशोक मेहता की मौजूदगी मे मानवेन्द्र शाह ने उत्तराखण्ड की उपेक्षा का सवाल उठाकर केन्द्र शासित राज्य का दर्जा देने की बात उठायी। जिसे अशोक मेहता ने अस्वीकार कर दिया।

1968

– प्रधानमंत्री ने पर्वतीय क्षेत्र के लिये पृथक नियोजन की बात स्वीकार की।

– अलग पर्वतीय राज्य की मांग को लेकर ऋषिवल्लभ सुन्दरियाल के नेतृत्व में प्रवासी संगठनो ने वोट क्लब पर प्रदर्शन कर गिरफ्तारी दी।

15 दिसम्बर– दिल्ली में आयोजित पर्वतीय जन सममेलन में उत्तराखण्ड राज्य की मांग उठायी गयी।

1970

3 अक्टूबर– पी0सी0जोशी ने कुमाऊं राष्ट्रीय मोर्चा का गठन कर पृथक राज्य की मांग को पुनः उठाने के प्रयास किये।

1971

– उत्तराखण्ड राज्य परिषद का पुनर्गठन किया गया एव वोट क्लब पर सामूहिक धरने का आयोजन कर प्रधानमंत्री को ज्ञापन प्रेषित किया गया।

1972

13–15 फरवरी– दिल्ली में उत्तरांचल राज्य के मुद्दें पर पृथक पर्वतीय राज्य परिषद का सम्मेलन हुआ।

7 जून– नैनीताल में गठित उत्तराखण्ड परिषद के प्रस्ताव में कहा गया कि पृथक पर्वतीय राज्य होने से ही इन आठ जिलो का सर्वांगीण विकास हो सकता है। एडवोकेट हरीशचन्द्र ढौंढ़ियाल ने उत्तरांचल राज्य क्यों और कैसे ? नामक पुस्तिका भी प्रकाशित की।

– पृथक राज्य की मांग को लेकर पूरन सिंह डंगवाल की अध्यक्षता व ऋषिवल्लभ सुन्दरियाल के नेतृत्व में कार्यकर्ताओं ने वोट क्लब पर गिरफ्तारी दी।

1973

– पर्वतीय राज्य परिषद का पुनर्गठन हुआ। इन्द्रमणि बडोनी द्वारा पृथक पर्वतीय राज्य नामक पुस्तिका का प्रकाशन किया गया।

– दिल्ली सम्मेलन में पर्वतीय राज्य परिषद का नाम बदलकर उत्तरांखण्ड पर्वतीय राज्य परिषद किया गया। पृथक राज्य के लिये रैली का आयोजन कर 'दिल्ली चलो' का नारा भी दिया।

1974

– कोटद्वार की एक जनसभा में सांसद प्रताप सिंह नेगी ने उत्तराखण्ड राज्य का संकल्प लिया और संसद में प्रस्ताव पेश किया।

1979

31 जनवरी–दिल्ली में सासंद त्रेपन सिंह नेगी के नेतृत्व में 15 हजार से अधिक लोगों ने जुलूस निकालकर प्रधानमंत्री को ज्ञापन दिया।

— मंसूरी के अनुपम होटल में उत्तराखण्ड क्रान्तिदल का गठन किया गया। डी0डी0 पंत इसके अध्यक्ष चुने गयें।

— द्वारिका प्रसाद उनियाल ने उत्तराखण्ड क्रान्ति दल क्यों ? नामक पुस्तिका प्रकाशित की।

1980

— उत्तराखण्ड में 'वन अधिनियम' लागू ; जिससे शून्य प्रदूषण क्षेत्र घोषित हुआ फलस्वरूप पेड़ कटाई और वृहत् उद्योग लगाने पर रोक लगी। बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि हुयी, लोगो का अन्य नगरों की ओर पलायन। इस अधिनियम का व्यापक विरोध।

— द्वारिका प्रसाद उनियाल, डी0डी0पंत तथा नित्यानंद भट्ट ने उ0प्र0 के पर्वतीय क्षेत्र की स्वायत्तता को लेकर 3 दिन संजय गांधी से बातचीत की। इस बातचीत में बूटा सिंह भी उपस्थित थे। नारायण दत्त तिवारी को भी इसमें बुलाया गया था किन्तु उनकी उपस्थिति में उक्त नेताओं द्वारा वार्ता करने से इंकार करने पर तिवारी जी वापस चले गये। सजय गांधी ने लोकसभा में उक्रांद को दो सींटे देने की पेशकश की और कांग्रेस के चुनाव जीतने पर इस क्षेत्र को अलग राज्य का दर्जा देने की बात स्वीकार कर ली किन्तु उनके आकस्मिक निधन से यह बात वहीं समाप्त हो गयी।

1981

1 मई— उक्रांद ने उत्तराखण्ड राज्य के सम्बन्ध में प्रधानमंत्री को ज्ञापन दिया।

1982

21 मार्च— उत्तराखण्ड राज्य निर्माण परिषद ने दिल्ली में पृथक राज्य की मांग दोहरायी और आन्दोलन को जुझारू बनाने का संकल्प लिया।

1983

सितम्बर— अक्टूबर मे छात्र संगठन आल इण्डिया स्टूडेंट फेडरेशन ने पर्वतीय राज्य की मांग को लेकर गढ़वाल मण्डल म 900 कि0मी0 साइकिल यात्रा की।

1985

23 अप्रैल— प्रधानमंत्री राजीव गांधी के नैनीताल आगमन पर उक्रांद ने उत्तराखण्ड राज्य के सिलसिले में ज्ञापन दिया और पृथक राज्य के समर्थन मे प्रदर्शन भी किया।

10 नवम्बर— उक्रांद ने नैनीताल कमिश्नरी पर जबर्दस्त प्रदर्शन कर मण्डलायुक्त के माध्यम से राष्ट्रपति को ज्ञापन भेजा।

1987

9 मार्च— उक्रांद ने पौडी कमिश्नरी पर प्रदर्शन कर राष्ट्रपति को ज्ञापन भेजा।

अप्रैल— आल इण्डिया फेडरेशन द्वारा पृथक राज्य के लिये घोषणा पत्र जारी किया गया।

मई— भा.क.पा. के ऋषिकेश सम्मेलन में उत्तराखण्ड आन्दोलन चलाने के लिये एक क्षेत्रीय समिति का गठन किया गया।

जुलाई— आल इण्डिया स्टूडैंट फेडरेशन ने उत्तरकाशी के जिलाधिकारी के माध्यम से राष्ट्रपति को ज्ञापन दिया।

9 अगस्त– वोट क्लब पर उक्रांद ने सांकेतिक भूख हडताल कर प्रधानमंत्री को ज्ञापन दिया।

23 नवम्बर– पूरन सिंह डगवाल के संयोजन में वोट क्लब पर विशाल रैली का आयोजन कर उक्रांद ने राष्ट्रपति को ज्ञापन दिया। जिसमें हरिद्वार जिले को भी उत्तराखण्ड में शामिल करने की मांग की गई।

– धीरेन्द्र प्रताप भदोल व त्रिवेन्द्र पंवार द्वारा उत्तराखण्ड राज्य के निर्माण की मांग को लेकर लोकसभा दर्शक दीर्घा से नारेबाजी करने पर पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार करने के बाद चेतावनी देकर छोड़ा।

– भाजपा की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में लालकृष्ण आडवाणी की अध्यक्षता में फैसला लिया गया कि भाजपा छोटे राज्यों की पक्षधर है तथा यह उत्तरांचल और वनांचल के गठन के लिये संघर्षरत रहेगी।

1988

23 जनवरी– उक्रांद ने असहयोग आन्दोलन के अन्तर्गत पूरे उत्तराखण्ड में गिरफ्तारियां दी।

12–13 सितम्बर– उक्रांद ने राज्य के समर्थन मे 36 घण्टे का बंद व चक्का जाम किया।

12–13 अक्टूबर– उत्तराखण्ड संघर्ष वाहिनी ने 'नये भारत के लिये नया उत्तराखण्ड' का नारा बुलन्द कर उत्तराखण्ड आन्दोलन चलाने की घोषणा की ।

17 नवम्बर– जसवन्त सिंह बिष्ट एवं इन्द्रमणि बडोनी के नेतृत्व में उक्रांद ने नरायण आश्रम तवाघाट से देहरादून तक की 2 हजार कि0मी0 लम्बी पदयात्रा कर उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन के लिये जनचेतना जगायी।

– भाजपा ने अपने विजयवाड़ा अधिवेशन में पर्वतीय राज्य की मांग को अंगीकृत कर उत्तराखण्ड के स्थान पर उत्तरांचल शब्द को अपनाया।

1989

25 मई– उत्तराखण्ड राज्य की मांग की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिये हल्द्वानी व देहरादून में किये गये रेल रोको आन्दोलन में कई आन्दोलनकारी गिरफ्तार कर लिये गये।

– भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी मार्क्सवादी लेनिनवादी ने उत्तराखण्ड राज्य की मांग को जायज बताते हुये अलग प्रदेश की मांग की।

2 अक्टूबर– उत्तराखण्ड राज्य के समर्थन में उक्रांद द्वारा बंद एव चक्का जाम किया गया।

नवम्बर– भाकपा द्वारा पर्वतीय राज्य की मांग के समर्थन में उत्तरकाशी में प्रदर्शन।

1990

10 अप्रैल– उत्तरांचल प्रदेश संघर्ष समिति ने पृथक राज्य के समर्थन मे 'दिल्ली चलों' का आह्वान कर वोट क्लब में रैली की।

1 सितम्बर– दिल्ली में संघीय मोर्चा के सम्मेलन में पारित प्रस्ताव में उत्तराखण्ड सहित अनेक आन्दोलनों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया।

1991

23–24फरवरी– उत्तराखण्ड क्रान्तिदल ने सफल उत्तराखण्ड बंद व चक्का जाम किया।

– अप्रैल से जून के मध्य हुये चुनावों में पृथक राज्य के नारे का खुलकर प्रयोग किया गया। भाजपा ने अपने केन्द्रीय घोषणा पत्र में उत्तरांचल राज्य की मांग को सही मानते हुए इसके प्रति अपनी कटिबद्धता जाहिर की।

12 अगस्त– उत्तर प्रदेश विधान सभा में पहली बार पृथक उत्तरांचल राज्य के गठन का प्रस्ताव पारित हुआ।

26 सितम्बर– डॉ0 अम्बार रिजवी ने देहरादून में यह बात स्वीकारी कि पर्वतीय क्षेत्र की उपेक्षा और पिछड़ेपन के कारण ही उत्तराखण्ड राज्य की मांग उठी है। उन्होंने स्पष्ट किया कि कांग्रेस उत्तराखण्ड राज्य की विरोधी नहीं है।

दिसम्बर– उत्तरांचल राज्य के सम्बन्ध में भाजपा ने वोट क्लब दिल्ली में धरना दिया। संसद में शून्यकाल के दौरान सासंद भुवन चन्द्र खण्डूरी ने उत्तरांचल पर बहस किये जाने का मामला उठाया।

– ईस्टर्न कूरियर नामक साप्ताहिक अखबार ने 29 सितम्बर–5 अक्टूबर के अपने प्रवेशांक में खबर छापी की वृहद् नेपाल का सपना देखने वाले हिमाचल प्रदेश, उत्तरांखण्ड, सिक्किम, दार्जिलिंग, दक्षिणी भूटान और असम के पर्वतीय क्षेत्रों को वृहत्तर नेपाल बनाकर उसमें मिलाने की साजिशें रच रहे हैं।

7–8 अक्टूबर– दिल्ली में संघीय मोर्चे का स्थापना सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें पृथक राज्यों की मांग कर रहे कई संगठनों ने भाग लिया। सम्मेलन में उत्तराखण्ड, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, विदर्भ और तेलंगाना जैसे छोटे राज्यों के गठन की वकालत की गई।

दिसम्बर– गृहमंत्री शंकर राव चाह्वाण ने संसद में कहा कि उत्तरांचल सरकार के विषय में उनकी सरकार के पास कोई प्रस्ताव नहीं आया है।

1992

20 फरवरी– उत्तराखण्ड मुक्ति मोर्चा और आल इण्डिया एक्स सोल्जर्स एक्सन कमेटी ने वोट क्लब दिल्ली में प्रदर्शन कर प्रधानमंत्री को संयुक्त ज्ञापन दिया। पूर्व सैनिकों ने घोषणा की कि वे उत्तराखण्ड आन्दोलन में सहयोग देंगे।

21–24 फरवरी– विजयवाडा (आन्ध्र प्रदेश) में आयोजित इण्डियन पीपुल्स फ्रन्ट ने अपने चौथे राष्ट्रीय सम्मेलन में उत्तरांखण्ड के समर्थन में प्रस्ताव पारित कर कहा कि यह सम्मेलन संघीय, लोकतान्त्रिक और संयुक्त भारत के ढ़ाँचे के भीतर उत्तरांखण्ड के लोगों की, पूर्ण आत्मनिर्भर राज्य की मांग का पूरा समर्थन करता है।

5 मार्च– उत्तर प्रदेश की भाजपा सरकार ने उत्तरांचल राज्य के सम्बन्ध में पूरा ब्यौरा केन्द्र सरकार को भेजा।

— मार्च प्रथम सप्ताह मे भाजपा नेता भुवन चन्द्र खण्डूरी ने लोक सभा में और सुषमा स्वराज ने राज्य सभा में पृथक उत्तरांचल राज्य की मांग उठायी। भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी ने भी कहा कि इस मांग पर केन्द्र सरकार को निष्पक्षता से विचार करना चाहियें।

24–25 अप्रैल— दिल्ली में नेशनल मूमेन्ट फार स्टेट्स री आर्गेनाइजेशन द्वारा "स्टेट री आर्गेनाइजेशन कमेटी" की स्थापना के लिये आयोजित बैठक की समाप्ति पर 25 अप्रैल को सासंद डॉ0 जयंती रोंगपी ने प्रेस को वक्तव्य दिया कि राज्य की सत्ता, लघु राष्ट्रीयताओं तक कभी नहीं पहुंचने दी गई। इन छोटे और कमजोर समूहों को राजनैतिक सत्ता में भागीदार बनाने का काम कभी पूरा नहीं किया गया तथा संविधान की पॉचवी अनुसूची का तो मजाक ही उड़ाया गया। 1954 में गठित प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग ने प्रभावी भाषायी क्षेत्रीय गुटों को राज्य का दर्जा देने की सिफारिशें तो की लेकिन पिछडे इलाकों और दलित राष्ट्रीयताओं की उपेक्षा कर दी।

— इस वर्ष गठित योजना आयोग की एक विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट मे कहा गया कि उत्तर प्रदेश के पर्वतीयं जिलों में बेरोजगारी की समस्या प्रमुख है। जिस वजह से युवा विभिन्न शहरों की ओर पलायन कर रहें है। इस स्थिति से निपटने के लिये अन्य हिमालयी राज्यों की भांति इस क्षेत्र को भी अपनी समस्याओं के समाधान की दिशा में प्राथमिकता देनी होगी।

नवम्बर— कल्याण सिंह सरकार ने केन्द्र को याद दिलाया कि उत्तरांचल राज्य की मांग स्वीकार न किये जाने के कारण पर्वतीय क्षेत्र की जनता में दार्जिलिंग की तरह असंतोष पनपने से अलगाववाद की भावना घर करती जा रही है।

1993

27 फरवरी— उत्तराखण्ड मुक्ति मोर्चा ने उत्तराखण्ड बंद का आयोजन किया।

30 अप्रैल— उत्तराखण्ड प्रदेश संघर्ष समिति ने जंतर–मंतर से रैली निकाली। इसी दिन भाजपा संसदीय दल ने लोकसभा में पृथक राज्य का संकल्प प्रस्तुत किया।

4 मार्च— दिल्ली में यूनाइटेड फ्रण्ट फार स्मालर स्टेट द्वारा सुबोधकान्त सहाय के संयोजन मे उत्तराखण्ड एवं अन्य राज्यों के सवाल पर एक दिवसीय विचार गोष्ठी शिबू सोरेन की अध्यक्षता में हुई। गोष्ठी में पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह, पूर्व मंत्री बूटा सिंह, सुबोध कांत सहाय, शिबू सोरेन, सूरज मंडल, साइमन मराड़ी, शैलेन्द्र महतो, हरीश अवस्थी, डॉ0 रमेश (छत्तीसगढ़) हरीश रावत, प्रताप राव (तेलंगाना) एन0के0तिरपुडे (विदर्भ) आदि ने हिस्सा लिया।

6 मई— दिल्ली में उत्तराखण्ड के सम्बन्ध में उत्तराखण्ड राज्य संयुक्त संघर्ष मंच ने पहली बार सर्वदलीय गोष्ठी का आयोजन किया। गोष्ठी में सभी लोगों द्वारा की गई पृथक राज्य की वकालत का हरीश रावत ने विरोध कर परिषद के गठन पर जोर दिया।

5 से 14 जून— हिमालय में सक्रिय सामाजिक हस्तक्षेप के लिये प्रतिबद्ध संगठन 'धाद' ने उत्तराखण्ड में रचनात्मक आन्दोलन की संकल्पना के साथ मजडूगढी से लेकर चांदपुर तक पदयात्रा की।

5 अगस्त– लोकसभा में सरकार ने उत्तरांचल राज्य के पक्ष में मत विभाजन कराया लेकिन इस प्रस्ताव के पक्ष में मात्र 98 सदस्यों के मत पड़ने से यह संसद में पास नहीं हो पाया।

1994

12 जनवरी– अलग राज्य के संघर्ष को निर्णायक मोड़ देने के लिये उक्रांद नेता रतनमणी भट्ट, विशनपाल सिंह परमार, प्रेमदत्त नौटियाल तथा दौलतराम ने जखोली विकासखण्ड मुख्यालय (टिहरी जनपद) पर आमरण अनशन की शुरूआत की।

– उ0प्र0 सरकार ने पृथक राज्य निर्माण के सिलसिले में रमाशकर कौशिक की अध्यक्षता मे मंत्रिमण्डल समिति का गठन किया। इस समिति ने अल्मोड़ा, पौडी और काशीपुर में बैठक करने के बाद विशेष केन्द्रीय सहायता देते हुये पृथक राज्य के पक्ष में सरकार को अपनी सिफारिश सौंपी।

3 अप्रैल– दिल्ली के पूर्व आयुक्त बहादुर राम टम्टा ने संयुक्त उत्तराखण्ड राज्य मोर्चा की स्थापना कर गढवाल भवन दिल्ली मे एक गोष्ठी का आयोजन किया।

7 मई– पर्वतीय परिषद एवं अखिल भारतीय गढ़वाल सभा द्वारा सयुक्त रूप से तालकटोरा स्टेडियम नई दिल्ली में आयोजित एक कार्यक्रम में, उत्तराखण्ड की प्रवासी जनता ने कांग्रेस (इ) के पर्वतीय परिषद के प्रस्ताव को भारी विरोध से ठुकरा दिया।

2 जून– एक महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय के तहत उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव ने उत्तराखण्ड के लिये अतिरिक्त मुख्य सचिव नियुक्त किये जाने की घोषणा की।

11 जुलाई– ग्राम सभाओं का स्वरूप यथावत् रखने, बाहरी नियुक्तियों पर रोक लगाने, पर्वतीय क्षेत्र को 27 प्रतिशत आरक्षण की परिधि में लेने और उत्तराखण्ड राज्य की मांग को लेकर उक्रांद के फील्ड मार्शल दिवाकर भट्ट के नेतृत्व में आन्दोलनकारियों ने पौड़ी में प्रदर्शन किया। 751 लोगों ने गिरफ्तारियां दी।

2 अगस्त– उपरोक्त चार मांगों को लेकर उक्रांद नेता इन्द्रमणि बड़ोनी, रतनमणि भट्ट, वासुवानंद पुरोहित, प्रेमदत्त नौटियाल, पान सिंह रावत, दौलतराम पोखरियाल, बिशनपाल परमार तथा विष्णुदत्त बिन्जोला पौड़ी में आमरण अनशन पर बैठे।

2–3 अगस्त–आरक्षण के विरोध में पूरे कुमाऊं मण्डल में छात्रों द्वारा उग्र प्रदर्शन किये गये। छात्रों ने मण्डल के 17 महाविद्यालयों में विरोध स्वरूप तालाबंदी कर दी।

13 अगस्त– उ0प्र0 विधान परिषद के सभापति नित्यानंद स्वामी ने उत्तराखण्ड की गम्भीर स्थिति को देखते हुये सर्वदलीय बैठक बुलाने की मांग की। कुमाऊं मण्डल में आरक्षण विरोध के चलते उग्र छात्रों ने स्कूल–कालेज बंद कर व्यापक तोड–फोड़ की।

17 अगस्त– उ0प्र0 के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव के बयान 'मेरे एक इशारे पर मैदान के लोग पहाड़ी लोगों को भगा सकते है' की तीखी प्रतिक्रिया स्वरूप आन्दोलन उग्र हो गया।

18 अगस्त– ऊखीमठ के प्रदर्शनकारी छात्रों पर पुलिस लाठी चार्ज व फायरिंग से कई छात्र घायल हो गये।

22 अगस्त– भारी वर्षा के मध्य लगभग दस हजार की भीड़ ने नैनीताल कमिश्नरी का घेराव कर उत्तराखण्ड राज्य के समर्थन व आरक्षण विरोध में नारेबाजी की।

23 अगस्त– उक्रांद के आह्वान पर पूरे उत्तराखण्ड में बंद व चक्का जाम रहा। संसद मार्ग, नई दिल्ली में रैली पर पुलिस ने लाठी चार्ज किया जिसमें लाठी चार्ज से 150 लोग घायल हुये। काशी सिंह ऐरी ने विधानसभा सदस्यता से इस्तीफा दिया, जो स्वीकार नहीं हुआ।

24 अगस्त– उ0प्र0 की सपा–बसपा सरकार ने उत्तराखण्ड राज्य निर्माण का प्रस्ताव विधान सभा में पारित किया (यह प्रस्ताव 7 सितम्बर को केन्द्र सरकार के पास भेजा गया)।

25 अगस्त– संसद ने शून्यकाल के दौरान भाजपा नेता मानवेन्द्र शाह द्वारा उत्तरांचल का प्रश्न उठाये जाने पर भाजपा के अटल बिहारी बाजपेयी, जनता दल के शरद यादव, चन्द्रजीत यादव ने इस मांग का समर्थन किया।

31 अगस्त– पृथक राज्य की मांग के समर्थन में जंतर–मंतर से ससद की ओर बढ़ रहे आंदोलनकारियों को रोकने के लिये पुलिस द्वारा लाठी चार्ज।

1 सितम्बर– खटीमा काण्ड ; 27 प्रतिशत ओ0बी0सी0 आरक्षण का विरोध करते हुए पृथक राज्य के समर्थन में जुलूस निकाल रहे खटीमा के आन्दोलनकारियो पर पुलिस बल द्वारा गोली चलाने से आंठ उत्तराखण्ड आन्दोलनकारियों की मृत्यु हुयी।

2 सितम्बर– मंसूरी काण्ड ; इस घटना में भी पुलिस की गोली से आठ उत्तराखण्ड आन्दोलनकारियों की मृत्यु हो गयी।

3 से 8 सितम्बर– मंसूरी व खटीमा गोलीकाण्ड के विरोध में अनेक सरकारी कार्यालयों में तोडफोड़ हुयी, राजकीय कर्मचारियों व छात्रों ने जुलूस निकालकर उग्र प्रदर्शन किया। 7 सितम्बर से पर्वतीय क्षेत्र में 48 घण्टे का बंद व चक्का जाम रहा।

10 सितम्बर– कुमाऊं मण्डल के छात्रों ने समानान्तर सरकार की घोषणा कर निर्मल पंडित को मुख्यमंत्री घोषित कर दिया। कई जगह प्रशासनिक मशीनरी ठप्प कर अपने तहसीलदार, पटवारी, अमीन व थानाध्यक्षों की नियुक्ति की। गढवाल मण्डल में भी कई स्थानों पर समानान्तर सरकार की घोषणा की गई।

14 सितम्बर– आन्दोलन के समर्थन में विद्युत कर्मचारियों द्वारा किये गये ब्लैक आउट के कारण पूरा पहाड़ अंधेरे में डूबा रहा।

20 सितम्बर– पृथक राज्य के समर्थन में पर्वतीय कर्मचारी शिक्षक संगठन द्वारा बेमियादी हड़ताल पर चले जाने से प्रशासनिक कार्य ठप्प पड़ गये। (यह हडताल 21 दिसम्बर को 93 दिन बाद समाप्त हो गयीं)।

25 सितम्बर– उत्तराखण्ड में लालटेन जुलूस निकाले गये। स्वनिर्मित हथियारो के धमाकों के साथ प्रदर्शन करने वाले उत्तराखण्ड क्रान्ति सेना के कमाण्डर इन चीफ चन्द्रशेखर मुण्डेपी ने कहा कि हिंसा के बिना राज्य प्राप्ति सम्भव नहीं है।

30 सितम्बर– उत्तराखण्ड संयुक्त संघर्ष समिति के आह्वान पर अल्मोडा में आयोजित ऐतिहासिक

2 अक्टूबर– मुजफ्फरनगर काण्ड ; महात्मा गांधी की जयन्ती पर मुजफ्फर नगर में रामपुरा तिराहा और सिसौना गांव के बीच उ0प्र0 पुलिस व पी0ए0सी0 ने अंधाधुंध गोली चलायी जिसमें 6 लोग मारे गये। रैली में जा रही 6 उत्तराखण्ड समर्थक महिलाओं के साथ पुलिय ने दुराचार किया।

– नेतृत्व के अभाव व अव्यवस्था के कारण दिल्ली रैली जिसमें 15 लाख लोग शामिल हुये थे, में अभूतपूर्व हिंसा हुयी। पुलिस के लाठी चार्ज से 10 हजार लोग घायल हुए तथा दो सौ बीस लोग जेल भेजे गये।

7 अक्टूबर– इलाहाबाद हाइकोर्ट ने देहरादून, खटीमा, मंसूरी व मुजफ्फरनगर मे उत्तराखण्ड आन्दोलनकारियों पर हुयी पुलिस फायरिंग की सी0बी0आई0जॉच के आदेश दिये।

– कालाढूंगी के पूर्व फौजियों ने शिव मन्दिर में बैठक कर उत्तराखण्ड प्रदेश के लिये पुलिस के हथियार छीनकर पुलिस से ही लड़ाई लडने का संकल्प किया।

2–23 दिसम्बर– जेल भरो आन्दोलन के अन्तर्गत 4,612 लोगों ने गिरफ्तारियां दी।

7 दिसम्बर– उत्तरांचल की मांग को लेकर भाजपा ने दिल्ली में विशाल रैली का आयोजन कर भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री व लोकसभा अध्यक्ष को ज्ञापन दिया।

1995

19 से 22 जनवरी– केन्द्रीय गृह मंत्रालय द्वारा पृथक राज्य समर्थक आन्दोलनकारियों को बुलाकर वार्ता की गई।

23 मार्च– पूर्व उप थल सेनाध्यक्ष ले0 जनरल गजेन्द्र सिंह रावत व कई पूर्व सैनिकों सहित आन्दोलनकारियों ने फिरोजशाह कोटला मैदान से संसद तक रैली निकाली।

24 अगस्त– 10 वर्ष से कम उम्र के सैकड़ों बच्चों ने पृथक राज्य की मांग के समर्थन मे ससद के सामने प्रदर्शन कर राष्ट्रपति को ज्ञापन दिया।

15 दिसम्बर– पूर्व मेजर जनरल शैलेन्द्र राज बहुगुणा के नेतृत्व में संसद का घेराव किया गया।

1997

17 मार्च– केन्द्रीय रेल राज्यमंत्री सतपाल महाराज के नेतृत्व में प्रधानमंत्री एच0डी0देवगौड़ा से मिलने गये प्रतिनिधि मण्डल ने उत्तराखण्ड राज्य के शीघ्र गठन के लिये ज्ञापन दिया।

24 अप्रैल– उ0प्र0 विधान मण्डल के दोनो सदनों में पृथक उत्तरांचल राज्य सम्बन्धी प्रस्ताव पारित।

19 मई– मार्क्सवादी कम्युनिष्ट पार्टी के महासचिव हरकिशन सिंह सुरजीत ने कहा कि माकपा किसी राज्य के विभाजन के पक्ष में नहीं है और उत्तराखण्ड को अलग राज्य का दर्जा प्रदान करने के मसले पर भी हमारे रूख में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

– केन्द्रीय गृहमंत्री इन्द्रजीत गुप्त ने कहा कि केन्द्र सरकार उत्तराखण्ड के निर्माण के प्रति अडिग है। उन्होंने दावा किया कि जल्द ही उत्तराखण्ड राज्य बन जायेगा।

13 अगस्त– केन्द्रीय गृहमंत्री मो0 मकबूल दर ने अपने पत्र सं0 16013/27/97 एस0आर0 दिनांक 13.08.1997 द्वारा राज्यसभा सदस्य मनोहर कान्त ध्यानी को सूचित किया कि उत्तराखण्ड राज्य विधेयक का मसौदा तैयार किया जा रहा है, लेकिन प्रशासनिक जटिलताओं को ध्यान मे रखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि विधेयक को संसद के वर्तमान सत्र में प्रस्तुत किया जायेगा या नहीं।

11 सितम्बर– चम्पावत, बागेश्वर और रूद्रप्रयाग नामक तीन नयें जिलों का गठन।

11 नवम्बर– पृथक राज्य के गठन के लिये केन्द्र सरकार पर दबाव बनाने के लिये उक्रांद के फील्ड मार्शल दिवाकर भट्ट एव अध्यक्ष पूरन सिंह डंगवाल की पहल पर पूरे देश में अलग राज्य की मांग कर रहे दलों द्वारा गठित नेशनल फ्रंट फार स्मालर स्टेट के नेताओं ने हरिद्वार में बैठक कर संसद में उत्तराखण्ड के गठन सम्बन्धी बिल न लाने पर संसद पर धरना देने की घोषणा की। बैठक में तेलंगाना, विदर्भ, पांचाल प्रदेश के प्रतिनिधियों के साथ–साथ मानवाधिकार संरक्षण समिति के अध्यक्ष और प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। बैठक में पांचाल प्रदेश (पश्चिमी उत्तर प्रदेश) की मांग कर रहे आन्दोलन के अध्यक्ष आर0के0 तोमर ने घोषणा की कि उत्तराखण्ड के जनपद ऊधम सिंह नगर व हरिद्वार (जनपद के कुंभ क्षेत्र) किसी पर उनका कोई दावा नहीं है।

1998

30 मार्च– प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी ने कहा कि उत्तरांचल, वनांचल व छत्तीसगढ़ राज्यों के गठन की वैधानिक प्रक्रिया शुरू कर दी गयी है और इन राज्यों के पुनर्गठन के लिये आयोग बनाने का कोई इरादा नहीं है।

25 मई– भारतीय किसान कामगार पार्टी के प्रवक्ता धीरेन्द्र प्रताप ने केन्द्र से छोटे राज्यों के गठन में एक समान नीति अपनाने की मांग की।

29 जून– भाजपा नेतृत्व वाली केन्द्रीय सरकार ने पृथक उत्तरांचल राज्य बनाने के प्रस्ताव को मंजूरी दी।

3 अगस्त– झारखण्ड व छत्तीसगढ़ सहित पृथक उत्तराखण्ड राज्य के निर्माण सम्बन्धी विधेयक के प्रारूप को केन्द्रीय मंत्रीमण्डल ने मंजूरी दी।

4 अगस्त– 11 अकाली सांसदों ने हस्ताक्षरयुक्त ज्ञापन राष्ट्रपति को भेजकर ऊधम सिंह नगर को उत्तरांचल में मिलाने का विरोध किया।

20 अगस्त– राष्ट्रपति ने उत्तरांचल, वनांचल एवं छत्तीसगढ राज्यों के निर्माण सम्बन्धी विधेयकों को अपनी मंजूरी देने के दौरान कहा कि तीनों राज्य 28 सितम्बर से पहले केन्द्र को अपनी टिप्पणियों के साथ लौटा दें।

21 सितम्बर– उत्तरांचल राज्य के गठन हेतु उत्तर प्रदेश के पुनर्गठन विधेयक 1998 उ0प्र0 विधान सभा के दोनो सदनों में पेश किया गया।

23 सितम्बर– उ0प्र0 विधान मण्डल ने 26 संशोधनों सहित हरिद्वार विहीन उत्तराखण्ड राज्य के गठन को स्वीकृति प्रदान की।

2 दिसम्बर– कांग्रेस ने पृथक राज्यों के गठन हेतु आन्दोलन छेड़ने का ऐलान किया।

16 दिसम्बर– केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने उत्तरांचल राज्य के गठन का विधेयक बिना किसी परिवर्तन के संसद के इसी सत्र में पेश करने का निर्णय लिया।

1999

17 अप्रैल– प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व वाली गठबन्धन सरकार के गिरने से उत्तरांखण्ड राज्य के गठन का मामला लम्बे समय के लिये टल गया।

7 दिसम्बर– केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल द्वारा नये संशोधन के साथ उत्तरांचल (उत्तराखण्ड) राज्य के गठन के प्रस्ताव को मंजूरी दी गई। प्रस्ताव के तहत केन्द्र सरकार ने राष्ट्रपति से अनुरोध किया कि वह संशोधित प्रस्ताव के मुताबिक राज्य के पुनर्गठन के लिये राज्य सरकार को अनुशंसा करें।

13 दिसम्बर– उत्तराखण्ड विधेयक ससद में पेश न हो पाने से नाराज उत्तराखण्डियो ने ससद के इसी सत्र में ही उत्तराखण्ड राज्य के गठन सम्बन्धी विधेयक को पेश करने की मांग करते हुये धरना दिया।

2000

29 जनवरी– सरकार द्वारा पृथक राज्य के गठन की प्रक्रिया में विलम्ब करने से नाराज उक्रांद ने देहरादून में विशाल रैली का आयोजन कर जिलाधिकारी के माध्यम से प्रधानमत्री व राष्ट्रपति को ज्ञापन देकर उत्तराखण्ड के शीघ्र निर्माण की माग दोहराई।

23 फरवरी– राष्ट्रपति के0आर0 नारायणन ने बजट सत्र के पहले दिन संसद के संयुक्त अधिवेशन मे दिये अपने अभिभाषण में पृथक उत्तरांचल, वनांचल और छत्तीसगढ़ राज्यों के गठन की सरकारी प्रतिबद्धता को दोहराया।

16 मार्च– लोकदल के राष्ट्रीय अध्यक्ष चौ0 अजीत सिंह ने उत्तर प्रदेश के विभाजन के लिये आयोग गठित करने की मांग की।

30 मार्च– उ0प्र0 सरकार ने हरिद्वार रहित उत्तरांचल राज्य का गठन सम्बन्धी संकल्प 29 संशोधनों के साथ विधानसभा में पेश किया।

3 अप्रैल– उ0प्र0 विधानमण्डल में समाजवादी पार्टी, भाकपा और कांग्रेस के वाक आउट के बाद उत्तरांचल राज्य बनाने सम्बन्धी संकल्प ध्वनिमत से पारित हुआ।

18 अप्रैल– इसी सत्र मे उत्तराखण्ड बिल पारित कराने पर जोर देते हुये नये राज्य के विकास के लिये 50 हजार करोड रूपये की आर्थिक सहायता की मांग के साथ उक्रांद ने जंतर मंतर पर बेमियादी धरना शुरू कर पहले दिन राष्ट्रपति व प्रधानमंत्री को ज्ञापन सौंपे।

जुलाई– संसद में अलग उत्तरांचल राज्य के गठन से सम्बन्धित विधेयक पेश।

अगस्त– संसद में उत्तर प्रदेश राज्य पुनर्गठन विधेयक, 2000 पारित। अलग उत्तरांचल राज्य के गठन का मार्ग प्रशस्त।

9 नवम्बर– उत्तरांचल राज्य अस्तित्व में आया। श्री सुरजीत सिंह बरनाला राज्य के प्रथम राज्यपाल एवं श्री नित्यानन्द स्वामी (भा ज.पा.) प्रथम मुख्यंमत्री बने।

परशिष्ट "ख"

राज्यों के पुनर्गठन को लेकर गठित विभिन्न आयोग और उनकी अनुशंसायें

आयोग / व्यक्ति	वर्ष	प्रतिवेदन / अनुशंसा
सर हार्वर्ट रिसले (भारत सरकार के गृह सचिव)	1903	बगाल सरकार को लिखे गये प्रत्र में भाषायी आधार पर बंगाल के विभाजन का सुझाव दिया।
लार्ड हार्डिंग (वायसराय)	1911	बंगाल विभाजन को निरस्त करने के लिये राज्य सचिव को पत्र लिखा जिसमे भाषा के मुद्दे को प्रमुखता दी गयी थी।
मोन्टेग्यू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (भारतीय सवैधानिक सुधारों पर रिपोर्ट)	1918	प्रतिवेदन मे राज्यों के गठन हेतु भाषायी तथा दक्षिण जातीय आधार की अवधारणा को अस्वीकार कर दिया गया। परन्तु छोटे–छोटे राज्यों के गठन पर विशेष बल दिया गया।
मोती लाल नेहरू रिपोर्ट (नेहरू रिपोर्ट)	1928	भाषा, जनेच्छा, जनसंख्या, भौगोलिक, आर्थिक तथा वित्तीय स्थिति के आधार पर राज्यों की पुनर्गठन की सिफारिश की गयी।
भारतीय स्टेच्युरी कमीशन	1930	जाति, धर्म, आर्थिक हित, भौगोलिक एकरूपता, गावो शहरों में साम्य की स्थिति इत्यादि को राज्य के गठन का आधार माना है (किसी भी एक मुद्दे को न मानकर अनेक मुद्दों को गठन का आधार माना) लेकिन गठन के फलस्वरूप प्रभावित क्षेत्रो की आपसी सहमति को गठन हेतु आवश्यक माना। भाषायी आधार को सशर्त स्वीकृति दी।
ओडोनील आयोग	1931	भारतीय स्टेच्युरी आयोग की सिफारिशों का समर्थन किया।
भारतीय संवैधानिक सुधार संयुक्त समिति	1936	साम्प्रदायिक आधार पर सिन्धु प्रान्त के गठन की अनुशंसा की थी और उसी को स्वीकार कर सिन्धु प्रान्त का साम्प्रदायिक आधार पर गठन भी किया गया।
डार आयोग	1948	इसने तात्कालिक परिस्थितियों में भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का विरोध किया एवं प्रशासनिक सुविधा, इतिहास एवं भौगोलिक, सांस्कृतिक तथां आर्थिक आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की वकालत की।

जे0वी0पी0आयोग (जवाहर लाल नेहरू, बल्लभ भाई पटेल, पट्टाभि सीतारमैय्या)	1948	प्रभावित जनता की आपसी सहमति, आर्थिक, वित्तीय एवं प्रशासनिक व्यवहार्यता पर जोर दिया एवं इन सबकों ध्यान में रखते हुए भाषा को आधार बनाये जाने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया। भाषा के आधार पर बने आन्ध्र प्रदेश का गठन इस रिपोर्ट के बाद ही 1953 में हुआ।
फजल अली आयोग (राज्य पुनर्गठन आयोग) अन्य सदस्य–के0एम0पणिक्कर एवं ह्रदय नाथ कुंजरू	1955	राष्ट्रीय एकता, प्रशासनिक, आर्थिक, वित्तीय व्यवहार्यता एव आर्थिक विकास, अल्पसख्यक हितो की रक्षा को पुनर्गठन का आधार माना। सरकार ने इस आयोग की अनुशंसाओं को कुछ संशोधनो के साथ स्वीकार किया एवं इसी अनुशंसा के आधार पर राज्य पुनर्गठन अधिनियम 1956 पारित किया।

परशिष्ट ''ग''
राज्यों के पुनर्गठन की संवैधानिक प्रक्रिया

भारतीय संविधान के उपबन्धों के अधीन रहतें हुये संसद विधि द्वारा नये राज्यों का गठन, क्षेत्र परिवर्तन आदि के लिये प्राधिकृत है। संविधान के अनु0–2 एवं 3 राज्यों के पुनर्गठन से सम्बन्धित संसद के अधिकार सम्बन्धी विनियमों से व्यवहृत होते हैं। अनुच्छेद–2 के अनुसार– संसद, विधि द्वारा, ऐसे निबन्धनो और शर्तों पर, जो वह वह ठीक समझे, संघ में नये राज्य का प्रवेश या उनकी स्थापना कर सकेंगी। इस प्रकार अनुच्छेद–2 के अधीन संसद को दो प्रकार की शक्तियां प्राप्त है।

1. नये राज्यों को संघ मे शामिल करने की शक्ति एवं
2 नये राज्यों को स्थापित करने की शक्ति।

पहले का सम्बन्ध उन राज्यों से है जो पहले से स्थापित या विद्यमान है। जबकि दूसरे का सम्बन्ध उन राज्यो से है भविष्य मे स्थापित या अर्जित किये जा सकते हैं। किसी नये राज्य की स्थापना अथवा वर्तमान राज्य अथवा राज्यो की सीमाओं मे परिवर्तन अनुच्छेद–3 में निर्दिष्ट सीमाओ के अधीन होगा। अनुच्छेद–3 के अनुसार ससद विधि द्वारा–

(क) किसी राज्य से उसका राज्य क्षेत्र अलग करके अथवा दो या दो से अधिक राज्यो को या राज्यो के भागो को मिलाकर अथवा किसी राज्य क्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नये राज्य का निर्माण कर सकेगी ,

(ख) किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा सकेगी ;

(ग) किसी राज्य का क्षेत्र कम कर सकेगी ;

(घ) किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी ;

(ड.) किसी राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकेगी।

परन्तु इस प्रयोजन के लिये कोई विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना और जहां विधेयक में अर्न्तविष्ट प्रस्तावना का प्रभाव राज्यो में से किसी के क्षेत्र, सीमाओं पर या नाम पर पड़ता है। वहां जब तक उस राज्य के विधान मण्डल द्वारा उस पर अपने विचार, ऐसी अवधि के भीतर जो निर्देश में विनिर्दिष्ट की जाय या ऐसी अतिरिक्त अवधि के भीतर जो राष्ट्रपति द्वारा अनुज्ञात की जाय, प्रकट किये जाने के लिये वह विधेयक राष्ट्रपति द्वारा उसे निर्देशित नहीं कर दिया गया है और इस प्रकार विनिर्दिष्ट या अनुज्ञात अवधि समाप्त नहीं हो गयी है; संसद के किसी सदन में पुनः स्थापित नहीं किया जायेगा।

यद्यपि, उक्त विधेयक पर सम्बन्धित राज्य के विधानमण्डल की स्वीकृति आवश्यक है। परन्तु उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति से संसद बाध्य नहीं है। जिसका आशय है कि संसद की इच्छा सर्वोपरि है और राज्य संसद की इच्छा का विरोध नहीं कर सकते। संसद इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्यों का निर्माण, उनका पुनर्गठन तथा उनकी सीमाओं में परिवर्तन साधारण बहुमत द्वारा करती है

और इस क्रम में पारित की गयी कोई भी विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिये संविधान का संशोधन नहीं मानी जायेगी।

राज्यों के क्षेत्र सीमा तथा निर्माण के सम्बन्ध में संसद को दी गयी शक्ति से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संविधान राज्यो के क्षेत्र की अपरिवर्तनशीलता की गारन्टी नहीं देता जैसा कि सं0रा0 अमेरिका में है। भारतीय सघ में शामिल किये गये राज्य उस अर्थ में प्रभुता सम्पन्न नहीं है जिस अर्थ में अमेरिकी राज्य भारतीय संविधान के संघीय लक्षणों के विपरीत यह असंघीय व्यवस्था है। जिसे संविधान निर्माताओं ने अपनाया। यह नमनशील व्यवस्था ही भारतीय संविधान की अनुपम विशेषता है, जो अन्य देशों के संविधान में नहीं प्राप्त होती।

परशिष्ट "घ"
राज्यों के पुनर्गठन हेतु बनाये गये अधिनियम

1. असम सीमा परिवर्तन अधिनियम 1951 के द्वारा असम की सीमा मे परिवर्तन किया गया तथा कुछ क्षेत्र भूटान को दिया गया।
2. आन्ध्र राज्य अधिनियम, 1953 द्वारा मद्रास राज्य के कुछ क्षेत्र को मिलाकर आन्ध्र प्रदेश का गठन किया गया।
3. हिमांचल प्रदेश और विलासपुर (नया राज्य) अधिनियम, 1954 द्वारा दोनो राज्यों को मिलाकर हिमाचल प्रदेश का गठन किया गया।
4. बिहार एवं पश्चिम बंगाल राज्य क्षेत्र अतंरण अधिनियम 1956 द्वारा बिहार के कुछ क्षेत्र पश्चिम बंगाल को अभ्यर्पित किये गये।
5. राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 द्वारा मध्य भारत, पेप्सू, सौराष्ट्र, ट्रावनकोर– कोचीन, अजमेर, भोपाल कोडागू, कच्छ और विन्ध्य प्रदेश की रियासतो को उनसे लगे हुये राज्यो मे विलय कर दिया गया। साथ में केरल नामक नये राज्य का गठन किया गया।
6. राजस्थान एवं मध्य प्रदेश (राज्य क्षेत्र अन्तरण) अधिनियम, 1956 द्वारा राजस्थान के कुछ क्षेत्र मध्य प्रदेश को अभ्यर्पित किये गये।
7. आन्ध्र प्रदेश और मद्रास (सीमा परिवर्तन) अधिनियम, 1959 द्वारा दोनो राज्यों की सीमाओं मे परिवर्तन किया गया।
8. बम्बई पुनर्गठन अधिनियम, 1960 द्वारा बम्बई राज्य को विभाजित कर महाराष्ट्र एवं गुजरात का गठन किया गया।
9. अर्जित राज्य क्षेत्र (विलयन) अधिनियम 1960 द्वारा भारत और पाकिस्तान के मध्य हुयी संधि का कार्यन्वयन किया गया तथा पश्चिम बंगाल एवं असम के कुछ क्षेत्र पाकिस्तान को अभ्यर्पित किये गये। इसके कार्यान्वियन के लिये संविधान में नवाँ संशोधन किया गया क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 2 एवं 3 के अन्तर्गत संसद को किसी विदेशी राज्य को भारतीय राज्य क्षेत्र अभ्यर्पित करने का अधिकार नहीं प्राप्त है।
10. नागालैण्ड राज्य अधिनियम, 1962 द्वारा असम राज्य के अधीन स्थित नागा पहाड़ी एवं ल्युएनसांग क्षेत्र को मिलाकर नागालैण्ड़ का गठन किया गया।
11. पंजाब पुनर्गठन अधिनियम 1966 के द्वारा पूर्ववर्ती पंजाब राज्य को विभाजित कर पंजाब और हरियाणा बनाया गया।
12. आन्ध्र प्रदेश और मैसूर (राज्य क्षेत्र अन्तरण) अधिनियम द्वारा राज्य क्षेत्र का अन्तरण किया गया।

13. बिहार एवं उत्तर प्रदेश (सीमा परिवर्तन) अधिनियम, 1968।
14. असम पुनर्गठन (मेघालय) अधिनियम, 1969 द्वारा असम राज्य क्षेत्र में मेघालय नामक स्वशासी उप राज्य बनाया गया ।
15. हिमाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1970 द्वारा हिमांचल प्रदेश (संघ राज्य) को राज्य का स्तर प्रदान किया गया।
16. पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुनर्गठन) अधिनियम, 1971 द्वारा मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय को राज्य का स्तर प्रदान किया गया तथा मिजोरम और अरूणाचल प्रदेश को संघ राज्य क्षेत्र बनाया गया।
17 35 वे सविधान सशोधन अधिनियम द्वारा (1975) सिक्किम को सहयुक्त राज्य का दर्जा दिया गया।
18. 36 वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा (1975) द्वारा सिक्किम को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया।
19. हरियाणा, उत्तर प्रदेश सीमा परिवर्तन अधिनियम, 1979।
20. मिजोरम राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा मिजोरम को राज्य बनाया गया।
21. अरूणाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1986 द्वारा अरूणाचल प्रदेश को राज्य बनाया गया।
22. गोवा दमन दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 द्वारा गोवा को दमन दीव से अलग करके नया राज्य बनाया गया।
23. 69 वे संशोधन 1991 द्वारा दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का दर्जा प्रदान किया गया।
24. मध्य प्रदेश पुनर्गठन विधेयक 2000 द्वारा छत्तीसगढ राज्य का गठन किया गया।
25. उत्तर प्रदेश पुनर्गठन विधेयक 2000 द्वारा उत्तराचंल राज्य का गठन किया गया।
26 बिहार पुनर्गठन विधेयक 2000 द्वारा वनांचल (झारखण्ड) राज्य का गठन किया गया।

परशिष्ट "ड."

भारत का राज्यक्षेत्र

(क) मूल संविधान में (1949 में) राज्य

संघ

भाग क राज्य	भाग ख राज्य	भाग ग राज्य	भाग घ राज्यक्षेत्र
1. असम	1. हैदराबाद	1 अजमेर	1. अंडमान और निकोबार द्वीप
2. बिहार	2. जम्मू–कश्मीर	2. भोपाल	2 अर्जित राज्यक्षेत्र (यदि कोई हो)
3. मुंबई	3. मध्य भारत	3 बिलासपुर	
4. मध्य प्रदेश	4. मैसूर	4. कूच–बिहार	
5. मद्रास	5. पटियाला और पूर्वी पंजाब	5 कोडगू	
6. उड़ीसा			
7. पंजाब			
8. संयुक्त प्रांत			
9. पश्चिमी बंगाल			

(ख) राज्य पुनर्गठन अधिनियम (नवम्बर 1956) के पूर्व भारत के राज्य–

संघ

भाग क राज्य	भाग ख राज्य	भाग ग राज्य	भाग घ राज्यक्षेत्र
1. आन्ध्र प्रदेश	1. हैदराबाद	1. अजमेर	1. अंडमान और निकोबार द्वीप
2. असम	2. जम्मू–कश्मीर	2. भोपाल	2. अर्जित राज्यक्षेत्र करायकल,माहे, और यनाम सहित (पाण्डिचेरी की फ्रांसीसी बस्ती)
3. बिहार	3. मध्य भारत	3. बिलासपुर	
4. मुंबई	4. मैसूर	4. कुर्ग	
5. मध्य प्रदेश	5. पेप्सू	5. दिल्ली	
6. मद्रास	6. राजस्थान	6. हिमांचल प्रदेश	
7. उड़ीसा	7. सौराष्ट्र	7. कच्छ	
8. पंजाब	8. ट्रावनकोर–कोचीन	8. मणिपुर	
9. उ0प्र0		9. त्रिपुरा	
10. पश्चिमी बंगाल		10. विन्ध्य प्रदेश	

(ग) राज्य पुनर्गठन अधिनियम (नवम्बर 1956) के अन्तर्गत गठित राज्य–

संघ

राज्य	संघ राज्य क्षेत्र	अन्य राज्यक्षेत्र जो अर्जित किये जाएं
1. आन्ध्र प्रदेश	1. दिल्ली	1. करायकल,माहे, और यनाम सहित (पाण्डिचेरी की फ्रांसीसी बस्ती)
2. असम	2. मणिपुर	
3. मुंबई	3. त्रिपुरा	
4. बिहार	4. हिमाचल प्रदेश	
5. जम्मू कश्मीर	5 अंडमान निकोबार द्वीप समूह	
6. केरल	6. लक्षद्वीप, मिनिकाय एव अमीनीदीव	
7. मध्य प्रदेश		
8. मद्रास		
9. मैसूर		
10. उड़ीसा		
11. उत्तर प्रदेश		
12. पंजाब		
13. राजस्थान		
14. पश्चिम बंगाल		

(घ) वर्तमान में भारत के राज्य एवं संघ शासित क्षेत्र–

1. आन्ध्र प्रदेश
2. असम
3. बिहार
4. गुजरात
5. केरल
6. मध्य प्रदेश
7. तमिलनाडू
8. महाराष्ट्र
9. कर्नाटक
10. उडीसा
11. पंजाब
12. राजस्थान
13. उत्तर प्रदेश
14. पश्चिम बंगाल
15. जम्मू–कश्मीर
16. नागालैण्ड
17. हरियाणा
18. हिमाचल प्रदेश
19. मणिपुर
20. त्रिपुरा
21. मेघालय
22. सिक्किम[1]
23. मिजोरम
24. अरूणाचल प्रदेश
25. गोवा
26. छत्तीसगढ़
27. उत्तरांचल
28. झारखण्ड

1. दिल्ली
2. अंडमान निकोबार द्वीप समूह
3. लक्षद्वीप
4. दादरा और नागर हवेली
5. दमण और दीव
6. पाण्डिचेरी[2]
7. चण्डीगढ़

---

1. सिक्किम स्वतन्त्रता से लेकर 28.02.1975 तक चोग्याल शासकों के अधीन भारत द्वारा आरक्षित राज्य था। संविधान (35वाँ संशोधन) अधिनियम 1975 द्वारा सिक्किम को संयुक्त राज्य (01.03.1975 से 25.04.1975तक) का दर्जा दिया गया और संविधान (36वॉ संशोधन) अधिनियम 1975 द्वारा 26 अप्रैल 1975 से सिक्किम को संघ में 22वें राज्य के रूप मे सम्मिलित किया गया।

2 पाण्डिचेरी की फ्रांसीसी बस्ती (करायल, माहे और यनाम सहित) जिसे 1954 में फ्रांसीसी सरकार ने अध्यर्पित किया था, 1962 तक ''अर्जित राज्य क्षेत्र'' के रूप में प्रशासित किया जा रहा था कयोंकि अध्यर्पण की संधि को फ्रांसीसी संसद ने अनुमोदित नहीं किया था। अनुमोदन के पश्चात् फ्रांसीसी बस्तियों का यह राज्य क्षेत्र संविधान (14वॉ संशोधन) अधिनियम 1962 द्वारा 28 दिसम्बर 1962 में संघ राज्य क्षेत्र बन गया।

परशिष्ट "च"

उत्तरदाता का सामान्य विवरण

नाम–

(कृपया सही का निशान लगायें)

जाति–अनु0जाति / अनु0जनजाति / अन्य पिछड़ा वर्ग / सामान्य

धर्म– हिन्दू / मुस्लिम / सिक्ख / अन्य

परिवेश– शहरी / ग्रामीण

आयु वर्ग– 18–40 / 40–60 / 60 से अधिक

शैक्षिक स्तर– मैट्रिक / अण्डर ग्रेजुएट / पोस्ट ग्रेजुएट

आर्थिक स्थिति– निम्न एवं निम्न–मध्यम आय वर्ग / मध्यम आय वर्ग / मध्यम–उच्च एवं उच्च आय वर्ग

साक्षात्कार अनुसूची

1. क्षेत्रीय स्वायत्तता की भावना को पृथक राज्य की मांग मे तब्दील करने की दृष्टि से किसका योगदान रहा है?
   - A. पुरानी राज्य क्षेत्रीय सीमा के प्रति निष्ठा– हाँ / नहीं
   - B. विभेदकारी आर्थिक नीतियों का अनुपालन– हाँ / नहीं
   - C. क्षेत्रीय दलों का अभ्युदय एवं उनके द्वारा सत्ता प्राप्ति हेतु क्षेत्रीय भावना को उभारना – हाँ / नहीं
2. आपके मत में पृथक राज्य आन्दोलन की मांग के पीछे कौन–कौन से प्रमुख कारण सहायक रहे हैं?
   - A. राजनीतिक लाभ की पूर्ति हेतु धर्म का प्रयोग– हॉ / नहीं
   - B. जातीय पहचान– हाँ / नहीं
   - C. भाषावाद का प्रभाव– हाँ / नहीं
   - D. आर्थिक विषमता (तिरस्कार) एवं पिछड़ापन– हाँ / नहीं
   - E. क्षेत्र की सार्वभौमिकता या क्षेत्रीय पहचान– हाँ / नहीं
   - F. ऐतिहासिक एवं सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि– हाँ / नहीं
   - G. रोजगार और शैक्षणिक अवसरों तथा सम्भावनाओं को हथियाने के लिये भूमिपुत्र सिद्धान्त का प्रयोग– हाँ / नहीं
3. क्या और प्रान्तों (राज्यों) की स्थापना राष्ट्रीय एकता के दृष्टिकोण से उचित है? हाँ / नहीं
4. लगातार नयें राज्यों का बनना और नयें राज्यों के निर्माण की मांग होना क्या प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग की असफलता को प्रदर्शित करता है? हाँ / नहीं
5. यदि हॉ तो इसके प्रमुख कारण थे–
   - A. क्षेत्रीय विषमता से प्रभावित समूहों का असन्तोष– हॉ / नहीं
   - B. गठित राज्यों में आन्तरिक एकरसता का अभाव– हॉ / नहीं
   - C. उपभाषा (बोली) का प्रभाव और राज्यों के आकार में गहरी असमानता– हॉ / नहीं
   - D. उन आयामों को पहचाननें में नाकामी जिनके कारण अलग–अलग क्षेत्रीय आन्दोलन पैदा हुयें। हॉ / नहीं

6. देश में चल रहे पृथक राज्यों की मांग की औचित्यता को परखने के लिये क्या एक और राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन किया जाना चाहिये? हाँ/नहीं
7. यदि हॉ तो आपके मत में नये राज्यों के पुनर्गठन का आधार क्या–क्या होना चाहियें?
   A. आर्थिक संक्षमता– हॉ/नहीं
   B. प्रशासनिक कार्यकुशलता– हाँ/नहीं
   C. उचित समरूप जनसंख्या– हाँ/नहीं
   D. उचित समरूप क्षेत्रफल– हॉ/नहीं
   E. सामाजिक–सांस्कृतिक भिन्नता– हाँ/नहीं
   F. भौगोलिक अवस्थिति– हाँ/नहीं
   G. भाषायी आधार हाँ/नहीं
   H. जातीय आधार हाँ/नहीं
   I. धार्मिक आधार हाँ/नहीं
8. प्रशासनिक कार्यकुशलता की दृष्टि से किसी राज्य के निर्माण का आधार यदि जनसंख्या को बनाया जाता है तो किसी राज्य की जनसंख्या होनी चाहिये (वर्ष 2001की जनगणनानुसार)
   A. तीन करोड़ से अधिक नहीं,
   B. पॉच करोड़ से अधिक नहीं
   C. दस करोड़ से अधिक नहीं,
   D. कितनी भी
9. प्रशासनिक कार्यकुशलता की दृष्टि से किसी राज्य के निर्माण का आधार यदि क्षेत्रफल को बनाया जाता है तो किसी राज्य का क्षेत्रफल होना चाहिये–
   A. 98600 वर्ग किमी0 या देश के क्षेत्रफल के 3% से अधिक नहीं,
   B. 164400 वर्ग किमी0 या देश के क्षेत्रफल का 5% से अधिक नहीं
   C. 328700 वर्ग किमी0 या देश के क्षेत्रफल के 10% से अधिक नहीं
   D. कितना भी।
10. नये राज्यों की स्थापना से पड़ने वाले प्रशासनिक और वित्तीय बोझ की प्रतिपूर्ति हेतु क्या निम्न दीर्घगामी सुधार कार्यक्रम लागू किये जाने चाहिये–
    A. राज्यपाल का पद जो कि अलंकृत पदमात्र है की नियुक्ति प्रत्येक राज्य में करने के स्थान पर उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी और मध्य भारत की क्षेत्रीय परिषदें गठित कर उसका संवैधानिक प्रमुख राज्यपाल को बनाया जाना चाहियें जो राज्यपाल के वर्तमान कर्तव्यों का निर्वहन करें। हाँ/नहीं
    B. विधान परिषद जैसी सस्थाओं को समाप्त किया जाना चाहियें। हॉ/नहीं
    C. मन्त्रिमण्डल का आकार छोटा रखने हेतु संवैधानिक प्रावधान किया जाना चाहिये। हाँ/नहीं
11. राज्य की योजनाओं और नौकरियों में वहाँ के स्थानीय नागरिकों को आरक्षण देने के सन्दर्भ में आपका क्या मत हैं?
    A. जनसंख्या के समानुपात में आरक्षण दिया जाना चाहिये।
    B. जनसंख्या के समानुपात से अधिक आरक्षण दिया जाना चाहिये।
    C. जनसंख्या के समानुपात से कम आरक्षण दिया जाना चाहिये।
    D. आरक्षण नहीं दिया जाना चाहियें।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

सरकारी प्रकाशन एवं रिपोर्ट–

1. *भारत 2002*, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग भारत सरकार।
2. *डिबेट्स, कान्स्टीट्यूशन असेम्बली ऑफ इण्डिया (1946–1949)*, नई दिल्ली, भारत सरकार।
3. *गजेटियर ऑफ इण्डिया (1973)*, खण्ड–द्वितीय।
4. *इंडियन एनुअल रजिस्टर (1926)*, कलकत्ता, खण्ड–द्वितीय।
5. *कौशिक कमेटी रिपोर्ट (1994)*, लखनऊ, उ0प्र0 सरकार, प्रकाशन विभाग।
6. *लेटर्स टू चीफ मिनिस्टर्स, 1947–1964*, नई दिल्ली, भारत सरकार, खण्ड–1 ।
7. *लेटर्स टू चीफ मिनिस्टर्स, 1947–1964*, नई दिल्ली, भारत सरकार, खण्ड–2 ।
8. *पजाब विद्रोह पर श्वेत पत्र*, नई दिल्ली, भारत सरकार।
9. उत्तर प्रदेश शासन (1992), उत्तरांचल विकास विभाग, लखनऊ का अ0शा0प0सं0–409 बी0एस0पी0 / एच0डी0 / 92 दिनांक फरवरी 7 ।

पुस्तके–

1. अग्रवाल, जे0सी0 और एस0पी0अग्रवाल (1995), *उत्तराखण्ड : पास्ट; प्रेजेन्ट एण्ड फ्यूचर*, नई दिल्ली, कान्सेप्ट पब्लिसिंग कम्पनी।
2. अग्रवाल, आर0सी0 (2000), *भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन*, नई दिल्ली, एस0चन्द एण्ड कम्पनी।
3. अली, मुहम्मद (1944), *सिलेक्टेड राइटिंग्स स्पीचेज*, संपा० इकबाल अफजल, लाहौर।
4. अमोली, एन0पी0 संपा0 (1999), *स्मारिका–99*, चण्डीगढ़, उत्तराखण्ड युवा मंच।
5. अटल, योगेश (1981), *बिल्डिंग ए नेशन; एस्से आन इंडिया*, नई दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशन।
6. अटकिन्शन, एडविन टी० (1974), *कुमाऊ हिल्स : इट्स हिस्ट्री, ज्योग्राफी एण्ड एन्थ्रोपालॉजी विद रिफ्रेन्स टू गढ़वाल एण्ड नेपाल* (ऑफ प्रिन्ट फ्राम दि हिमालयन गजेटियर, खण्ड–2), देलही, कास्मो।
7. आजम, कौसर संपा0 (1998), *फेडरलिज्म एण्ड गुड गर्वनेन्स*, दिल्ली, साउथ एशिया।
8. बहुगुणा, मनीराम (1995), *गृह राज्य शासन की यादें*, टेहरी, कुसुमलता प्रकाशन।
9. बहुगुणा, राजा (1992), *उत्तराखण्ड आन्दोलन पर एक नजर*, नैनीताल, इण्डियन पीपुल्स फ्रण्ट।
10. बहुगुणा, शम्भु प्रसाद (1951), *विराट हृदय*, लखनऊ।
11. बसु, डी0डी0 (1973), *कमेन्ट्री ऑन दि कान्सटीट्यूसन ऑफ इण्डिया*, 6वॉ (सिल्वर जुबली) संस्करण, कलकत्ता, एस0सी0शेखर एण्ड सन्स।
12. बसु, डी0डी0 (1985), *कान्सटीट्यूनल आस्पेक्टस ऑफ सिक्ख सेपरटिज्म*, नई दिल्ली, प्रेन्टिस हाल ऑफ इण्डिया।
13. बसु, डी0डी0 (1994), *भारत का संविधान एक परिचय*, नई दिल्ली, प्रेन्टिस हाल ऑफ इण्डिया।

14. भट्ट, के0एन0 (1997), *उत्तराखण्ड :इकोलॉजी, इकोनॉमी एण्ड सोसायटी*, इलाहाबाद, होरीजन पब्लिसर्श।

15. भट्ट, एल०एस० (1982), *रीजनल इनइक्वल्टीज इन इण्डिया : एन इण्टर स्टेट एण्ड इन्टरा स्टेट एनालिसिस*, नई दिल्ली, एस०एस०आर०डी०।

16. भट्ट, त्रिलोक चन्द्र (2000), *उत्तराखण्ड आन्दोलन*, नई दिल्ली, तक्षशिला प्रकाशन।

17. विष्ट,नारायण सिंह (1981), *उत्तराखण्ड हिमालय की अर्थव्यवस्था*, टिहरी गढ़वाल, भागीरथी प्रकाशन गृह।

18. बोरा, आर0एस0 (1996), *हिमालयन माइग्रेशन . ए स्टडी ऑफ दि हिल रीजन ऑफ उत्तर प्रदेश*, दिल्ली, साझा पब्लिकेशन।

19. बोस, निर्मल कुमार (1967), *प्राब्लम्स ऑफ नेशनल इन्टीग्रेशन*, शिमला, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी।

20. ब्राज, पाऊल आर0 (1992), *द पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिन्स इंडिपेडेंस*, कैम्ब्रिज यूनिव0 प्रेस।

21. बुरकोटी, पदमेश संपा0 (1995), *उत्तराखण्ड आन्दोलन का दस्तावेज (1994–95)*, हिमालय धरोहर आन्दोलन केन्द्र।

22. चमौली, शिवानन्द (1995), *उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन : संघर्षपूर्ण चार महीने का दस्तावेज*, देहरादून।

23. चन्द्र, विपिन (1996), *आधुनिक भारत मे साम्प्रदायिकता*, दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय।

24. चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी (2002), *आजादी के बाद का भारत, 1947–2000*, दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय।

25. चातक, गोविन्द (1990), *भारतीय लोक संस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय*, नई दिल्ली, तक्षशिला प्रकाशन।

26. डबराल, शिवप्रसाद "चरन" (n.d.), *उत्तराखंड का राजनैतिक व सांस्कृतिक इतिहास*, खण्ड–1 से 12, डोगड्डा, वीरगाथा प्रकाशन।

27. दस्तूर, ए0के0 (1970), *दि पैटर्न ऑफ महाराष्ट्र पोलिटिक्स*, इकबाल नारायण (स0), 'स्टेट पोलिटिक्स इन इंडिया', मेरठ।

28. देसाई, ए0आर0 (1981), *सोशल बैंकग्राउन्ड ऑफ इंडियन नेशलिज्म*, बम्बई, पापुलर प्रकाशन।

29. ढौंढ़ियाल, नवीनचन्द्र, विजय ढौंढ़ियाल एवं संजीव कुमार शर्मा संपा0 (1993), *पृथक पर्वतीय राज्य*, खण्ड–प्रथम, अल्मोडा, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो।

30. डीमरी, आलोक ए0 (1997), *उत्तराखण्ड मूवमेन्ट एण्ड द इश्यूज ऑफ मोबलाइजेशन*, एम0फिल0 लघु शोध प्रबन्ध, अप्रकाशित, नई दिल्ली, जे0एन0यू0।

31. दीक्षित, प्रभा (1974), *कम्युनलिज्म, अ स्ट्रगल फॉर पावर*, नई दिल्ली।

32. दर्ज, जीन एवं अर्मत्य सेन संपा0 (1999), *इंडियन डेवलपमेन्ट · सेलेक्टेड रीजनल पर्सपेक्टिव,* दिल्ली, ऑक्स्फोर्ड।

33. ड्यूमा, लुई (1970), *रिलीजन , पॉलिटिक्स एण्ड हिस्टरी इन इंडिया,* इन हिज कलेक्टेड पेपर्स इन इण्डियन सोशियोलॉजी, पेरिस।

34. गड़कर, गजेन्द्र (1967), *ए प्ली टू कंसीडर प्राब्लम रेसनली डिसाइड़ वाइजली एण्ड हेसेन स्लोली,* कन्वोकेशन भाषड़, अक्टूबर, बडौदा एवं मीडियम ऑफ एजूकेशन, सितम्बर 14, बम्बई यूनिव0।

35. गिल, के0पी0एस0 (1997), *द नाइट ऑफ फाल्सहुड,* नई दिल्ली।

36. गोलवलकर, एम0एस0 (1980), *बंच ऑफ थॉट,* बंगलौर, जागरण प्रकाशन।

37. गुप्ता, एन0एल0 संपा0 (1965), *नेहरू आन कम्यूनलिज्म,* नई दिल्ली।

38. गुडल, मेरिल आर0 (1959), *"आर्गनाइजेशन ऑफ एड़मिनिस्ट्रेटिव लीडरशिप इन द फाइव ईयर प्लैन्स",* पार्क रिचर्ड एल0और ईरेन टिंकर द्वारा संपा0 *लीडरशिप एण्ड पोलिटिकल इंस्टीट्यूशन्स इन इंडिया,* प्रिस्टन यूनिव0 प्रेस।

39. हैन्सन, ए0एच0 (1966), *द प्रोसेस ऑफ प्लानिंग,* लंदन।

40. हार्डग्रेव, रार्बट एल0 (1965), *द द्रविडियन मूवमेन्ट,* बम्बई।

41. हेरीसन, सेलिंग एम0 (1960), *इंडिया दि मोस्ट डेंजरस डिकेट्स,* प्रिस्टन यूनिव0 प्रेस।

42. *आई0ई0एस0एस0 (1972),* डेविड, प्रथम सिलस (संपा0) नई दिल्ली, मेकमिलन।

44. जोन्स, मौरिस (1967), *गवर्नमेन्ट एण्ड पोलिटिक्स,* लंदन, हंचिसन एण्ड कं0।

45. जोन्स, डब्ल्यू0एच0मौरिस (1970), *भारतीय शासन एवं राजनीति,* दिल्ली, सुरजीत पब्लिकेशंस।

46. जोशी, महेश्वर पी0 (1990), *उत्तराचंल (कुमांऊ–गढ़वाल) हिमालया : एन एस्से इन हिस्टोरिकल एन्थ्रोपोलोजी,* अल्मोड़ा, श्री अल्मोडा बुक डिपो।

47. जोशी, महेश्वर पी०, एलन सी० फैन्जर & चार्ल्स डब्ल्यू० ब्राऊन संपा० (1990), *हिमालय : पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट,* अल्मोड़ा, श्री अल्मोडा बुक डिपो।

48. जोशी, पी0सी0 (1995), *उत्तराखण्ड : इश्यूज एण्ड चैलेन्ज,* नई दिल्ली, हर आनन्द पल्किेशन।

49. ज्यूरर्स, एडम प्रेजवस्की (1976), *द प्रोसेस ऑफ क्लास फोर्मेशन फ्राम कार्ल कौटस्कीज स्ट्रगल टू रिसैंट कांटोवर्सीज मीमियोग्राफी,* यूनिवर्सिटी ऑफ शिकांगों।

50. खडगवाल, एस०सी० (1993), *फिजिकों–कल्चरल इन्वायरमेन्ट एण्ड डवलपमेन्ट इन यू०पी० हिमालय,* कोटद्वारा नूतन पब्लिशर्स।

51. खान, रशीद्दुदीन (1970), *"सेल्फ व्यू ऑफ मिनॉरिटीज द मुसलिम्स इन इंडिया",* इंटरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली द्वारा आयोजित सेमिनार (मार्च–अप्रैल), *'मिनॉरिटीज इन नेशन बिल्डिंग'* में प्रस्तुत मीमियोग्राफ, नई दिल्ली।

52. खान, रशीदुद्दीन संपा0 (1997), *रेटिंग इण्डियन फेडरलिज्म,* शिमला, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवास्ड स्टडी।

53. खान, जियाद्दुदीन (1983), *नेशनल इन्टीग्रेशन इन इण्डिया–इश्यूज एण्ड डायमेन्शनस्*, नई दिल्ली, एशोसियेटेड पब्लिशिंग हाऊस।

54. केदूरी, एली (1985), *नेशनलिज्म*, लंदन, हंचिसन एण्ड कं0।

55. कीर, डी0 (1966), *वीर सावरकर*, बम्बई, पापुलर प्रकशन।

56 किशोर, सत्येन्द्र (1987), *नेशनल इंटिग्रेशन इन इण्डिया*, नई दिल्ली, स्टर्लिग पब्लि0।

57. कोठारी, रजनी (1970), *कास्ट इन इंडियन पोलिटिक्स*, नई दिल्ली, ओरियंट लाग्मैन लि0।

58. कोठारी, रजनी (1990), *भारत में राजनीति*, नई दिल्ली, ओरियट लॉग्मैन लि0।

59. कोश्यिारी, भगत सिंह (1988), *उत्तरांचल प्रदेश क्यों*, अल्मोड़ा, उत्तरांचल उत्थान परिषद।

60. कोश्यिारी, भगत सिंह (1993), *उत्तरांचल प्रदेश*, पिथौरागढ़, उत्तरांचल प्रकाशन।

61. कृष्णा, के0बी0 (1939), *द प्रॉब्लम ऑफ माईनॉरिटीज*, लंदन।

62. कुमार, प्रदीप (1996), *इंडियन फेडरलिज्म : इश्यूज एण्ड चैलेन्ज इन दि कान्टेक्सट ऑफ डिमाण्ड फॉर न्यू स्टेटस"*, आजम कौशर संपा० ।

63. कुमार, प्रदीप (2000), *द उत्तराखण्ड मूवमेन्ट :कान्सट्रक्शन ऑफ ए रीजनल आईडेन्टी*, नई दिल्ली, कनिष्क पब्लि0।

64. मजीद, ए0 (1984), *रीजनलिज्म डिवलेपमेन्टल टेंशन्स इन इंडिया*, नई दिल्ली कॉस्मो पब्लिकेशन।

65. माथुर, पी0सी0 (1990), *"रीजनलिज्म इन इडिया : एन एस्से इन डायमेंशन्लाइजेशन ऑफ स्टेट पोलिटिक्स इन इंडिया"*, वीरेन्द्र ग्रोवर संपा0, *सोशियोलिजिकल एस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन पोलिटिकल सिस्टम*, नई दिल्ली, दीप एवं दीप पब्लि0।

66. मेहरोत्रा, आर0सी0 एवं एम0एन0जोशी (1982), *एनवायरमेंटल डी ग्रेडेशन इन हिमालयन रीजन ड्यू टू एक्सप्लयोइटेशन ऑफ मिनरल्स*, नेशनल सेमिनार आन मिनरल्स एण्ड इकोलॉजी।

67. मेहता, जी0एस0 (1996), *उत्तराखण्ड प्रासपेक्ट्स ऑफ डवलेपमेन्ट*, नई दिल्ली, इन्ड्स पब्लिशिंग कम्पनी।

68. मेहता, टू ए0 और पटवर्धन ए0 (1942), *द कम्यूनल ट्रांयगल इन इंडिया*, इलाहाबाद।

69. नागमणि, एच० (1981), *नेशन बिल्डिंग एण्ड रीजनल डवलपमेन्ट*, जापान, यूनाइटेड नेशन सेन्टर फॉर रीजनल डवलपमेन्ट।

70. नारंग, ए0एस0 (1995), *एथनिक आइडेन्टीज एण्ड फेडरलिज्म*, शिमला, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी।

71. नायक, आर०जी० (1981), *रीजनल डिसपॉयरटीज इन इण्डिया*, नई दिल्ली, अगरिका पब्लिकेशन।

72. नायर, बलदेव राज (1966), *सिख सेपरेटिज्म इन पजाब, इन साउथ एशियन पालिटिक्स एण्ड रिलिजन*, डोनाल्ड़ इ स्मिथ द्वारा सम्पादित, प्रिस्टन यूनिव0 प्रेस।

73. नेहरू, जवाहर लाल (1962), *एन ऑटो बायोग्राफी,* नई दिल्ली।

74. नेहरू, जे0 (1972), *सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहर लाल नेहरू,* एस0गोपाल द्वारा संपादित, नई दिल्ली ओरियंट लाग्मैन लि0।

75. नौटियाल, आर०आर० & अन्नपूर्णा नौटियाल सपा० (1996), *उत्तराखण्ड इन तुरमाइल,* नई दिल्ली, एम०डी०पब्लिकेशन।

76. नौटियाल, शिवानन्द (1991), *गढवाल दर्शन,* लखनऊ।

77. नौटियाल, सुरेश संपा0 (1984), *उत्तराखण्ड : एक अध्ययन, आकलन और प्रस्ताव,* नई दिल्ली, अभिकथन पब्लिकेशन्स।

78. नेगी, धीरज सिंह संपा० (n.d.), *उत्तराखण्ड आन्दोलन,* देहरादून, गढवाल सभा।

79 नेगी, संतान सिह (1988), *मध्य हिमालय का राजनैतिक एव सांस्कृतिक इतिहास,* नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन।

80. नेगी, एस०एस० (1993), *कुमाऊँ : द लैण्ड एण्ड पीपुल,* और (1994), *गढ़वाल : द लैण्ड एण्ड पीपुल,* देलही, इंड्स पब्लिशिंग कम्पनी।

81 पाण्डे, बद्रीदत्त (1990), *कुमाऊँ का इतिहास,* अल्मोड़ा, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, प्रथम प्रकाशन 1937।

82. पांडे, जी0सी0 (1977), *उत्तराखण्ड की अर्थव्यवस्था,* नैनीताल, कंसल पब्लिकेशन।

83 पाठक, एच0जे0 (1983), *"वाटर रिसोर्स ऑफ द यू0पी0 हिमालय–दियर यूज एण्ड पोट्यन्शियल्स"* ओ0पी0 सिंह द्वारा सम्पादित, *हिमालय : नेचर मैन एण्ड कल्चर,* नई दिल्ली, राजेश पब्लिकेशन्स।

84. पाठक, एस0 (1987), *उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा,* नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन।

85. प्रकाश, इन्द्र (1938), *ए रिव्यू ऑफ दि हिस्टरी एण्ड वर्क ऑफ दि हिन्दू महासभा एण्ड हिन्दू संगठन मूवमेन्ट,* नई दिल्ली।

86. पतिराम, राय बहादुर (1992), *गढवाल : एन्सिएन्ट एण्ड मार्डन,* देलही, विन्टेज बुक।

87. रतूड़ी, हरिकृष्ण (1995), *गढ़वाल का इतिहास,* टेहरी, भागीरथी प्रकाशन, (प्रथम प्रकाशन 1928)।

88. रावत, अजय एस० (1983), *गढवाल हिमालय : ए हिस्टोरिकल सर्वे (1815–1947),* देलही, इस्टर्न बुक लिंकर्स।

89. रावत, शीला संपा0, *उत्तराखण्ड, दृष्टि, दशा और दिशा,* श्री नगर, गढवाल अलकनन्दा किनारे पब्लिकेशन।

90. राविन्सन, फ्रांसिस (1975), *सेपरेटिज्म अंमग इंडियन मुसलिम्स ; द पॉलिटिक्स आफ द यूनाइटेड़ प्रॉविन्सेज मुस्लिम, 1860–1923,* दिल्ली।

91. राय, हेमलता (1984), *रीजनल डिसपॉयरटीज एण्ड डेवलपमेन्ट इन इण्डिया,* नई दिल्ली, आशीष पब्लिकेशन।

92. राय, लाला लाजपत (1966), *राइटिंग एण्ड स्पीचेज,* खण्ड–2, संपा0 बी0सी0जोशी, दिल्ली।

93. राय, बी०के० (1985), *नेशनल इंटीग्रेशन सम अनसाल्वड इश्यूज,* बाम्बे, भारतीय विद्या भवन।

94. सईद, एस0एम0 (1998), *भारतीय राजनीतिक व्यवस्था,* लखनऊ, सुलभ प्रकाशन।

95. सरोलिया, शंकर (1987), *इंडियन पुलिस : इश्यूज एण्ड पर्सपेक्टिव,* जयपुर, गौरव पब्लिशर्स।

96 शाह, जी0आर0 (1996), *उत्तराखण्ड ::ए ब्लू प्रिन्ट फॉर डवलेपमेन्ट,* नई दिल्ली, कॉस्मो पब्लिकेशन।

97. शाह, शंकर लाल (1995), *पृथक उत्तराखण्ड राज्य का औचित्य .....,* अल्मोडा, श्री अल्मोड़ा बुक डिपों।

98. शकीर, मोईन (1970), *खिलाफत टू पार्टीशन,* नई दिल्ली।

99. सिंह, भजनसिंह (1986), *आर्यों का आदि निवास ; मध्य हिमालय,* टेहरी भागीरथी प्रकाशन।

100. सिंह, एल०आर० (1994), *नेशन बिल्डिंग एण्ड डवलपमेन्ट प्रॉसेज,* जयपुर, रावत पब्लिकेशन।

101. सिन्हा, ए0के0 एं आर0ए0के0 श्रीवास्तव (1979), *कुमाऊँ की खनिज सम्पदा : उपलब्धियाँ तथा सम्भावनायें,* सुरेश पंत द्वारा सम्पादित 'उत्तरीय', नई दिल्ली, कूर्माचल परिषद।

102. सिवाच, जे0आर0 (1990), *डायनामिक्स ऑफ इण्डियन गर्वनमेंट एण्ड पॉलिटिक्स।*

103. सिवाच, जे0आर0 (1992), *भारत की राजनीतिक व्यवस्था,* चण्डीगढ, हरियाणा साहित्य अकादमी।

104. सुकुमारन, अनूप (1996), *पॉलिटिक्स ऑफ दि उत्तराखण्ड मूवमेन्ट,* (एम0फिल0,लघु शोध प्रबन्ध, अप्रकाशित) नई दिल्ली, जे0एन0यू0।

105. थाम्पसन, ई0पी0 (1978), *द मेकिंग आँफ द इंग्लिस वर्किंग क्लास,* पेंग्विन बुक्स (पुर्नमुद्रित)।

106. थिस्क, जे0 (1990), *द बिल्डिंग ऑफ द कन्ट्रासाइड*, संपा0 एम0डब्ल्यू0 वारले, कैम्ब्रिज यूनिव0 प्रेस।

107. तिवारी, लल्लन (2000), *इश्यूज इन इंडियन पॉलिटिक्स,* नई दिल्ली, मित्तल पब्लिकेशन।

108. त्रिवेदी, वी0आर0 (1995), *आँटोनमी ऑफ उत्तराखण्ड,* नई दिल्ली, मोहित पब्लिकेशन।

109. वाघवा, कमलेश (1975), *माँइनरिटीज सेफ गार्डस इन इंडिया,* नई दिल्ली, थामसन प्रेस इंडिया।

110. वाल्दिया, के0 एस0 संपा0 (1996), *उत्तराखण्ड टूडे : उत्तराखण्ड आज,* अल्मोडा, श्री अल्मोडा बुक डिपो।

111. विद्यार्थी, एल०पी० & माखन झा संपा० (1986), *इकोलॉजी, इकोनॉमी एण्ड रिलीजन ऑफ हिमालयाज,* देलही, ओरियन्ट।

112. यादव, सोमनाथ संपा0 (2000), *छत्तीसगढ़ समग्र,* विलासपुर, बिलासा कला मंच प्रेस क्लब।

113. जैदी, एस०ए०एच० & रेहाना जैदी (1985), *गढ़वाल मुगल संबंध (1526–1707),* पौडी, हिमालया न्यूज एजेन्सी।

समाचार पत्र एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख–

1. आगा, जफर (1998), *"क्षेत्रीय नेताओं का बढ़ता दबदबा"*, दैनिक जागरण, अक्टूबर 12 ।
2. बका, पीयूष, संजय सिंह और कुमार हर्ष (1998), *"ठोस अनिवार्यताओं और तार्किक मागों से भरा एक भावुक आन्दोलन"* राष्ट्रीय सहारा, सितम्बर 26 ।
3. भारद्वाज, नरेन्द्र (1993), *"बोडो समझौता : शान्ति का सूर्योदय"* सिविल सर्विसेज क्रानिकल, जून।
4 भारद्वाज, नरेन्द्र (1996), *"पृथक राज्य आन्दोलन . निरन्तर उपेक्षा से उठता ज्वार"* सिविल सर्विसेज क्रानिकल, फरवरी।
5. भाम्भरी, सी०पी० (1997), *"इडियाज इण्टरनल हारमोनी"*, द हिन्दुस्तान टाइम्स, सितम्बर 14।
6. बिष्ट, पूरन (1998), *"तब प्रयोगशाला नही होगा उत्तराखण्ड"* नैनीताल समाचार, सितम्बर 1 ।
7. चन्दोला, हरीश (1994अ), *"उत्तराखण्ड विद वायलेन्स"* मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 8 ।
8. चन्दोला, हरीश (1994ब), *"व्हाई उत्तराखण्ड"* मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 15 ।
9. चन्दोला, हरीश (1994स), *"ए लैण्ड ऑफ फोर्टीफिक्शन"*, मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 22 ।
10. चन्दोला, हरीश (1995), *"व्हाट काइन्ड ऑफ उत्तराखण्ड"* मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 14 ।
11. चतुर्वेदी, राजीव (1998), *"छोटे प्रान्तों का बड़ा सवाल"* दैनिक जागरण, अक्टूबर 10 ।
12. डबराल, शिव प्रसाद (1995), *"जनता उत्तराखण्ड को केन्द्र शासित बनाने का विरोध न करें"* दैनिक जागरण, मार्च 24 ।
13. दत्ता, प्रभात (1995), *"अनस्टडी स्टेटस एण्ड स्माल थ्योरीज़"* द टेलीग्राफ, दिसम्बर 4 ।
14. द्विवेदी, अजीत कुमार, (2001), *"बादल खेल रहे हैं खतरनाक खेल"*, दैनिक जागरण, जुलाई 6।
15. द्विवेदी, अनिल कुमार (1996), *"पृथक राज्य आन्दोलन : उत्प्रेरक बना उत्तराखण्ड"*, सिविल सर्विसेज क्रानिकल, नवम्बर ।
16. दीक्षित, संजय (2001), *"न ढॉचा न विरासत– कोरे बयान है उत्तरांचल में"*, जागरण उदय, नवम्बर 6।
17. डोगरा, भरत (1994), *"उत्तराखण्ड : पवन्स इन एचेस गेम"*, इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, दिसम्बर 10।
18. डोनोवन, आर्थर जे0 (1967), *"सेफ्टोटिस्ट, टेडेंसीज इन ईर्स्टन इण्डिया"*, एशियन सर्वे, सातवॉ संस्करण, खण्ड 10, अक्टूबर ।
19. *"झारखण्ड : विकास की रणनीति"*, (2001), योजना, नवम्बर ।
20. जोशी, नवीन (1998), *"भावी उत्तरांचल राज्य"* नैनीताल समाचार, सितम्बर 15 ।
21. कामत, ए0आर0 (1964), *"नेशनल इंटीग्रेसन एण्ड सब नेशनल लॉयल्टीज"* मेनस्ट्रीम।
22. कश्यप, सुभाष (1999), *"नये राज्यों के गठन का सवाल"*, राष्ट्रीय सहारा।
23. कुमार, प्रदीप (1991अ), *"सब नेशनलिज्म इन इंडियन पोलिटिक्स : फार्मेशन ऑफ ए हरियाणवी आईडेन्टीफाई"*, इंडियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल सांइस, जनवरी–मार्च ।
24. कुमार, प्रदीप (1991ब), *"रीजनलिज्म एण्ड रीजनल पार्टीज इन द कॉटेक्स्ट् ऑफ स्टेट पोलिटिक्स"*, इंडियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल साइंस, अक्टूबर–दिसम्बर।

25. कुमार, प्रदीप (1992), *''सेकेण्ड राउण्ड ऑफ स्टेटस' रि आर्गनाइजेशन : इश्यूज एण्ड प्रॉब्लम्स''*, मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 31 ।
26. कुमार, प्रदीप, (1995अ), *''डिमान्ड फॉर उत्तराखण्ड :वाइडर डायमेशन''*, मेनस्ट्रीम, अगस्त 19।
27. कुमार, प्रदीप (1995ब), *'''जेनेसेज ऑफ उत्तराखण्ड क्राइसिस''*, मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 14।
28. कुमार, प्रदीप, (1996), *''डिमान्ड फॉर ए हिल स्टेट इन यू0पी0 : न्यू रियल्टीज''* मेनस्ट्रीम, जून 29।
29. कुमार, प्रदीप, (1999), *''शिफ्टिंग पोलिटिकल लायल्टीज इन उत्तराखण्ड''*, इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, अगस्त 21 एवं 28 ।
30. लाल, नन्द (1993), *''भारत में राष्ट्रीय एकीकरण : स्वरूप, समस्याएँ एवं सम्भावनाएँ''*, प्रतियोगिता दर्पण, जून ।
31. लाल, नन्द (1995अ), *''साम्प्रदायिकता, समाज और भारतीय राजनीति''*, प्रतियोगिता दर्पण, मार्च।
32. लाल, नन्द (1995ब), *''भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका''*, प्रतियोगिता दर्पण, जून ।
33 लाल, नन्द (1995स), *''भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद''*, प्रतियोगिता दर्पण, नवम्बर ।
34. लाल, नन्द (1996), *''भाषावाद और भारतीय राजनीति''*, प्रतियोगिता दर्पण, मार्च ।
35. मटियानी, शैलेश (2000), *''उत्तरांचल का स्वप्न''*, दैनिक जागरण, दिसम्बर 10 ।
36. मिश्र, अमरेश (1994), *''न्यू फोर्स इन उत्तराखण्ड''*, इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, नवम्बर 19 ।
37. मिश्र, चतुरानन (2000), *''बिहार विभाजन : अभिशाप या वरदान''*, दैनिक जागरण, अगस्त 24 ।
38. मोहन, सुरेन्द्र (2000), *''किस राह चलेंगे नए राज्य''*, दैनिक जागरण, अगस्त 14 ।
39. नाग, सजल (1993), *''मल्टीप्लीकेशन ऑफ नेशन्स ? पोलिटिकल इकोनॉमी ऑफ सब–नेशनलिज्म इन इंडिया''*, इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, नवम्बर 19 ।
40. नैयर, कुलदीप (2000), *''सत्ता के खेल में छेड़ा मधुमक्खियों का छत्ता''*, दैनिक जागरण, सितम्बर 13 ।
41. नारायन, इकबाल (1976), *''कल्चरल प्लूयरिज्म, नेशनल इन्टीग्रेशन एण्ड डेमोक्रेसी इन इण्डिया ''*, एशियन सर्वे, अक्टूबर।
42 *'नये राज्य, पुराना भूगोल–नयी राजनीति' (2000)*, विशेष परिशिष्ट (हस्तक्षेप) राष्ट्रीय सहारा, अगस्त 19 ।
43 पालीवाल, नारायण दत्त (1998अ), *''उत्तराखण्ड : सुखद घोषणा के दुखद पहलू''*, दैनिक जागरण, जुलाई 28 ।
44. पालीवाल, नारायण दत्त (1998ब), *''उत्तर प्रदेश के आँचल में उत्तराखण्ड''*, दैनिक जागरण, अक्टूबर 8 ।
45. पालीवाल, नारायण दत्त (2000), *''नई जिम्मेदारियों के द्वार पर उत्तरांचल''*, दैनिक जागरण, सितम्बर 29 ।
46. पाण्डे, बी0डी0 (1995), *''व्हाई उत्तराखण्ड''* मेनस्ट्रीम, फरवरी 18 ।

47. पाण्डे, मृणाल (1994), *"बिहाईन्ड ट्रैपिंग्स ऑफ सोशल जस्टिस"*, मेनस्ट्रीम, सितम्बर 24 ; *"स्टार्म इन द माउन्टेन्स"*, मेनस्ट्रीम, सितम्बर 17 ।

48. पाण्डे, मृणाल (1994), *"स्टार्म इन द माउन्टेन्स"*, मेनस्ट्रीम, सितम्बर 17 ।

49. पंकज, घनश्याम (1997), *"छोटे क्षेत्रीय दलों की बड़ी केन्द्रीय भूमिका"*, राष्ट्रीय सहारा, अप्रैल 20।

50. पंत, हरीश चन्द्र (2000), *"उत्तराखण्ड के विकास के आवश्यक तत्व"*, दैनिक जागरण, दिसम्बर 5 ।

51 पाठक, अविजित (1994), *"मीनिंग ऑफ उत्तराखण्ड : नीड टू गो बेयान्ड द पालिटिक्स ऑफ मॉडर्निटी"*, मेनस्ट्रीम, अक्टूबर 22 ।

52. पाठक, शेखर & रामचन्द्र गुहा (1996), *"राष्ट्रीय इतिहास में उत्तराखण्ड : स्थानीय इतिहास, जन इतिहास या राष्ट्रीय इतिहास"*, नैनीताल, पहाड़।

53. पुरी, रक्षत (2000अ), *"नागालैण्ड में अलगाववाद के बीज"*, दैनिक जागरण, जुलाई 3 ।

54. पुरी, रक्षत (2000ब), *"राजनीति का मोहरा बनती क्षेत्रीय भाषायें"*, दैनिक जागरण, सितम्बर 16।

55. राजकिशोर (2000), *"तीन नयें राज्यों में आखिर नया क्या होगा ?"* अमर उजाला, अगस्त 22।

56. राय, अजीत (1994), *"उत्तराखण्ड एण्ड द लेफ्ट इर्रेलेवान्स"*, इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, अक्टूबर 1।

57. शाह, राजीव लोचन (1998), *"उत्तराखण्ड ... उत्तरांचल ... राजधानी ... मगर ?"* नैनीताल समाचार अप्रैल 15 ।

50. शुक्ल, भानुप्रताप (1998), *"राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से ही सम्भव है राष्ट्र निर्माण"*, दैनिक जागरण, मई 4 ।

51. शुक्ल, भानुप्रताप (2000), *"असम को अलग करने का षड़यन्त्र"*, दैनिक जागरण, अक्टूबर 16।

52. सिंह, महीप (2000), *"आवश्यकता नये राज्य पुनर्गठन आयोग की"*, दैनिक जागरण, नवम्बर 23।

53. थपलियाल, मोहन (1997), *"उत्तराखण्ड को एक खास लेंस से देखने की जरूरत"*, राष्ट्रीय सहारा, मई 13 ।

54. वर्मा, ए0के0 (1998), *"छोटे राज्यों की बड़ी संवेदनाएँ"*, दैनिक जागरण, अगस्त 14।

55. विष्ट, नारायण सिंह (1978), *"क्या पर्वतीय जिलों के लिये क्षेत्रीय नियोजन आवश्यक है"* हिमालय वर्ष–2, अंक–1 ।